सार्थवाह

[प्राचीन भारत की पथ-पद्धति]

डॉक्टर मोतीचन्द्र
डाइरेक्टर—प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम
बम्बई

१९५३
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

वक्तव्य

विहार-राज्य के शिक्षा-विभाग द्वारा संस्थापित और संरक्षित होने के कारण 'विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' एक सरकारी संस्था कही जाती है, पर वास्तव में यह एक शुद्ध साहित्यिक संस्था है—केवल सुव्यवस्थित रीति से संचालित होने के लिए ही इस पर सरकारी संरक्षण है। इसके सभी सदस्य विहार के प्रमुख साहित्य-सेवी और शिक्षा-शास्त्री हैं। उन्हीं लोगों के परामर्श के अनुसार इसका संचालन होता है। साहित्य-सेवियों के साथ इसका व्यवहार एक साहित्यिक संस्था के समान ही होता है। इसीलिए अपने दो-तीन वर्ष के अल्प जीवन में ही इसने हिन्दी-संसार के लब्धकीर्त्ति लेखकों का सहयोग प्राप्त किया है। इसके द्वारा जो ग्रंथ अव तक प्रकाशित हुए हैं और भविष्य में जो होनेवाले हैं, वे बहुलांश में हिन्दी-साहित्य के अभावों की पूर्ति करनेवाले हैं। ऐसे ग्रंथों को तैयार करने के लिए इस परिषद् के द्वारा विद्वान् लेखकों को पर्याप्त प्रोत्साहन और सुविधा दी जाती है। इसके द्वारा स्वतंत्र रूप से मौलिक और अनूदित ग्रंथ तो तैयार कराये ही जाते हैं, इसकी ज्ञान-विज्ञान-मर्मी भाषणमाला में विशिष्ट विषयों पर विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा जो भाषण कराये जाते हैं, वे भी क्रमशः ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कर दिये जाते हैं। यह ग्रंथ परिषद् की व्याख्यानमाला का पाँचवाँ भाषण है। यह भाषण सन् १९५२ ई० के मार्च महीने के अंतिम सप्ताह में हुआ था। इसके वक्ता-लेखक डॉक्टर मोतीचन्द्र जी स्वनामधन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के भ्रातुष्पौत्र हैं और इस समय बम्बई के 'प्रिन्स अफ् वेल्स म्यूजियम' के डाइरेक्टर हैं तथा हिन्दी-जगत में भारतीय पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं।

इस ग्रंथ की उत्तमता और उपयोगिता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भारतीय पुरातत्त्व के माननीय विद्वान डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी भूमिका में इस ग्रंथ की महत्ता सिद्ध कर दी है। इसमें ग्रंथकार ने जो चित्र दिये हैं, उनसे भी यह स्पष्ट होता है कि ग्रंथकार ने कितनी खोज और लगन से यह ग्रंथ तैयार किया है। इसमें जो दो बड़े मानचित्र दिये गये हैं, उन्हें भी ग्रंथकार ने ही अपनी देखरेख में तैयार कराया है। इन दोनों नक्शों की सहायता से ग्रंथगत विषय के समझने में काफी सहायता मिलेगी। इन मानचित्रों को प्रामाणिक बनाने में ग्रंथकार के मित्र और विहार-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग के निर्देशक श्री कृष्णदेव जी ने बहुत अधिक परिश्रम किया है। अतः भूमिका लिखकर ग्रंथ का महत्त्व प्रदर्शित करनेवाले डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और मानचित्रों को प्रामाणिक रूप में तैयार करके, ग्रंथ के विषय को सुबोध बनाने में सहायता करने के लिए, श्रीकृष्णदेव जी के प्रति परिषद् हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती है। आशा है, हिन्दी-पाठकों को इस ग्रंथ का विषय सर्वथा नवीन और अतीव रोचक प्रतीत होगा।

चैत्र संक्रान्ति, संवत् २०१०]

शिवपूजन सहाय
(परिषद्-मंत्री)

विषय-सूची

दो शब्द

करीब सात-आठ साल हुए मैंने बौद्ध और जैन-साहित्य का अध्ययन आरंभ किया था। इस अध्ययन का उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के उन सामाजिक पहलुओं की छानबीन की जिज्ञासा थी, जिनके बारे में संस्कृत-साहित्य प्रायः मौन है। मैंने अपने अध्ययन के क्रम में इस बात का अनुभव किया कि प्राचीन बौद्ध, जैन और कहानी-साहित्य में बहुत-से ऐसे अंश बच गये हैं, जिनसे प्राचीन भारतीय पथपद्धति व्यापार, सार्थ के संगठन तथा सार्थवाह की स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्राचीन कहानियाँ हमें बताती हैं कि अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी भारतीय सार्थ स्थल और जलमार्गों में बराबर चलते रहते थे, और यह उन्हीं सार्थों के अदम्य उत्साह का फल था कि भारतीय संस्कृति और धर्म का बृहत्तर भारत में प्रसार हुआ। इन कहानियों में ऐतिहासिकता ढूंढ़ना शायद ठीक नहीं होगा, पर इसमें संदेह नहीं कि कहानियों का आधार सार्थों और यात्रियों की वास्तविक अनुभूतियाँ थीं। अभाग्यवश भारतीय साहित्य में एरीथ्रियन समुद्र के पेरिप्लस के यात्रा विवरण अथवा टालमी के भूगोल की तरह कोई ग्रन्थ नहीं बच गया है, जिनके आधार पर हम ईसा की प्रारंभिक सदियों की मार्ग-पद्धति और व्यापार पर प्रकाश डाल सकें। फिर भी प्राचीन भारतीय साहित्य जैसे महानिद्देस और वसुदेव हिंडी में कुछ ऐसे अंश बच गये हैं, जिनसे पता लगता है कि भारतीयों को भी प्राचीन जल और स्थल-पथों का काफी पता था। इतना ही नहीं, बहुत से उद्धरणों से तरह-तरह के मार्गों, उनपर आनेवाली कठिनाइयों, जहाजों की बनावट, समुद्री हवाओं, आयात-निर्यात के मार्ग इत्यादि पर प्रकाश पड़ता है।

पथ-पद्धति और व्यापार का राजनीति से भी गहरा संबंध रहा है इसीलिए मैंने 'सार्थवाह' के साथ तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी यथाशक्ति खुलासा कर दिया है। राजनीतिक परिस्थितियों को सामने रखने से पथ-पद्धति और व्यापार के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए ईसा की प्रारंभिक सदियों में भारतीय व्यापार के विकास का कारण एक तरफ तो कनिष्क द्वारा एक विराट् साम्राज्य की, जो चीन की सीमा से लेकर प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत में फैला हुआ था, स्थापना थी, जिससे मध्य एशिया का मार्ग भारतीय व्यापारियों और मूर्त्तिस्थापकों के लिए खुल गया, और दूसरा कारण रोमन साम्राज्य की स्थापना थी जिसकी वजह से लाल सागर का रास्ता केवल अरबों की एकस्विता न होकर, सिकंदरिया के रहनेवाले यूनानी व्यापारियों और कुछ हद तक, भारतीय व्यापारियों के लिए भी खुल गया। इन्हीं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हम तत्कालीन भारतीय साहित्य में अभिलेखों तथा कला रोमन साम्राज्य के साथ भारत के बढ़ते हुए व्यापार

का आभास पाते हैं। अरिकमेडु, अंकोटा (बड़ोदा), ब्रह्मगिरि (कोल्हापुर), कापिशी (बेग्राम) और तक्षशिला के पुरातात्विक अन्वेषणों से भी भारत और रोम के व्यापारिक संबंध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पर रोम और कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद ही पथ पद्धति पर पुनः कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं और व्यापार ढीला पड़ गया। शक-सातवाहनों के युद्धों के तह में भी रोम के साथ फायदेमंद व्यापार एक मुख्य कारण था। दोनों ही भरोच के बंदरगाह पर अपना कब्जा रखना चाहते थे। सातवाहनों का उज्जैन और मथुरा के राजमार्ग पर कब्जा करने का प्रयत्न भी उत्तर भारत के व्यापार पर अधिकार रखने का द्योतक है। भड़ोच की लड़ाई-भिड़ाई की वजह से ही मालाबार में मुचिरी यानी क्रॅंगानोर के बंदरगाह की उन्नति हुई और रोमन जहाज मौसमी हवा के ज्ञान का लाभ लेकर सीधे वहाँ पहुँचने लगे। कुछ विद्वानों का मत है कि शक-सातवाहनों की कशमकश के फलस्वरूप ही भारतीय भूस्थापकों ने सुवर्ण भूमि की ओर अपने कदम बढ़ाये। राजेन्द्र चोल की सुवर्णभूमि की दिग्विजय में भी शायद व्यापार एक मुख्य कारण रहा हो।

प्राचीन साहित्य से हमें भारतीय मार्गों और उनपर चलनेवाले सार्थों के बारे में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चलता है। रास्तों पर अनेक प्राकृतिक कठिनाइयों का सामना तो करना ही पड़ता था, डाकुओं और जंगली जानवरों से भी उन्हें हमेशा भय बना रहता था। सार्थ की रक्षा का भार सार्थवाह पर होता था और वह बड़ी मुस्तैदी के साथ सार्थ के खाने पीने, ठहरने और रक्षा का प्रबंध करता था। समुद्रीयात्रा में तो खतरे और अधिक बढ़ जाते थे। तूफान, पानी में छिपी चट्टानों, जलजंतुओं और जल दस्युओं का बराबर डर बना रहता था। इतना ही नहीं, बहुधा विदेश में माल खरीदते समय ठग जाने का भी अवसर आता था। इन सब से बचने का एक मात्र उपाय निर्यामक और सार्थवाह की कार्यकुशलता थी। बौद्ध साहित्य से तो इस बात का पता चलता है कि प्राचीन भारत में निर्यामकसूत्र नाम का कोई ग्रन्थ था जिसमें जहाजरानी की सब बातें आ जाती थीं। इस ग्रन्थ का अध्ययन निर्यामक के लिए आवश्यक था। नाविकों की अपनी श्रेणियाँ होती थीं।

यातायात के साधन जैसे बैलगाड़ी, घोड़े, खच्चर, ऊँट, बैल, नाव, जहाज इत्यादि के बारे में भी प्राचीन साहित्य में कुछ विवरण मिलता है। जहाजरानी संबंधी बहुत से प्राचीन शब्द भी यदाकदा मिल जाते हैं। पर यातायात के साधनों का ठीक रूप प्रस्तुत करने के लिए भारतीय कला का आश्रय लेना आवश्यक है। अभाग्यवश प्राचीन कला में बैलगाड़ी, जहाज नाव इत्यादि के चित्रण कम ही हैं। सिरवाय, भरहुत, अमरावती और अजंटा और कुछ सातवाहन सिक्कों को छोड़ कर भारतीय नावों और जहाजों के चित्रण नहीं मिलते। भाग्यवश बाराबुदूर के अर्धचित्रों में जहाजों के चित्र पाये जाते हैं। वे भारतीय जहाजों की प्रतिकृतियाँ हैं अथवा हिंदएशिया के जहाजों की — यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, पर यह संभव है कि वे भारतीय जहाजों की प्रतिकृतियाँ हों। मैंने इस संबंध की सामग्री तेरहवें अध्याय में इकट्ठी कर दी है।

पुस्तक भौगोलिक नामों से जिसमें संस्कृत, पाली, प्राकृत, लातिनी, यूनानी, अरबी, चीनी इत्यादि नाम हैं, भरी पड़ी है जिसके फलस्वरूप कहीं-कहीं एक ही शब्द के भिन्न उच्चारण आ गये हैं, आशा है पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे। शुद्धि-पत्र भी बड़ा हो

गया है, इसका भी कारण पुस्तक में अपरिचित शब्दों की बहुतायत है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने बड़ी लगन के साथ छपाई की देखभाल की, नहीं तो पुस्तक में और भी अशुद्धियाँ रह जातीं।

अंत में मैं उन मित्रों का आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे परामर्श देकर अनुगृहीत किया। डा० वासुदेव शरण को तो मैं क्या धन्यवाद दूँ, उनकी छत्रछाया तो मेरे ऊपर बराबर बनी रहती है। श्री राम सूबेदार और श्री वाखणकर ने रेखा चित्रों और नकशों के बनाने में मेरी बड़ी सहायता की, अतएव मैं उनका आभारी हूँ। मेरी पत्नी श्रीमती शांतिदेवी ने घंटों बैठकर प्रेस-कापी तैयार करने में मेरा हाथ बटाया, उनको क्या धन्यवाद दूँ!

मोतीचन्द्र

भूमिका

'सार्थवाह' के रूप मे श्री मोतीचन्द्रजी ने मातृभाषा हिन्दी को अत्यन्त श्लाघनीय वस्तु भेंट की है। इस विषय का अध्ययन उनकी मौलिक कल्पना है। अङ्ग्रेजी अथवा अन्य किसी भाषा में भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित इस महत्वपूर्ण विषय पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। निस्संदेह मोतीचन्द्रजी की लिखी हुई पहली पुस्तक 'भारतीय वेशभूषा' और प्रस्तुत 'सार्थवाह' पुस्तक को पढ़ने के लिये ही यदि कोई हिन्दी सीखे तो भी उसका परिश्रम सफल होगा। पुस्तक का विषय है—प्राचीन भारतीय व्यापारी, उनकी यात्राएँ, क्रयविक्रय की वस्तुएँ, व्यापार के नियम, और पथ-पद्धति। इस सम्बन्ध की जो सामग्री वैदिक युग से लेकर ११वीं शती तक के भारतीय साहित्य (संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि में) यूनानी और रोमदेशीय भौगोलिक वृत्त, चीनी यात्रियों के वृत्तान्त, एवं भारतीय कला में उपलब्ध है, उसके अनेक बिखरे हुए परमाणुओं को जोड़कर लेखक ने सार्थवाह रूपी भव्य सुमेरु का निर्माण किया है जिसकी ऊँची चोटी पर भारतीय सांस्कृतिक ज्ञान का प्रखर सूर्य तपता हुआ दिखाई पड़ता है और उसकी प्रस्फुटित किरणों से सैकड़ों नए तथ्य प्रकाशित होकर पाठक के दृष्टिपथ में भर जाते हैं। भारतीय संस्कृति का जो सर्वांगीण इतिहास स्वयं देशवासियों द्वारा अगले पचास वर्षों में लिखा जायगा उसकी सच्ची आधार-शिला मोतीचन्द्रजी ने रख दी है। इस ग्रन्थ को पढ़कर समझ में आता है कि ऐतिहासिक सामग्री के रत्न कहाँ छिपे हैं, अनेक गुप्त-प्रकट खानों से उन्हें प्राप्त करने के लिये भारत के नवोदित ऐतिहासिक को कौन-सा सिद्धाञ्जन लगाना चाहिए, और उस चक्षुष्मत्ता से प्राप्त पुष्कल सामग्री को लेखन की क्षमता से किस प्रकार मूर्त रूप दिया जा सकता है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते पश्चिमी रत्नाकर और पूर्वी महोदधि के उसपार के देशों और द्वीपों के साथ भारत के सम्बन्धों के कितने ही चित्र सामने आने लगते हैं। दण्डी के दश कुमार चरित में ताम्रलिप्ति के पास आए हुए एक यूनानी पोत के नाविक-नायक (कप्तान) रामेषु का उल्लेख है। कौन जानता था कि यह 'रामेषु' सीरिया की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'सुन्दर ईसा' (राम = सुन्दर ; ईषु = ईसा)? ईसाई धर्म के प्रचार के कारण यह नाम उस समय यवन नाविकों में चल चुका था। गुप्तकाल में भारत की नौसेना के बेड़े कुशल क्षेम से थे। रत्नार्णवों की मेखला से युक्त भारतभूमि की रक्षा और विदेशी व्यापार दोनों में वे पटु थे। अतएव दण्डी ने लिखा है कि बहुत सी नावों से घिरे हुए 'मद्गु' नामक भारतीय पोत (मद्गु = झपट्टा मारनेवाला समुद्री पक्षी, अङ्ग्रेजी सी गल) ने यवन-पोत को घेर कर धावा बोल दिया (पृ० २३९-४०)।

'सार्थवाह' शब्द में स्वयं उसके अर्थ की व्याख्या है। अमरकोष के टीकाकार क्षीर स्वामी ने लिखा है—'जो पूँजी द्वारा व्यापार करनेवाले पान्थों का अगुआ हो वह सार्थवाह है' (सार्थान् सधनान् सरतो वा पान्थान् वहति सार्थवाहः, अमर ३।९।७८)। सार्थ का

अर्थ दिया है 'यात्रा करनेवाले पान्थों का समूह' (सार्थोऽध्वनसून्दम्, अमर २।६।४१)। वस्तुतः सार्थ का अभिप्राय था 'समान या सहयुक्त अर्थ (पूँजी) वाले' व्यापारी। जो बाहरी मंडियों के साथ व्यापार करने के लिये एक साथ टाँडा लादकर चलते थे, वे 'सार्थ' कहलाते थे। उनका नेता ज्येष्ठ व्यापारी सार्थवाह कहलाता था। उसका निकटतम अङ्गरेजी पर्याय 'कारवान-लीडर' है। हिन्दी का साथ शब्द सं० सार्थ से निकला है; किन्तु उसका वह प्राचीन पारिभाषिक अर्थ लुप्त हो चुका है। लेखक के अनुसार (पृ० २१) सिन्धी भाषा में 'साथ' शब्द का वह अर्थ सुरक्षित है। कोई एक उत्साही व्यापारी सार्थ बनाकर व्यापार के लिये उठता था। उसके साथ में और लोग भी सम्मिलित हो जाते थे जिसके निश्चित नियम थे। सार्थ का उठना व्यापारिक क्षेत्र की बड़ी घटना होती थी। धार्मिक तीर्थ यात्रा के लिये जैसे संघ निकलते थे और उनका नेता संघपति (संघवई, संघवी) होता था वैसे ही व्यापारिक क्षेत्र में सार्थवाह की स्थिति थी। भारतीय व्यापारिक जगत् में जो सोने की खेती हुई उसके फूले पुष्प चुननेवाले व्यक्ति सार्थवाह थे। बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान्, साहस के भंडार, व्यावहारिक सूझ-बूझ में पगे हुए, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखनेवाले, नई स्थिति का स्वागत करनेवाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष, यवन, शक, पह्लव, रोमक, ऋषिक, हूण, पक्थ्य आदि विदेशियों के साथ कंधा रगड़नेवाले, उनकी भाषा और रीति-नीति के पारखी—भारतीय सार्थवाह महोदधि के तटपर स्थित ताम्रलिप्ति से सीरिया की अन्ताखी नगरी (Antiochos) तक, यव द्वीप और कटाह द्वीप (जावा और केडा) से चोलमंडल के सामुद्रिक पत्तनों और पश्चिम में यवन बर्बर देशों तक के विशाल जल थल पर छा गए थे।

प्रस्तुत पुस्तक के तेरह अध्यायों में सार्थवाह और उनके व्यापार से सम्बन्धित बहुविध सामग्री क्रम वार सजाई हुई है। भारतीय व्यापार के दो सहस्र वर्षों का चलचित्र उसमें उपस्थित है। प्राचीन भारत की पथ-पद्धति (अ० १) में पहली बार ही व्यापार की धमनियों का इकट्ठा चित्र हमें मिलता है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में ही अपने लम्बे-चौड़े देश की इस विशेषता—जनायन पन्थों—पर ध्यान दिलाया गया है—

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्त पन्थानं जयेमानमित्र मतस्करम्,
यच्छिवं तेन नो मृड्। [अथर्व १२।१।४७]

यह मंत्र भारतीय सार्थवाह संघ की ललाटलिपि होने योग्य है इसमें इतनी बातें कही गई हैं—

(१) इस भूमि पर पन्थ या मार्गों की संख्या अनेक है;

(२) वे पन्थ जनायन अर्थात् मानवों के यातायात के प्रमुख साधन है;

(३) उन मार्गों पर रथों के वर्त्म या रास्ते बिछे हैं। (अर्वाचीन वाहनों से पूर्व रथों के वाहन सबसे अधिक शीघ्रगामी और आढ्य-योग्य थे)।

(४) माल ढोनेवाले शकटों (अनसः) के आवागमन के लिये (यातवे) भी वे ही प्रमुख साधन थे।

(५) इन मार्गों पर भले-बुरे सभी को समान रूप से चलने का अधिकार है।

(६) किन्तु इन पथों पर शत्रु और चो-डाकुओं का भय हटना आवश्यक है।

(७) जो सब प्रकार से सुरक्षित और कल्याणकारी पथ हैं, वे पृथिवी की प्रसन्नता के सूचक हैं।

भारत के महापथों के लिये ये आदर्श आज भी उतने ही पक्के हैं जितने पहले कभी थे। भारतवर्ष के सबसे महत्वपूर्ण यात्रा-मार्ग 'उत्तरी महापथ' का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेष ध्यान देने योग्य है। यह महापथ किसी समय कास्पियन समुद्र से चीन तक एवं बाल्हीक से पाटलिपुत्र-ताम्रलिप्ति तक सारे एशिया भूखंड की विराट् धमनी थी। पाणिनि (५०० ई० पू०) ने इसका तत्कालीन संस्कृत नाम 'उत्तरपथ' लिखा है (उत्तरपथेनाहृतं च, ५।१।७७)। इसे ही मेगस्थने ने 'नार्दर्न रूट' कहकर उसके विभिन्न भागों का परिचय दिया है। कौटिल्य का हैमवत पथ इसका ही बाल्हीक तक्षशिलावाला टुकड़ा था। इस टुकड़े का सांगोपांग इतिहास फ्रेंच विद्वान् श्री फूशे ने दो बड़ी जिल्दों में प्रकाशित किया है। हर्ष की बात है कि उस भौगोलिक सामग्री का भरपूर उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। पृ० ११ पर हारहूर की ठीक पहचान हर ह्वैती या अरगन्दाब (दक्खिनी अफ़ग़ानिस्तान) के इलाके से है। हेरात का प्राचीन ईरानी नाम हरइव (सं० सारव) था। नदी का नाम सरयू आधुनिक हरीरूद में सुरक्षित है। पृ० ११ पर परिसिन्धु का पुराना नाम पारेसिन्धु था जो महाभारत में आया है। इसी का हू-ब-हू अङ्गरेजी रूप ट्रांस-इंडस है। पाणिनि ने सिन्ध के उस पार की मशहूर घोड़ियों के लिये 'पारे-वडवा' (६।२।४२) नाम दिया है। भारतीय साहित्य से कई पथों का ब्योरा मोतीचंद्रजी ने ढूंढ निकाला है। इतिहास के लिये साहित्य के उपयोग का यह बड़ा उपादेय ढंग है। महाभारत के नलोपाख्यान में ग्वालियर के कोतवार प्रदेश (चम्बल-बेतवा के बीच) में खड़े होकर दक्खिन के रास्तों की ओर दृष्टि डालते हुए कहा गया है—एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम् (वनपर्व ५८।२)। और इसी प्रसंग में 'बहवः पन्थानः' का ब्योरा देते हुए विदर्भ मार्ग, दक्षिण कोसलमार्ग और दक्षिणापथ मार्ग इन तीन पथों के नाम दिये हैं। वस्तुतः आज तक रेल पथ ने ये ही मार्ग पकड़े हैं।

वैदिक साहित्य में सार्थवाह शब्द नहीं आता, किन्तु पणि नामक व्यापारी और वाणिज्य का वर्णन आता है। यह जानकर प्रसन्नता होती है कि पूंजी के अर्थ में प्रयुक्त हिन्दी शब्द 'राथ' 'ग्रथ' से निकला है जो वैदिक शब्द 'ग्रथिन्' 'पूँजी वाला' में प्रयुक्त है। वैदिक साहित्य में नौ सम्बन्धी शब्दों की बहुतायत से सामुद्रिक यातायात का भी संकेत मिलता है (वेद नावः समुद्रियः)। लगभग ५वीं शती ई० पू० के बौद्ध साहित्य से यात्राओं के विषय में बहुत तरह की जानकारी मिलने लगती है। यात्रा करनेवालों में व्यापारी वर्ग के अतिरिक्त साधु-संन्यासी, तीर्थयात्री, फेरीवाले, घोड़े के व्यापारी, खेल-तमाशेवाले, पढ़नेवाले छात्र एवं पढ़कर देश-दर्शन के लिये निकलनेवाले चरक नाम विद्वान् सभी तरह के लोग थे। पथों के निर्माण और सुरक्षा पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा था। फिर भी तरह-तरह के चोर डाकू मार्ग पर लगते थे जो पान्थघातक या परिपन्थिन् कहे जाते थे (पाणिनि सूत्र ४।४।३६ परिपन्थं च तिष्ठति)। पाणिनि सूत्र ५।२।८६ की टीका में एक प्राचीन वैदिक प्रार्थना उदाहरण के रूप में मिलती है—मा त्वा परिपन्थिनो विदन्, अर्थात् 'भगवान् करे कहीं तुम्हें रास्ते में बटमार लोग न मिलें'।

फिर भी सार्थ की रक्षा का कुल उत्तरदायित्व सार्थवाह पर ही रहता था और वे अपनी ओर से पहरेदारों की व्यवस्था रखते थे। जंगल में से गुजरते समय आटविकों के मुखिया भी कुछ देने पर रक्षा का भार संभालते थे जिस कारण वे 'अटवी पाल' कहे जाने लगे।

सार्थ की सहायता के लिये साज-सामान की पूरी व्यवस्था रहती थी। रेगिस्तानी यात्राओं को सकुशल पार करने का भी पक्का प्रबन्ध रहता था। मध्यदेश की तरफ से वक्षु या वन्नू को जानेवाला वण्णुपथ नामक मार्ग कड़े रेगिस्तान में से गुजरता था जो सिन्ध नदी के पूरब में थल नामक बालुका प्रदेश होना चाहिए (वण्णुपथ जातक सं० २)। इसी प्रकार द्वारवती (द्वारका) से एक रास्ता मारवाड़ के रेगिस्तान मरुकन्ध को पार करके प्राचीन सौवीर की राजधानी रोरुक (वर्तमान रोड़ी) से मिलता था और वहाँ से अगले पड़ाव पार करता हुआ कम्बोज (मध्य एशिया) तक चला जाता था, जहाँ आगे उसे तारिम या गोबी का रेगिस्तान 'ऐरावत वन्न' पार करना पड़ता था। रेगिस्तान की यात्रा में स्थलनिर्यामक नक्षत्रों की मदद से सार्थ का मार्ग-प्रदर्शन करते थे। इसी प्रकार के कुशल मार्ग-दर्शक समुद्र यात्रा में जलनिर्यामक कहलाते थे। शूर्पारक नामक समुद्री नगर में 'निर्यामक सूत्र' की नियमित शिक्षा का प्रबन्ध था। समुद्री यात्राओं के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में जितनी अधिक सामग्री मिलेगी उतनी पहले एक स्थान पर कभी संगृहीत नहीं हुई। समुद्र में एक साथ यात्रा करनेवाले सांयात्रिक कहलाते थे। महाजनक जातक में पोत भग्न होने पर समुद्र में हाथ पैर मारते हुए महाजनक ने देवी मणिमेखला से जो बात-चीत की वह भारतीय महानाविकों की वज्रमयी दृढ़ता की परिचायक है—

'यह, कौन है जो समुद्र के बीच, जहाँ कहीं किनारा नहीं दीखता, हाथ मार रहा है? किसका भरोसा करके तू इस प्रकार उद्यम कर रहा है?

'देवि मेरा विश्वास है कि जीवन में जब तक बने तब तक व्यायाम करना चाहिए। इसीलिए यद्यपि तीर नहीं दीखता पर मैं उद्यम कर रहा हूँ।

'इस अथाह गंभीर समुद्र में तेरा पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। तू तट तक पहुँचे बिना समाप्त हो जाएगा।

'देवि, ऐसा क्यों कहती हो? व्यायाम करता हुआ मर जाऊँ तो भी निन्दा से तो बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम करता है वह पीछे पछताता नहीं।

'किन्तु जिस काम के पार नहीं पहुँचा जा सकता, जिसका परिणाम नहीं दिखाई पड़ता, वहाँ व्यायाम करने का क्या नतीजा, जब मृत्यु का आना निश्चित हो।

'जो व्यक्ति यह सोचकर कि मैं पार न पाऊँगा, उद्यम छोड़ देता है, तो होनेवाली हानि में उसके दुर्बल प्राणों का ही दोष है। सफलता हो या न हो, मनुष्य अपने लक्ष्य के अनुसार लोक में कार्यों की योजना बनाते हैं और यत्न करते हैं। कर्म का फल निश्चित है, यह तो इसीसे प्रकट है कि मेरे और साथी डूब गए पर मैं अभी तक तैरता हुआ जीवित हूँ। जब तक मुझमें शक्ति है मैं व्यायाम करूँगा, जब तक मुझमें बल है समुद्र के पार पहुँचने का पुरुषार्थ अवश्य करूँगा।' [महाजनक जातक, भाग ६, सं० ५३९, पृ० ३१-३१] मणिमेखला देवी दक्षिण भारत की प्रसिद्ध देवी थी जो नाविकों की पूज्य और समुद्र-यात्रा की अधिष्ठात्री थी। कन्या कुमारी से लेकर कटाह द्वीप तक उसका प्रभाव था और कावेरी के मुहाने पर स्थित पुहार नामक तटनगर में उसका बड़ा मन्दिर था। ऐसे ही स्थल यात्रा में

चलनेवाले सार्थवाहों के अधिष्ठाता देवता माणिभद्र यक्ष थे। सारे उत्तर भारत में माणिभद्र की पूजा के लिये मन्दिर थे। मथुरा के परखम स्थान से मिली हुई महाकाय यक्ष मूर्ति माणिभद्र की ही है। लेकिन पवाया (प्राचीन पद्मावती, ग्वालियर) में माणिभद्र की पूजा का बड़ा केन्द्र था। उत्तर भारत में दक्खिन को जानेवाले सार्थ इसकी मान्यता मानते थे। वन पर्व के नलोपाख्यान में उल्लेख आता है कि एक बहुत बड़ा सार्थ लाभ कमाने के लिये चेदि जनपद को जाता हुआ (६१-१२९) वेत्रवती नदी पार करता है और दमयन्ती उसी का साथ पकड़कर चेदि पहुँच जाती है। उस सार्थ का नेता घने जंगल में पहुँचकर यक्षराट् मणिभद्र का स्मरण करता है (अस्यामस्मिन्वने कष्टे अमनुष्यनिषेविते। तथा नो यक्षराड मणिभद्रः प्रसीदतु। (वन० ६१।१२१)।

संयोग से वनपर्व अ० ६१-६२ में महासार्थ का बहुत ही अच्छा वर्णन उपलब्ध होता है। उस महासार्थ में हाथी, घोड़े, रथों की भीड़भाड़ थी (हस्त्यश्वरथ संकुलम्)। उसमें बैल, गधे ऊँट, और पैदलों की इतनी अधिक संख्या थी (गोखरोष्ट्राश्व बहुलपदाति जन-संकुलम्, ६२।६) कि चलता हुआ महासार्थ 'मनुष्यों का समुद्र' (जनार्णव, ६२।१२) सा जान पड़ता था। समृद्ध सार्थ मंडल (६२।१७) के सदस्य सार्थिक थे (६२।८)। उसमें मुख्यतः व्यापारी बनिये (वणिजः) थे लेकिन उनके साथ वेद पारग ब्राह्मण भी रहते थे (६२।१७)। सार्थ का नेता सार्थवाह कहा जाता था। (अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते। ६१।१२२)। सार्थ में बड़े बूढ़े, जवान, बच्चे सब आयु के पुरुष स्त्री रहते थे—

सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन। ६२।११७
यूनः स्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः। ६२।११८

कुछ लोग मनचले भी थे जो दमयन्ती के साथ ठठोली करने लगे लेकिन जो भले मानस थे उन्होंने दया करते हुए उससे सब हालचाल पूछा। यहीं यह भी कहा है कि सार्थ के आगे-आगे चलनेवाले मनुष्यों का एक जत्था रहता था। सम्भवतः यह टुकड़ी मार्ग की सफाई का महत्त्वपूर्ण कार्य करती थी। सार्थवाह न केवल सार्थ का नेता था, वरन् वह सार्थ के यात्रा-काल में अपने महासार्थ का प्रभु होता था (६१।१२१)। सायंकाल होने पर सार्थ की सवारियाँ थक जाती थीं (सुपरिश्रान्तवाहाः) और तब सार्थवाह की सम्मति से किसी अच्छे स्थान में पड़ाव (निवेश, ६२।४; बृहत्कल्प सूत्र भाष्य १०-६१ में भी सार्थ की बस्ती निवेश कही गयी है।) डाला जाता था। इस सार्थ ने क्या भूल की कि सरोवर का रास्ता छेककर पड़ाव डाल दिया। आधीरात के समय हाथियों का झुंड पानी पीने आया और उसने सोते हुए सार्थ को रौंद डाला। कुछ कुचल गए, कुछ डरकर भाग गए, सार्थ में हाहाकार मच गया। जो बच गए (हतशिष्टैः) उन्होंने फिर आगे की यात्रा शुरू की।' प्राचीन काल में महासार्थ का जो ठाट था उसका अच्छा चित्र महाभारत के इस वर्णन में बचा रह गया है।

सार्थवाहों और जल-थल के यात्रियों द्वारा भारतीय कहानी साहित्य का भी खूब विस्तार हुआ। समुद्र के सम्बन्ध में अनेक यक्ष, नाग, भूत-प्रेतों की और भाँति-भाँति के जलचर एवं दैवी आश्चर्यों की कहानियाँ नाविकों के मुँह से सुनी जाती थीं। लोग यात्रा में उनसे अपना समय काटते थे, अतएव उन कहानियों के अभिप्राय साहित्य में भी भर गए।

पृ० ६३ पर समुद्रवाणिज जातक (जा० ४६६) के एक विचित्र अवतरण की ओर विशेष ध्यान जाता है—'एक समय कुछ बढ़इयों ने लोगों से साज बनाने के लिये रकम उधार ली, पर समय पर वे साज न बना सके। ग्राहकों से तंग आकर उन्होंने विदेश में बस जाने की ठानी और एक बड़ा जहाज बनाकर उसपर सवार हो समुद्र की ओर चल पड़े। हवा के रुख से चलता हुआ उनका जहाज एक द्वीप में पहुँचा, जहाँ तरह-तरह के पेड़-पौधे, चावल, ईख, केले, आम, जामुन, कटहल, नारियल इत्यादि उग रहे थे। उनके आने के पहले ही एक टूटे जहाज का यात्री आनन्द से उस द्वीप में रह रहा था और खुशी की उमंग में गाता रहता था—वे दूसरे हैं जो बोते और हल चलाते हुए अपनी मिहनत के पसीने की कमाई खाते हैं। मेरे राज्य में उनकी जरूरत नहीं। भारत? नहीं, यह स्थान उससे अच्छा है।' यह वर्णन होमर कृत ओडिसी के उस द्वीप की याद दिलाता है जिसमें कामधाम न करनेवाले, केवल मधु चख कर जीवन बितानेवाले 'लोटस-ईटर्स (मधुवृत्ती) के द्वीप का चित्र खींचा गया है जहाँ के निवासियों ने ओडिसियस को भी उसी प्रकार का जीवन बिताने का निमंत्रण दिया था, किन्तु उस कर्मण्य वीर को वह जीवन क्रम नहीं रुचा। अवश्य ही इस जातक में उसी प्रकार का अभिप्राय उल्लिखित है।

लेखक ने उचित ही यह प्रश्न उठाया है कि सार्थ में सम्मिलित होनेवाले कई व्यापारियों में परस्पर साझा और कोई 'समय' या इकरारनामा होता था या नहीं। पृ० ६२ पर संगृहीत जातकों के प्रमाणों से तो यह निश्चय होता है कि सार्थ वणिज अपने में से एक को नायक या जेट्ठक मानते थे (वही सार्थवाह या सार्थ का नेता होता था), उनमें कई व्यापारियों के बीच साझेदारी की प्रथा थी, और हानि लाभ के विषय में साझेदारों में आपसी इकरार भी होता था। हां एक सार्थ के सभी सदस्य सार्थिकों (=साथियों) में इस प्रकार का साझा हो यह आवश्यक नहीं था। जो व्यापारी इस प्रकार का साझा करके व्यापार के लिये उठते थे, उनके व्यापार को द्योतित करने के लिये ही संभूय-समुत्थान यह अन्वर्थ शब्द भाषा में प्रचलित हुआ ज्ञात होता है। एक ही सार्थ के सदस्य हानिलाभ के लिये पूंजी का साझा करने की दृष्टि से कई दलों में बंटे हुए हो सकते थे। इस बारे में उन्हें स्वाभाविक ढंग से अपने संबंध जोड़ने की छूट थी। लेकिन एक यात्रा में समान सार्थवाह के नेतृत्व में एकही जलयान या प्रवहण पर यात्रा करनेवाले सब व्यापारी चाहे उनमें पूंजी का साझा हो या न हो, सांयात्रिक कहे जाते थे। वस्तुतः कानूनी दृष्टि से उनके आपसी उत्तरदायित्व और समझौतों की मर्यादाएं और स्वरूप क्या थे, यह विषय अभी तक धुंधला है, जैसा मोती चन्द्र जी ने स्वीकार किया है। स्मृतियों, उनकी टीकाओं, और सम्भव है मध्यकालीन निबन्धों के आलोचनात्मक अध्ययन से इस विषय पर अधिक प्रकाश डाला जा सके।

मौर्य युग की स्थापना के आस-पास की दशाब्दियों में भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं। तभी कपिशा से माईसोर तक का महासाम्राज्य स्थापित हुआ जिसका प्रभाव व्यापार, संस्कृति और धर्म के लिये बहुत अच्छा रहा। इस प्रसंग में लेखक ने सिकन्दर के भारतीय भूगोल की भी कुछ चर्चा की है (पृ० ७१—७३) वस्तुतः यूनानियों ने भारतीय भूगोल के तत्कालीन नामों के जो रूप दिए हैं उनमें संस्कृत नामों की फेर बदल हो जाने से अपने नाम भी अभी तक विदेशी से लगते रहे हैं। पाणिनीय भूगोल की सहायता

से इन पर कुछ प्रकाश डालना सम्भव हो सका है। नगरहार के पास जिस हस्तिन् के प्रदेश का उल्लेख आया है वह पाणिनि का हास्तिनायन (६।४।१७४) यूनानी Astakenoi था जो पुष्कलावती के आस-पास था। यूनानियों ने दो नाम और दिए हैं; एक Aspasioi जो कुनड़ नदी की द्रोणी में बसे थे पाणिनि के आश्वायन थे (४।१।११०), और दूसरे Assakenoi जो स्वात नदी के प्रदेश में बसे आश्वकायन (४।१।९९) थे। इन्हीं का एक नाम Assakeoi भी आता है जिसके समक्ष पाणिनि का अश्वकाः शब्द था। अश्वक या आश्वकायनों का सुदृढ गिरि दुर्ग Aornos था जिस पर अधिकार करने में सिकन्दर के भी दांतों में पसीना आ गया था। उसका पाणिनीय नाम वरणा (४।२।८२) था। स्टाइन ने इस दुर्ग को खोज निकाला था। इस समय उसे ऊण या ऊणरा कहते हैं। यहां के वीर अश्वक स्त्री, बच्चों समेत तिल-तिल कट गए; पर जीते जी उन्होंने वरणा के अजय्य गिरिदुर्ग में शत्रु का प्रवेश नहीं होने दिया। अन्य नामों में गौरीयन गौरी नदी के तटवासी थे, न्यासा पतंजलि का नैश जनपद ज्ञात होता है, यूनानी मूसिकनोस व्याकरण के मुचुकर्णि, ओरिताइ वार्तेय, आरबिताइ आरभट जिसके नाम पर साहित्य में आरभटी वृत्ति शब्द प्रचलित हुआ, ब्राम्मनोई ब्राह्मणक जनपद था जिसका उल्लेख पाणिनि (५।२।७१, ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्; ब्राह्मणको देशः यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणकाः सन्ति, काशिका) और पतंजलि (ब्राह्मणको नाम जनपदः) दोनों ने किया है। पतंजलि ने इसी के पड़ौस में बसे हुए शूद्रक नाम क्षत्रियों का भी उल्लेख किया है जो यूनानियों के Sodrae या Sambos थे। इनसे और मोतीचन्द्र जी ने जिन अन्य नामों की संस्कृत पहचान दी है, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यूनानी भौगोलिक सामग्री का ठोस आधार भारतीय भूगोल में विद्यमान था। उसकी पहचान के लिये हमें अपने साहित्य को टटोलना आवश्यक है। लेखक का यह सुझाव कि जैन साहित्य के २५½ जनपद सम्भवतः मौर्य साम्राज्य की भुक्तियां थीं (पृ० ७५) एक दम मौलिक है। कौटिल्य में प्रतिपादित कई प्रकार के पथों का और शुल्क के नियमों का विवेचन भी बहुत अच्छा हुआ है। द्रोणमुख (पृ० ७७) का प्रयोग सिन्धु नद पर स्थित ओहिन्द के उसपार शकरदर्रा (शक्र द्वार) के खरोष्ठी लेख में आया है जहां उसे 'दणमुख' कहा है। इसका ठीक अर्थ उन पत्तनों का वाची था जो किसी नदी की घाटी के अन्त में स्थित होते थे और अपने पीछे फैली हुई द्रोणी के व्यापार के निकास मार्ग का काम देते थे। ऐसे पत्तन समुद्र के कच्छ में भी हो सकते थे, जैसे भरुकच्छ और शूर्पारक जिनके पीछे नदी-द्रोणियों की भूमि फैली थी। डाकेमार जहाजों (पाइरेट बोट) के लिये प्राचीन पारिभाषिक शब्द 'हिंस्रिका' ध्यान देने योग्य है (पृ० ७९)। मौर्यकाल में राज्य की ओर से व्यापार को सुरक्षित और सुव्यवस्थित करने की ओर बहुत ध्यान दिया गया था, ऐसा अर्थशास्त्र की प्रभूत सामग्री से स्पष्ट होता है। उसके बाद शुंगकाल में भी वही व्यवस्था चलती रही। मौर्यों ने भी जो कार्य नहीं किया था अर्थात् सामुद्रिक व्यापार की उन्नति, उसे सातवाहन राजाओं ने पूरा किया।

स्त्राबो ने शकों की जिन चार जातियों के नाम गिनाए हैं उनके पर्याय भारतीय साहित्य और पुरातत्त्व में मिले हैं, जैसे Asii आर्षी या आर्षिक जाति थी। मथुरा में कटरा केशव-देव से प्राप्त बोधिसत्त्व मूर्ति की चरण-चौकी पर अमोहा नाम की स्त्री आर्षी

(= आर्षी) कही गई है। हुविष्क के पुण्यशालावाले स्तम्भ लेख में शौकेय और प्राचीनी नाम आये हैं जो Sacaraucae और Pasiani के ही रूप ज्ञात होते हैं। तुखार तो तुषार है ही जिनके Tochari नाम पर भाट में कनिष्क के देवकुलवाला टोकी टीला आजतक टोकरी टीला कहलाता है। ऋषिकों का कितना अधिक परिचय महाभारतकार को था यह बात पृ० ६४ पर दिए हुए विवरण से ज्ञात होती है। ऋषिक ही भारतीय इतिहास के यूची हैं। चीनी यूची शब्द का अर्थ 'चन्द्र कबीला' आदिपर्व की उस कल्पना से एक दम मिल जाता है जिसमें ऋषिकों को चन्द्र की सन्तान कहा है (पृ० ६४) ये तथ्य भारतीय इतिहास के सूखे हुए धुंधले चित्रों में नया रंग भरते हैं। सभा पर्व के अनुसार तो मध्य एशिया के किसी भाग में ऋषिकों के साथ अर्जुन की करारी भिड़न्त हुई थी। मध्य एशिया में यारकन्द नदी के आसपास कहीं ऋषिकों का स्थान होना चाहिए। तब परम ऋषिकों का देश उसके भी उत्तर में रहा होगा जहां से यूचियों का मूलारम्भ हुआ था।

कुषाणकाल में कनिष्क ने मध्यएशिया के कौशेय पथों पर और भारत के महान् उत्तर पथ पर एक साथ ही अधिकार कर लिया था। उससे पहले यह सौभाग्य इतने पूर्ण रूप में और किसी राजा को प्राप्त न हुआ था। इसी का यह फल हुआ कि पूरब की ओर तारीम की घाटी में और पच्छिम की ओर सुग्ध में भारतीय संस्कृति, धर्म और व्यापार नए वेग से घुस गए। इसी युग में वहाँ ब्राह्मीलिपि और उसमें लिखे ग्रन्थ भी पहुँच गए। कनिष्क के समय मथुरा कला का सबसे बड़ा केन्द्र था। अभी हाल में रूसी पुरातत्त्व वेत्ताओं ने सुग्ध (सोगडियाना) के तिरमिज नगर में खुदाई करके कई बौद्ध विहारों का पता लगाया जिनमें मथुरा कला से प्रभावित मूर्तियाँ मिली हैं (पृ० ६७)। मध्यएशिया के पूरब और पच्छिम दोनों ओर के मार्गों पर मथुरा कला का यह प्रभाव टकसाली रूप में पड़ा। कपिशा में भी इस समय कुषाणों का ही आधिपत्य था और वहाँ भी खुदाई में प्राप्त हाथी दाँत के फलकों पर (जो आभूषण रखने की दान्त मंजूषाओं या दान्त समुद्गकों में लगे थे) मथुरा शैली का प्रभाव अत्यन्त स्फुट है, यहाँ तक कि कुछ विद्वान् उन्हें मथुरा का ही बना हुआ समझते हैं। कुषाण युग में रोम के साथ भारत का व्यापार भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। पर इस में समुद्री सार्थवाहों को सम्भवतः अधिक श्रेय था। घटसाला की जहां प्राचीन बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले हैं पहचान शिला लेखों में वर्णित कंटकसेल (टालमी के कंटिकोस्सुल) से निकाल लेना भारतीय भूगोल की एक भूली हुई महत्वपूर्ण कड़ी का उद्धार है (पृ० १०१)। लेखक का यह कहना नितान्त सत्य है कि पूर्वी समुद्र तट पर बौद्ध धर्म के ऐश्वर्य का कारण व्यापार था और उन्हीं बौद्धधर्मानुयायी व्यापारियों की मदद से अमरावती, नागार्जुनी कोण्डा और जगय्यपेट्ट के विशाल स्तूप खड़े हो सके। इसी भाँति पश्चिमी समुद्र के कच्छ में भाजा, कार्ला, और कन्हेरी के महाचैत्य एवं विहार उन्हीं बौद्ध व्यापारियों की उदारता के परिणाम थे जो रोम साम्राज्य के साथ व्यापार करके धनकुबेर ही बन गए थे। पांचवे अध्याय में इस बात का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया गया है कि ऋषिक, शक कुषाण कंक आदि विदेशी विजेताओं ने भारत के महापथ पर किस प्रकार हाथ पैर फैलाए और देश के भीतर घुसते हुए उत्तरापथ और दक्षिण में भी घुस आए, और किस प्रकार सातवाहनों ने राष्ट्रीय प्रतिरोध की ध्वजा उठाए रक्खी पर

अन्त में वे भी झुक गए। सातवाहनों का शकों के साथ लम्बा संघर्ष राजनीतिक होने के साथ-साथ व्यापारिक स्पर्धा पर भी आश्रित था। सातवाहन नासिक-कल्याण में और शक भरुकच्छ सुपारा में डटे बैठे थे और ये स्थान प्रतिस्पर्धियों के बलाबल के अनुसार एक-दूसरे के हाथ से निकलते रहते थे। इस प्रकरण में एक नया ऐतिहासिक तथ्य यह सामने रक्खा गया है कि कनिष्क का एक नाम चन्दन भी था, और पेरिप्लस के अनुसार चन्दन का आधिपत्य भरुकच्छ पर हो गया था। ज्ञात घटनाओं के साथ सिल्वाँ लेवी की इस नई खोज की पटरी नहीं बैठती थी; किन्तु एक बात इसकी सचाई बताती है। वह यह कि मथुरा के पास माट ग्राम के देवकुल में कनिष्क की मूर्ति के साथ चष्टन की मूर्ति भी मिली है। आजतक इसका युक्तियुक्त समाधान समझ में नहीं आया था। पेरिप्लस के इस वचन से कि सन्दनेस (चन्दन या कनिष्क) भरुकच्छ का नियंत्रण करता था यह बात मानी जा सकती है कि कनिष्क और उज्जयिनी के पश्चिमी महाक्षत्रप चष्टन का कोई अतिनिकट का सम्बन्ध था, और चष्टन के द्वारा ही कनिष्क का नियन्त्रण भरुकच्छ सोपारा के प्रदेश पर हो गया था। कनिष्क अधेड़ और चष्टन की मूर्ति युवक की है। चष्टन कनिष्क का छोटा सम-सामयिक और अति निकट का पारिवारिक सम्बन्धी हो सकता है। यह भी सम्भव है कनिष्क के कुल के साथ उसका जाति सम्बन्ध हो। सिल्वाँ लेवी ने भी जो समझाया यह सिद्ध किया था कि २५ और १२० ई० के बीच में किसी समय यू-ची दक्खिन में थे (पृ० १०६) यह बात भी व्याकरण साहित्य के उस प्रमाण से मिल जाती है जिसमें माहिषिक जनपद और ऋषिक जनपदों के नामों का जोड़ा एक साथ कहा गया है (काशिका, सूत्र ४।२।६२, ऋषिकेषु जातः आर्षिक; महिषकेषु जातः माहिषिकः)। श्री मीराशी जी ने महिषक की पहचान दक्खिनी हैदराबाद और ऋषिक की खानदेश से की है। वस्तुतः यहाँ पाँच जनपदों का एक गुच्छा था। खानदेश में ऋषिक, उसके ठीक पूरब अकोला अमरावती (बिरार) में विदर्भ ऋषिक के दक्खिन में औरंगाबाद जिले में प्रतिष्ठान की ओर बढ़ी हुई सह्याद्रि की घाटी से लेकर गोदावरी तक मूलक, गोदावरी के दक्खिन अहमद नगर का प्रदेश अश्मक और उसके पूर्व-दक्षिण में महिषक था। गौतमी पुत्र सातकर्णि के नासिक लेख में ऋषिक, अश्मक, मूलक, विदर्भ का साथ उल्लेख भी ऋषिकों की दक्षिणी शाखा के प्रमाणों की एक अतिरिक्त कड़ी है। रामायण किष्किन्धा काण्ड में भी दक्षिण दिशा के देशों का पता बताते हुए सुग्रीव ने विदर्भ, ऋषिक और माहिषक का एक साथ उल्लेख किया है (विदर्भानृषिकांश्चैव रम्यान्माहिषकानपि, किष्किन्धा० ४१।१०)। अवश्य ही रामायण का यह प्रसंग जिसमें सुवर्ण द्वीप और जावा के सप्तराज्यों का भी उल्लेख है, शक-सातवाहन युग के भारतीय भूगोल का परिचायक है। सातवाहनों के समकालीन पाण्ड्यों की प्राचीन राजधानी कोलकइ (तिन्नवली में ताम्रपर्णी नदी पर) कही गई है। इसी समय जावा आदि द्वीपान्तरों से कालीमिर्च का बहुत व्यापार चल गया था जो मलय के पूर्वी तट पर स्थित धर्म पत्तन (मलोन धर्मराट = धर्मराज नगर) बन्दरगाह से लदकर भारत में कोङ्कण के समुद्र पत्तन में उतरती थी और फिर उसका चालान भारतीय व्यापारियों द्वारा अरबों के हाथों रोम साम्राज्य के लिये होता था। इसकी बहुत सुन्दर स्मृति 'कोलक' और 'धर्मपत्तन'—कालीमिर्च के इन दो पर्यायों में बच गई है जो नाम उत्तर भारत के बाजारों में भी पहुँच गए थे जहाँ से अमर कोष के लेखक ने इनका संग्रह किया।

छठे अध्याय में भारत और रोमन साम्राज्य के बीच में व्यापार की कहानी बड़ी ज्ञान वर्धक है जिसमें पेरिप्लस और टाल्मी के ग्रन्थों से भरपूर सामग्री का संकलन किया गया है। सिन्ध के सातमुखों में बीच के मुख पर स्थित बर्बरिकन बन्दरगाह (सं० बर्बरक) के नाम पड़ने का कारण वहाँ से बर्बर या अफ्रीका के देशों की यात्रा का होना था। इसका नाम पाणिनि के तक्षशिलादि गण (४।३।९३) में भी आया है। सौराष्ट्र के बाबरियों का मूल रूप बाबरिय है जो व्यापारिक का अपभ्रंश है। नासिक की गुफाओं में प्रयुक्त रमनक शब्द रोमनों के लिये ही जान पड़ता है। एम्पोरियम के लिये 'पुटभेदन' और एम्पोरेरियम के लिये 'समुद्रस्थान पट्टन' शब्द अतीव उपयुक्त थे। इस अध्याय में मोतीचन्द्र जी ने पेरिप्लस में प्रयुक्त कोटिम्बा (Cotymba), त्रप्पग (Trappaga) इन दो भारतीय जहाजों के नामों का उल्लेख किया है जो भरुकच्छ के समुद्री तट के आसपास विदेशी जहाजों के साथ सहयोग करते थे। अभी ६ मार्च १९५२ के पत्र में उन्होंने मुझे सूचित किया है कि जैनों की अंग विज्जा नामक प्राचीन पुस्तक में ये नाम मिल गए हैं—'पेरिप्लस ने अपने विवरण में Cotymba, Trappaga, Sangar, और Colondia नामक भारतीय जहाजों के नाम दिए हैं। अभीतक मुझे इनके पर्यायवाची शब्द भारतीय साहित्य में नहीं मिले थे। 'अंगविद्या' ने यह गुत्थी सुलझा दी। पाठ है—

'णावा पोतो कोट्टिंबो तप्पको प्लवो पिंडिका कांडवेलुतुं'भो कुंभो दती वेति''' । तत्थ महावकासेसु णाविपोतो वा विन्नेया, मज्झिमकायेसु कोट्टिंबो सांघाडो प्लवो तप्पको वा विन्नेया, मज्झिमाणंतरेसु कट्ठंवा वेलू वा वियाणेयो, पच्चंवरकायेसु तुंबो वा कुंभो वा दती वा वियाणेयाइ।' (अंगविज्जा हस्तलिखित प्रति, पन्ना ११-१२ ।

इस तालिका में यूनानी शब्दों के पर्याय भरे पड़े हैं, यथा—

कोट्टिंब = Cotymba

तप्पक = Trappaga

संघाड = Sangar

कोलल=Colyndia

इस उद्धरण से जहाजों की छोटी चार किस्मों का परिचय मिलता है। बड़े आकार (महावकास) जहाज णाव या पोत, उससे मंझले आकार (मज्झिमकाय) के कोट्टिंब, साघाड प्लव, और तप्पक, उससे भी छोटे बिचले आकार के (मज्झिमाणांतर) कट्ठ और वेल; एवं सबसे छोटे (पच्चंवरकाय) जहाज तुंब, कुंभ या दती कहलाते थे। श्रीमोतीचन्द्रजी की यह नई पहचान रोमांचकारिणी है। इसी अंगविज्जाग्रन्थ में यूनान ईरान और रोम देश की देवियों की सूची का एक श्लोक है। उसमें पैलासअथीनी को अपला, ईरानी अनाहिता को अणाहिता, और आर्तेमिस को तिमिस्सकेशी कहा गया है[1] अइराणि (इ) त्ति यूनानी देवी अफ्रोदाइति, तिधणी रोमन डायना ज्ञात होती है। सालि चन्द्रमा की देवी सेलिनी (Seleni) हो।

---

[1] अपला अणादि (हि) ता वत्ति अइराणत्ति वा वदे।
एर्म तिमिस्सकेसि त्ति तिधणी सालिमालिनी ॥ पन्ना ३८

पेरिप्लस में सिंहल का तत्कालीन नाम पालिसिमुण्ड सं० पारे समुद्र का रूप है जो महाभारत में आया है। इसी प्रकरण में उस चांदी की तस्तरी की ओर भी ध्यान दिलाया गया है जिस पर भारतमाता की मूर्ति अंकित है और जो एशियामाइनर के गांव लम्पसकस से प्राप्त हुई थी और अंकारा के संग्रहालय में सुरक्षित है (दे० पत्रिका विक्रमांक, ६६-७२)। भारत के बने सुगन्धित शेखरक या 'गन्ध मकुट' कभी रोम तक जाते थे। (पृ० १२७)। रोम और यूनान देश की स्त्रियाँ उन्हें सिर पर पहनती थीं। ये गन्ध-मुकुट कपड़े के फूल काटकर और युक्ति पूर्वक उन्हें द्रव्यों से तर करके बनाए जाते थे जिससे दीर्घ काल तक वे सुरभित रहसकते थे। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित अञ्जलिका स्त्रीमूर्ति मस्तक पर इसी प्रकार का गन्ध मुकुट पहने हैं।

प्लिनी ने भारत को रत्नधात्री कहा था (पृ०१२८)। इसी के साथ वह अमर वाक्य भी स्मरणीय है जो कई शताब्दी बाद के एक अरबी व्यापारी ने हज़रत उमर के प्रश्न करने पर कहा—'भारत की नदियाँ मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वृक्ष इत्र हैं।' (पृ० २०६)।

सातवें अध्याय में संस्कृत और बौद्ध साहित्य के आधार पर पहली से चौथी सदी ईसवी के भूगोल और व्यापार सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्‌घाटन किया गया है जिनमें से कई पहचान लेखक की निजी हैं। महानिद्देस, मिलिन्दपन्ह, महाभारत और वसुदेव हिंडी के नामों की विस्तृत व्याख्या पढ़नेयोग्य है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन विदेशी वेलान्तरपुरों (बन्दरगाहों) के नाम यूनानी और रोमन लेखकों के वर्णन में हम पढ़ चुके हैं उनके नामों का भारतीय साहित्य में भी उल्लेख पहली बार ही हम देखते हैं। वेसुंग, तमलि (ताम्रलिप्त द्वीप), वंग (बंका द्वीप), गंगण (जंजीबार) की पहचान इस प्रकरण को समझने में सहायक है। वसुदेव हिंडी के कमलपुर की पहचान 'ख़मेर' या अरबी 'क़मर' के साथ बहुत ही उपयुक्त है। सभा पर्व के पूना से प्रकाशित संशोधित संस्करण में अंताखी रोमा और यवनपुर (सिकन्दरिया) ये तीन नामों का पाठ अब निश्चित हो गया है। ये विदेशी राजधानियाँ थीं जिनके साथ भारत का व्यापार सम्बन्ध रोमन युग में स्थापित हो चुका था। कम्बुज (कमल) से सिकन्दरिया और रोम तक का विस्तृत समुद्री तट भारतीय नाविकों के लिए हस्तामलकवत् हो गया था। उनके इसी विराट् पराक्रम से बाण की उस कल्पना का जन्म हुआ जिसमें अदम्य साहसी वीर के लिए वसुधा को घर के आंगन का चबूतरा और समुद्र को पानी की छोटी गूल कहा गया है (अंगनवेदी वसुधा कुल्या जलधिः ''''वल्मीकश्च सुमेरुः, हर्षचरित)। उत्तर के ऊंचे पर्वत और दक्खिन के चौड़े सागर साहसी यात्रियों के लिए रुकावट न रहकर यात्रा के लिये मानों पुल बन गए थे। मध्य एशिया और हिन्देशिया दोनों ही भारतीय संस्कृति की गोद में आ गए। पूर्ण सुपारग और कोटिकर्ण नामक समुद्री व्यापारियों के अवदान भारतीय नौप्रचार विद्या और जलधि-संतरण कौशल के दिव्य कीर्ति स्तम्भ हैं। महावस्तु ग्रन्थ में सुरक्षित ११ श्रेणियों, २२ श्रेणिमहत्तरों एवं लगभग ३० शिल्पायतनों की सूची कारीगरों की उस लहलहाती दुनिया का रूप खड़ा करती है जो व्यापार सम्बन्धी वस्तुओं की सच्ची धाय थी।

दक्षिण भारत का तामिल साहित्य भी समुद्री व्यापार के विषय में अच्छी जानकारी देता है। वस्तुतः सिलप्पाधिकारं नामक तामिल महाकाव्य में कावेरी पत्तन (अपर नाम

पुहार) नामक बन्दरगाह, उसके समुद्र तट, गोदाम विदेशी सौदागर और बाजारों का जैसा वर्णन है वैसा भारतीय साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। बर्बरक, मरूकच्छ, मुरचीपत्तन, दन्तपुर, ताम्रलिप्ती आदि के विशाल जलपत्तन किसी समय कावेरी पत्तन के ही उत्तमन्त सस्करण थे। मुचिरी के लिए दो तामिल कवियों का यह अमर चित्र देखने योग्य है मुचिरी के बड़े बन्दरगाह में यवनों के सुन्दर और बड़े जहाज केरल की सीमा के अन्दर फेनिल पेरियार नदी का पानी काटते हुए सोना लाते हैं। सोना जहाजों से डोंगियों पर लादकर लाया जाता है। घरों से वहाँ बाजारों में मिर्च के बोरे लाए जाते हैं जिन्हें व्यापारी सोने के बदले में जहाजों पर लादकर ले जाते हैं। मुचिरी में लहरों का संगीत कभी बन्द नहीं होता।' पृ० १५७)।

नवें अध्याय में जैन-साहित्य की चूर्णियों और नियुक्तियों से सार्थ और उनके माल के सम्बन्ध में कई बातें महत्त्वपूर्ण ज्ञात होती है। सार्थ पाँच तरह के होते थे (पृ० १६६) और उनके माल के वर्गीकरण के चार भेद थे। आवश्यक चूर्णियों में दी हुई सोलह हवाओं की सूची एकदम नाविकों की शब्दावली से ली गई है जिसके कई नाम याद के अरबी भौगोलिक की सूची में भी मिल जाते हैं। बन्दरगाह के लिए ज्ञाताधर्म में पोतपत्तन शब्द है। अन्यत्र जलपट्टन और वेलातट शब्द आ चुके हैं। कालिय द्वीप की पहचान जंजीबार के साथ संभाव्य जान पड़ती है। व्यापारियों ने राजा से वहाँ के धारीदार घोड़ों या जेबरों का जब जिक्र किया तो राजा ने विशेष रूप से उन्हें मँगा भेजा। व्यापार के लिये जहाज में कितनी तरह का माल भरा जाता था इसकी भी बढ़िया सूची ज्ञाताधर्म की कहानी में है, विशेषतः कई प्रकार के बाजे खिलौने और सुगंधित तेलों के कुप्पे उल्लेखनीय हैं। अन्तगडदसाओ से उद्धृत उन विदेशी दासियों की सूची भी रोचक है जो वंछु प्रदेश फरगाना, यूनान, सिंहल, अरब, बलख और फारस आदि देशों से अन्तःपुर की सेवा के लिये भारतवर्ष में लाई जाती थीं। यह सूची सिंहल से पामीर और वहां से यूनान तक की उस पृष्ठभूमि को व्यक्त करती है जो ईसवी आरम्भिक शतियों में भारतीय व्यापारिक और सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत थी।

गुप्तयुग में विदेशों के साथ जल-वाणिज्य से धन उपार्जित करने का भाव लोगों में व्याप्त हो गया था। बाण के अनुसार जल-यात्रा से लक्ष्मी सहज में खिंच आती है (अब्भ्रमणेन श्रीसमाकर्षणं हर्षचरित १८१) मृच्छकटिक के एक वाक्य में मानों युग की आत्मा बोल उठी है। विदूषक चारुदत्त के कहने से वसन्त सेना के आभूषण लौटाने उसके घर गया। वहां आठ प्रकोष्ठों वाले वसन्त सेना के भवन का वैभव देखकर उसकी आँखें चौंधिया गईं और चेटी के सामने उसके मुख से निकल पड़ा—"भवति किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति ?" अर्थात् 'क्या आपके यहाँ जहाज चलते हैं (जो इतना वैभव है) ?'

गुप्तयुग के महानुजलसार्थवाह जब द्वीपान्तरों से स्वर्ण-रत्न कमाकर लौटते, तब सवा पाव से लेकर सवामन सोने का दान करते थे। मत्स्य पुराण के षोडश महादान प्रकरण में सप्त समुद्र महादान की भी गिनती है। जिन कुओं के जल से ये दान संकल्प किए गए वे सप्त समुद्र कूप कहलाते थे। उस काल के प्रधान व्यापारी नगर मथुरा, काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र में अभी तक ऐसे सप्त समुद्र कूप बचे हैं। भीटा से प्राप्त एक मिट्टी की मोहर पर नाव में खड़ी हुई लक्ष्मी की मूर्ति सामयिक व्यापार से मिलनेवाली श्री लक्ष्मी

की प्रतीक है। मोतीचन्द्रजी ने पहली बार ही उसके विशेष अर्थ की ओर यथार्थ ध्यान दिलाया है गुप्तयुग में समुद्र के साथ देशवासियों के घनिष्ठ परिचय और सम्पर्क के अन्य अभिप्राय साहित्य और लेखों में भरे हुए हैं। गुप्त सम्राट् समुद्र गुप्त का नाम और उनके लेखों में 'चतुरुदधि सलिलस्वादित यश' विशेषण, कालिदास की 'पयोधरीभूत चतु समुद्रां जुगोप गोरूप धरामिवोर्वीम्' की सरस कल्पना। चार समुद्र भारत की पृथिवी के चार स्तन हैं), 'निःशेष पीतोज्झित सिन्धुराजः' (समुद्र क्या हैं मानो देश की अदम्य यात्रा प्रवृत्ति के प्रतीक अगस्त्य ने एक बार आचमन करके उन्हें पुनः उंडेल दिया है), और 'अष्टादश द्वीपनिखात यूपः'—ये गुप्त युग के लोकव्यापी अभिप्राय थे।

सातवीं-आठवीं शतियों में भारतीय व्यापार के और भी पंख लग गए। आरम्भ में ही वाण को पृथिवी के गले में अठारह द्वीपों की 'मंगलक माला' पहनाते हुए हम पाते हैं। उन्होंने सर्वद्वीपान्तर संचारी पादलेप' की कल्पना का भी उल्लेख किया है (हर्षचरित उच्छ्वास ६)। आठवीं शती के आते-आते भारत के तगड़े प्रतिद्वन्द्वी अरब के नाविक मैदान में आ गए। घोड़ों की तिजारत तो आठवीं शती से उन्हीं के हाथ में चली गई। संस्कृत के नामों की जगह अरबी नाम बाजारों में चल गए। आठवीं शती के लेखक हरिभद्र सूरि ने अपनी समराइच्च कहा में पहली बार अरबी नाम 'वोल्लाह' का प्रयोग किया है। उसके बाद हेमचन्द्र के समय तो घोड़ों के देशी नामों को धत्ता बताकर अरबी नामों ने घोड़ों के बाजार की भाषा पर दखल कर लिया था। हेमचन्द्र को यह भी पता न रहा कि वोल्लाह सेराह, कोकाह, गियाह आदि शब्द विदेशी हैं, उन्हें यहीं का शब्द मानकर संस्कृत की धातु-प्रत्ययों से उनकी सिद्धि कर डाली (अभिधानचिन्तामणि ४।३०२-७)। भारत और पश्चिम की इस राजैक आँधी की कशमकश बढ़ती ही गई और ११वीं शती तक वह कालिका बात दिल्ली कन्नौज काशी तक छा गई। दक्षिणापथ के बल्लभराज राष्ट्रकूट तो अरबों के मित्र थे; पर उत्तर में गुर्जर प्रतिहारों ने ९वीं-१०वीं शती में स्थिति को सम्भाला, उनके प्रताप से विदेशी थर्राते थे, और ११वीं-१२वीं शतियों में चौहान और गाहड़वाल राज्यों ने उत्तरापथ को विदेशियों की बाढ़ से बचाए रक्खा। किन्तु इस प्रसंग में सबसे उज्ज्वल कर्म तो काबुल और पंजाब के हिन्दू शाहि राजाओं का था जो भारत के सिंहद्वार के ड्योढ़े पर गजनी के समय तक डटे रहे, और जिनके टूटते ही उत्तर का फाटक खुल गया। फिर भी विदेश की इस काली आन्धी को सिंध से काशी तक पहुँचने में साढ़े चार सौ बरस लग गए, जब कि अन्य देशों में बात-की-बात में उसने सब कुछ धुरियाधाम कर दिया था।

श्री मोतीचन्द्र जी का चमकता हुआ सुझाव बम्बई के पास एक्सर गाँव में मिले हुये छः वीरगलों (वीरों के कीर्ति पाषाण) पर अंकित दृश्य की यथार्थ पहचान है। इनमें चार पर समुद्री युद्ध का चित्रण है। उन्होंने दिखाया है कि मालवा के प्रसिद्ध भोज ने १०१४ के लगभग जो कोंकण की विजय की थी, उसी प्रसंग में कोंकण के राजाओं के साथ हुई समुद्री लड़ाई का इनपर अंकन है। भोज के युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ में जहाजों के आँखों देखे वर्णन और लम्बाई-चौड़ाई के विवरण की संगति भी इस पृष्ठभूमि में उन्होंने सुलझा दी है [पृ० २११, २१६]।

भारतीय नौनिर्माण और नौ प्रचार से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का

ज्ञान भी इस उत्तम ग्रन्थ से मिलता है। नाव के आगे का हिस्सा (अंग्रेजी बो) गलही, माथा, मुख कहा जाता था। गलही या मुखौटे की विशेष सजावट की जाती थी और आज भी कुछ नावों में वह देखी जा सकती है। भोज के अनुसार जहाजों के मुखों पर व्याघ्र, हाथी, नाग, सिंह आदि के अलंकरण बनते थे (पृ० २१४)। काशी के मल्लाह इसे 'गिलास' कहते हैं जिसका शुद्ध रूप ग्रास था। संस्कृत की वास्तु शब्दावली में ग्रास का अर्थ था 'सिंहमुख'। माथा के लिए जैन साहित्य में 'पुरओ' भी आया है। अन्य शब्द इस प्रकार हैं—माथा काठ (outrigger), लहर तोड़ (washbrake), घोड़ी (portside) पाल की टेढ़ी लकड़ी (boom), पताली बाँस या पसलियाँ (floatings), माला (deck) जिसे पादातान भी कहते हैं), जाली grate), पिछाड़ी (stern), गुलिया (derrick), मत्तवारण (deck house) अग्र मन्दिर (cabin), छल्ली (coupling block), गुनरखा (सं० गुणवृक्षक, नौकूपदण्ड), मस्तूल (mast), कर्णधार, पतवारिया आदि। नाव और जहाजों के अनेक शब्द अभी तक नदी और समुद्र में काम करनेवाले कैवर्तों से प्राप्त किए जा सकते हैं। त्रिवेणी संगम के भैरू मल्लाह ने जो अपने को गुह निषाद का वंशज मानता है कहा कि पहले संगम पर एक सहस्र नावों का जमघट रहता था। पटेला, सहेलिया, ढकेला, डलाँकी, डोंगी, बजरा, मलहनी, भौलिया, पनसुइया, कटर (पनसुइया से भी छोटी), भंडरिया आदि भाँति-भाँति की नावें नदियों में चहल पहल रखती थीं। उससे प्राप्त नाव के कुछ शब्द ये हैं—बंधेज (नाव के ऊपर की दो बड़ी बल्लियां), बत्ती (दोनों बंधेजों के नीचे समान्तर लगी हुई लम्बी लकड़ियाँ , हुमास खड़े हुए डंडे जो पेंदी से बंधेज तक लगते हैं), बत्ता (दोनों ओर के हुमासों के बीच में लगनेवाली आड़ी लकड़ियाँ), गलहा (नाव के सिक्के का भाग जिस पर बैठकर नाविक डांड चलाता है), बघौकी (लोहे का बिच्छू जिसकी चूड़ी में पिरोकर डांड चलाया जाता है), वाहा (वह रस्सी जिसमें डाँड पहनाया रहता है), पत्ता (डाँड का अगला भाग), सिक्का या गिल्लो (नाव की गलही पर नक्काशीदार चंदा या फुलरा), गून वह पतली लम्बी रस्सी जिस से नाव ऊपर की ओर खींची जाती है), जंघा (गुनरखा बांधने की रस्सी), फोंफिया (काठ का बक्सा जिसमें गुनरखा खड़ा किया जाता है), घिरनी (चकरी या पुली), उजान (सं उद्यान पानी के चढ़ाव की ओर), भाटी (बहाव की ओर), गिलासपट्टी (सं० ग्रासपट्टी, उकेरी गलही की लकड़ी), इत्यादि। समुद्रतट के पास प्रयुक्त शब्द और भी महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे पाटन (गुजराती) और मलका मराठी) सं० peel, गमड़ा (leak), ओट (lee), दामनवाड़ा (म०, leeward), वमणी गु०) वहणी (म०); jettison, धूरा (hold, hatch-way , म० पलट), काठपाड़ा (म०; hull ; गु० खोड़), चबूतरो bunk), पाट्यूं board), तलयूं (bottom), फुरदा (breakwater , भरती (burden), कलफत (caulking), गलबत (craft), गबारी (गु०; derrick, crane) गोदी (म, dockyard), फर्मा (forward deck, forecastle) नूर ('reight), नूरचिट्ठी (bill of lading), सुकन् (helm), होक यंत्र (म०; compass), कमाला (Charter Party), पाथर (dunnage), धक्का (pier), इत्यादि।

जल सार्थवाहों के अभिन्न सहयोगी भारतीय नाविक और महानाविकों की कीर्ति गाथा जाने बिना भारतीय इतिहास की कथा को समझा ही नहीं जा सकता। हमारे इतिहास के अनेक छोर द्वीपान्तर और पश्चिमोदधि के देशों के साथ जुड़े हैं। उसका श्रेय भारतीय नाविक कम्मकरों (खलासियों) को था। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार कर्त्तव्यनिष्ठ दृढ़चित्त भारतीय नाविक सोचता था—"मैं भृत्य हूँ और अपने पोत पर वेतन के लिये सेवा करता हूँ। इसी जलयान के कारण मुझे भोजन-वस्त्र मिलता है। मुझे आलसी प्रमादी नहीं होना चाहिए। मुझे चुस्ती के साथ जहाज चलाना चाहिए।' (पृ० १४७) ये विचार भारतीय जल-संचार की दृढ़ भित्ति थे।

भारतीय सार्थ घर में बैठे हुए लोगों को बाहर निकलकर वातातपिक जीवन बिताने के लिये प्रबल आवाहन देता था। सार्थ की यात्रा व्यक्ति के लिये भार या बोझिल न होती थी। उसके पीछे आनन्द, उमंग, मेलजोल, अन्यान्य हितबुद्धि की सरस भावनाएँ छाई रहती थीं। सार्थ के इस आनन्द प्रधान जीवन की कुंजी महाभारत के उस वाक्य में मिलती है जो यक्ष प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था—

सार्थः प्रवसतो मित्रंभार्या मित्रं गृहसतः (वनपर्व २९७ ४५)

घर से बाहर की यात्रा के लिये जो निकलते हैं सार्थ उनका वैसाही सगा है जैसे घर में रहते हुए स्त्री। सार्थ के वातावरण में जीवन-रस का अजस्र स्रोता बहता हुआ अनेकों को अपनी ओर खींचता था। उसका उमगता हुआ सख्यभाव यात्रा के लिये मनको मथ डालता था।

भारतीय साहित्य की बौद्ध-जैन ब्राह्मण, संस्कृत-पाली-प्राकृत आदि धाराएँ एक ही संस्कृति के महाक्षेत्र को सींचती हैं। उनमें परस्पर अटूट सम्बन्ध है। ऐतिहासिक सामग्री और शब्दों के रत्न सब में बिखरे पड़े हैं। मोतीचन्द्रजी का प्रस्तुत अध्ययन इस विषय में हमारा मार्ग प्रदर्शन करता है कि न केवल भारतीय साहित्य के विविध अंगों का बल्कि चीन से यूनान तक के साहित्य का भी राष्ट्रीय इतिहास के लिये किस प्रकार दोहन किया जा सकता है। ऐसे अनेक अध्ययनों के लिये अभी अवकाश है। कालान्तर में उनके सुघटित शिला खंडों से ही राष्ट्रीय इतिहास का महाप्रासाद निर्मित हो सकेगा।

काशी विश्वविद्यालय
१९-२-५३

वासुदेवशरण

सार्थवाह

[प्राचीन भारत की पथ-पद्धति]

पहला अध्याय

प्राचीन भारत की पथ-पद्धति

संस्कृति के विकास में भूगोल का एक विशेष महत्त्व है। देश की भौतिक अवस्थाएँ और बदलती आबहवा मनुष्य के जीवन पर तो असर डालती ही हैं, साथ-ही-साथ, उनका प्रभाव मनुष्य के आचरण और विचार पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए रेगिस्तान में, जहाँ मनुष्य को प्रकृति के साथ निरन्तर लड़ाई करनी पड़ती है उसमें एक रूखे स्वभाव और लूटपाट की आदत पैदा होती है जो उष्ण-कटिबन्ध में रहनेवालों की मुलायम आदतों से सर्वथा भिन्न होती है; क्योंकि उष्ण-कटिबन्ध में रहनेवालों की जरूरियात प्रकृति आसानी से पूरा कर देती है और इसलिए उनके स्वभाव में कर्कशता नहीं आने पाती। देश की पथ-पद्धति भी उसकी भौतिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होती है। पहाड़ों और रेगिस्तानों से होकर जानेवाला रास्ता कठिन होता है, पर वही रास्ता नदी की घाटियों और खुले मैदानों से होकर सरल बन जाता है।

देश की पथ-पद्धति के विकास में कितना समय लगा होगा, इसका कोई अन्दाजा नहीं कर सकता। इसके विकास में तो अनेक युग लगे होंगे और हजारों जातियों ने इसमें भाग लिया होगा। आदिम फिरन्दरों ने अपने ढोर-डंगरों के चारे के फिराक में घूमते हुए रास्तों की जानकारी क्रमशः बढ़ाई होगी, पर उनके भी पहले, शिकार की तलाश में घूमते हुए शिकारियों ने ऐसे रास्तों का पता चला लिया होगा जो बाद में चलकर राजमार्ग बन गये। खोज का यह क्रम अनेक युगों तक चलता रहा और इस तरह देश में पथ-पद्धति का एक जाल-सा बिछ गया। इन रास्ता बनानेवालों का स्मरण वैदिक साहित्य में बराबर किया गया है। अग्नि को पथकृत् इसीलिए कहा गया है कि उसने घनघोर जंगलों को जलाकर ऐसे रास्ते बनाये, जिनपर से होकर वैदिक सभ्यता आगे बढ़ी।

यात्रा के सुख और दुःख प्राचीन युग में बहुत-कुछ सड़कों की भौगोलिक स्थिति और उनकी सुरक्षा पर अवलम्बित थे। जब हम उन प्राचीन सड़कों की कल्पना करते हैं जिनका हमारे विजेता, राजे-महराजे, तीर्थयात्री और घुमक्कड़ समान रूप से व्यवहार करते थे तो हमें आधुनिक पक्की सड़कों को, जिनके दोनों ओर लहलहाते खेत, गाँव, कस्बे और शहर हैं, भूल जाना होगा। प्राचीन भारत में कुछ बड़े शहर अवश्य थे; पर देश की अधिक बस्ती गाँवों में रहती थी और देश का अधिक भाग जंगलों से ढका था जिनमें से होकर सड़कें निकलती थीं। इन सड़कों पर अक्सर जंगली जानवरों का डर बना रहता था, लुटेरे यात्रियों के ताक में लगे रहते थे और रास्ते में सीधा-सामान न मिलने से यात्रियों को स्वयं अन्न का प्रबन्ध करके चलना पड़ता था। इन सड़कों पर अकेले यात्रा करना खतरे से भरा होता था और इसीलिए 'सार्थ' चलते थे जिनकी सुव्यवस्था के कारण यात्री आराम से यात्रा कर सकते थे। सार्थ के साथ होने पर भी अनेक बार व्यापारी, दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते थे। पर इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उनकी यात्रा कभी नहीं रुकती थी। ये यात्री केवल व्यापारी ही न

होकर भारतीय संस्कृति के प्रसारक भी थे। उत्तर के महापथ से होकर इस देश के व्यापारी मध्य एशिया और 'शाम' तक पहुँचते थे और वहाँ के व्यापारी इसी सड़क से होकर इस देश में आते थे। इसी सड़क के रास्ते समय-समय पर अनेक जातियाँ और कबीले उत्तर-पश्चिम से होकर इस देश में पैठे और कुछ ही समय में इस देश की संस्कृति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर भारत के वाशिंदों में ऐसा घुल-मिल गये कि ढूँढ़ने पर भी उनके उद्गम का आज पता नहीं चलता। पथ-पद्धति की इस महानता के कारण यह आवश्यक है कि हम उसका पूर्ण रूप से अध्ययन करें।

इस देश की पथ-पद्धति जानने के पहले इसके कुछ भौगोलिक आधारों को भी जान लेना आवश्यक है। भारत के उत्तर-पूरब में जंगलों से ढँकी पहाड़ियाँ और घाटियाँ हैं, जो मंगोल जाति को भारत में आने से रोकती हैं। फिर भी इन जंगलों और पहाड़ों से होकर मणिपुर और चीन के बीच एक प्राचीन रास्ता था, जिस रास्ते से चीन और भारत का थोड़ा बहुत व्यापार चलता रहता था। ईसवी पूर्व दूसरी सदी में जब चीनी राजदूत चांगकियेन बलख पहुँचा, तब उसे वहाँ दक्षिणी चीन के बाँस देखकर कुछ आश्चर्य-सा हुआ। वास्तव में यूनान के ये बाँस आसाम के रास्ते मध्यदेश पहुँचते थे और वहाँ से बलख। इतना सब होते हुए भी उत्तर-पूर्वा रास्ते का कोई विशेष महत्त्व नहीं था, क्योंकि उसे पार करना कोई आसान काम नहीं था। हिमालय की उत्तरी दीवार भाग्यवश उत्तर-पश्चिम में कुछ कमजोर पड़ जाती है। पर यहाँ, परिसिन्धु प्रदेश में, जिसे प्रकृति ने बहुत ठंढा और वीरान बनाया है और जहाँ बरफ से ढँकी चोटियाँ आकाश से बातें करती हैं, एक पतला रास्ता है, जो उत्तर की ओर चीनी तुर्किस्तान की खाल की ओर जाता है। यह रास्ता इतिहास के आरम्भ से भारतवर्ष को एशिया के ऊँचे प्रदेशों से जोड़ता है। पर यह रास्ता सरल नहीं है, इसपर पथभ्रष्ट अथवा प्रकृति के आकस्मिक कोप से मारे गये हजारों बोझ ढोनेवाले जानवरों और उन सार्थवाहों की हड्डियाँ मिलती हैं, जिन्होंने अपने अदम्य उत्साह से संस्कृति और व्यापार के आदान-प्रदान के लिए उसे खुला रखा। इस रास्ते का उपयोग मध्य एशिया की अनेक बर्बर जातियों ने भारत में आने के लिए किया। दुनिया के व्यापार-मार्गों में यह रास्ता शायद सबसे बदसूरत है। इसपर पेड़ों का नाम निशान नहीं है और हिमराशि की सुन्दरता भी इस रास्ते पर नहीं मिलती, क्योंकि हिमालय की पीठ के ऊँचे पहाड़ों पर बरफ भी कम गिरती है। फिर भी यह भारत का एक उत्तरी फाटक है और प्राचीन काल से लेकर आज तक इसका थोड़ा-बहुत व्यापारिक और सामरिक महत्त्व रहा है। इसी रास्ते पर, गिलगिट के पास, एशिया के कई देशों की, यथा चीन, रूस और अफगानिस्तान की, सीमाएँ मिलती हैं। इसलिए इसका राजनीतिक महत्त्व भी कम नहीं है।

यह पूछना स्वाभाविक होगा कि गत पाँच हजार वर्षों में उत्तरी महाजनपथ में कौन-कौन-सी तब्दीलियाँ हुई। उत्तर साफ है—बहुत कम। प्राकृतिक तब्दीलियों की तो बात ही जाने दीजिए, जिन देशों को यह रास्ता जाता है वे आज दिन भी वैसे ही अकेले बने हुए हैं, जैसे प्राचीन युग में। हाँ, इस रास्ते पर केवल एक फर्क आया है और वह यह है कि प्राचीन काल में इसपर चलनेवाला अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अब जहाजों द्वारा होता है। अगर हम इस रास्ते का प्राचीन व्यापारिक महत्त्व समझ लें, तो हमें पता चल जायगा कि १३ वीं सदी में मंगोलों ने बलख और बामियान पर क्यों धावे बोल दिये और १६ वीं सदी में क्यों अँगरेज अफगानों को रोकते रहे। इस रास्ते का व्यापारिक महत्त्व तो कम हो ही गया है और इसका राजनीतिक महत्त्व भी बहुत दिनों

से सामने नहीं आया है। फिर भी, देश के विभाजन के बाद, भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर के लिए चलनेवाले युद्ध से इस रास्ते का महत्त्व फिर हमारे सामने आया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसी रास्ते से होकर भारत पर अनगिनत चढ़ाइयाँ हुईं और १९ वीं सदी में भी रूसी साम्राज्यवाद के डर से अँगरेज बराबर इसकी हिफाजत करते रहे। किसी भविष्य की चढ़ाई की आशंका से ही अँगरेजों ने इस रास्ते की रक्षा के लिए खैबर और अटक की किलेबन्दियाँ कीं और पंजाब की फौजी छावनियाँ बनवाईं। भारत के विभाजन हो जाने से अब इस रास्ते से सम्बद्ध सामरिक प्रश्न पाकिस्तान के जिम्मे हो गये हैं, फिर भी, यह आवश्यक है कि उत्तर-पश्चिमी सीमा पर होनेवाली हलचलों पर इस देश के निवासी अपना ध्यान रखें तथा अपनी वैदेशिक नीति इस तरह ढालें जिससे ईरान, अफगानिस्तान और पाकिस्तान मेल-जोल के साथ इस प्राचीन पथ की रक्षा कर सकें। यहाँ हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उत्तर-पश्चिमी महापथ ही इस देश में बाहर से आने का एक साधन है। हमारा तो यहाँ यही मतलब है कि यही रास्ता भारत को पश्चिम से मिलाता था। अगर हम उत्तरी भारत, अफगानिस्तान, ईरान और मध्य-पूर्व का नक्शा देखें तो हमें पता चलेगा कि यह महापथ ईरान और सिन्ध के रेगिस्तानों को बचाता हुआ सीधे उत्तर की ओर चित्राल और स्वात की घाटियों की ओर जाता है। प्राचीन और आधुनिक यात्रियों ने इस रास्ते की कठिनाइयों की ओर संकेत किया है, फिर भी, वैदिक आर्य, कुरुष् और दारा के ईरानी सिपाही, सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों के यवन सैनिक, शक, पह्लव, तुखार, हूण और तुर्क, बलज के रास्ते, इसी महापथ से भारत आये। बहुत प्राचीन काल में भी इस महाजनपथ पर व्यापारी, भिक्षु, कलाकार, चिकित्सक, ज्योतिषी, बाजीगर और साहसिक चलते रहे और इस तरह पश्चिम और पूर्व के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक प्रधान जरिया बना रहा। बहुत दिनों तक तो यह महापथ भारत और चीन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एकमात्र जरिया था, क्योंकि चीन और भारत के बीच का पूर्वी मार्ग दुर्गम था, जो केवल उसी समय खुला जब अमेरिकनों ने दूसरे महायुद्ध के समय चीन के साथ यातायात के लिए उसे खोल दिया, पर युद्ध समाप्त होते ही उस रास्ते को पुनः जंगलों ने घेर लिया।

रोमन इतिहास से हमें इस आमनी पथ-पद्धति का पता चलता है। ईसा की प्रारम्भिक सदियों में इन रास्तों से होकर चीन और पश्चिम के देशों में रेशमी कपड़े का व्यापार चलता था। इस पथ-पद्धति में भूमध्यसागर से सुदूरपूर्व को जानेवाले रास्तों में तीन रास्ते मुख्य थे जो कभी समानान्तर और कभी एक दूसरे को काटते हुए चलते थे। इस सम्बन्ध में हम उस उत्तरी पथ को भी नहीं भूल सकते जो कृष्णसागर के उत्तर से होकर कास्पियन समुद्र होता हुआ मध्य एशिया की पर्वतश्रेणियों को पार करके चीन पहुँचता था। हमें लालसागर से होकर भूमध्यसागर तक के समुद्री रास्ते को भी नहीं भूलना होगा, जिसमें हिपालस द्वारा मौसमी हवा का पता लग जाने पर, जहाज किनारे-किनारे न चलकर बीच समुद्र से ही यात्रा कर सकते थे। लेकिन तीनों रास्तों में मुख्य रास्ता उपर्युक्त दोनों पथ पद्धतियों के बीच से होकर गुजरता था। यह शाम, ईराक और ईरान से होता हुआ हिन्दुकुश पार करके भारत पहुँचता था और, पामीर के रास्ते, चीन।

पूर्व और पश्चिम के व्यापारिक सम्बन्ध से शाम के नगरों की अपूर्व अभिवृद्धि हुई। अन्तिओख, चीन और भारत के स्थल-मार्गों की सीमा होने से एक बहुत बड़ा नगर हो गया। पश्चिम के कुछ नगरों का, जैसे, अन्ताखी, रोम और सिकन्दरिया का, इतना प्रभाव बढ़

चुका था कि महाभारत में भी इन नगरों का उल्लेख किया गया है।[1] इस महापथ के पश्चिमी खण्ड का वर्णन चेरेक्स के इसिडोरस ने ऑगस्टस की जानकारी के लिए अपनी एक पुस्तक में किया है।

रोमन व्यापारी स्थल अथवा जलमार्ग से अन्तिओख पहुंचते थे, वहां से यह महाजनपथ अफरात नदी पर पहुंचता था। नदी पार करके रास्ता ऐन्थेम्यूशियन्स होकर नीकेफेरन पहुँचता था, जहां से वह अफरात के बायें किनारे होकर या तो सिल्यूकिया पहुँचता था अथवा अफरात से तीन दिन की दूरी पर रेगिस्तान होकर वह पह्लवों की राजधानी क्टेसिफोन और बगदाद पहुंचता था। यहां से पूरब की ओर मुड़ता हुआ यह रास्ता ईरान के पठार, जिसमें ईरान, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान शामिल थे और जिनपर पह्लवों का अधिकार था, जाता था। बेहिस्तान से होता हुआ फिर यह रास्ता एकबातना (आधुनिक हमदान) जो हखामनियों की राजधानी थी, पहुँचता था और वहां से रेग (रे) जो तेहरान के आस-पास था, पहुंचता था। यहां से यह रास्ता अपने दाहिनी ओर दश्त ए कबीर को छोड़ता हुआ, कोहकाफ को पारकर, कैस्पियन समुद्र के बन्दरगाहों पर पहुंचता था। यहां से यह रास्ता पूरब की ओर बढ़ता हुआ पह्लवों की प्राचीन राजधानी हेकाटाम्पील (दमगान के पास) पहुंचता था और आज दिन भी मशद और हेरात के बीच का यही रास्ता है। शाहरूद के बाद यह रास्ता चार पड़ावों तक काफी खतरनाक हो जाता था, क्योंकि इन चारों पड़ावों पर एलबुर्ज के रहनेवाले तुर्कमान डाकुओं का बराबर भय बना रहता था। उनके डर से यह रास्ता अपनी सिधाई को छोड़कर १२५ मील पश्चिम से चलने लगा। पहाड़ पार करके वह हिर्केनिया अथवा गुरगन की दून में पहुँचता था। यहां वह काराकुम के रेगिस्तान से बचता हुआ पूरब की ओर झुकता था तथा अस्काबाद के नखलिस्तान को पार करके तेजेन और मर्व पहुंचता था और वहां से आगे बढ़कर बलख के घासवाले इलाके में जा पहुँचता था।[2]

बलख की ख्याति इसी बात से थी कि यहां संसार की चार महाजातियां, यथा, भारतीय, ईरानी, शक और चीनी, मिलती थीं। इन देशों के व्यापारी अपने तथा अपने जानवरों के लिए खाने-पीने का प्रबन्ध करते थे और अपन माल का आदान-प्रदान भी। आज दिन भी, जब उस प्रदेश का व्यापार घट गया है, मजार शरीफ में, जिसने बलख का स्थान ग्रहण कर लिया है, व्यापारी, इकट्ठा होते हैं। बलख का व्यापारिक महत्त्व होने पर भी वह कभी बड़ा शहर नहीं था और इसका कारण यही है कि उसमें रहनेवाले लोग फिरन्दर थे और एक जगह जमकर नहीं रहना चाहते थे।

बलख से होकर महाजनपथ पूर्व की ओर चलते हुए वख्शों, दर्रों तथा पामीर की घाटियाँ पार करते हुए काशगर पहुँचता था और वहां से उत्तरी अथवा दक्खिनी रास्तों से होकर चीन पहुंच जाता था। इन रास्तों से भी अधिक उस रास्ते का महत्त्व था जो उत्तर की ओर चलता हुआ वक्षु नदी पर पहुँचता था और उसे पार करके सुग्ध और शकद्वीप होता हुआ यूरो एशियाई रास्तों से जा मिलता था। बलख के दक्खिनी दरवाजे से महापथ भारत को जाता था। हिन्दूकुश और सिन्धु नदी को पार करके यह रास्ता तक्षशिला पहुँचता था और वहाँ वह पाटलिपुत्रवाले महाजनपथ से जा मिलता था। यह महाजनपथ मथुरा में आकर दो शाखाओं में

---

१. महाभारत, २।२८।११

२ फूशे, ल वैय्य रूत द ला एंद, भा० १ पृ० ५-६

बँट जाता था, एक शाखा तो पटना होती हुई ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह को चली जाती थी और दूसरी शाखा उज्जयिनी होती हुई पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित भरुकच्छ के बन्दरगाह को चली जाती थी।

बलख से होकर तक्षशिला तक इस महाजनपथ को कौटिल्य ने हैमवत-पथ कहा है। साँची के एक अभिलेख से यह पता लगता है कि भिक्षु कासपगोत ने सबसे पहले यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार किया[1]। हिन्दूकुश से होकर उत्तर-दक्खिन में कन्धार जानेवाली सड़क की अभी बहुत कम जाँच-पड़ताल हुई है। इसके विपरीत पूर्व से पश्चिम जानेवाली सड़क का हमें अच्छी तरह से पता है। इस रास्ते पर पहले हेरात भारतवर्ष की कुंजी माना जाता था; लेकिन वास्तविक तथ्य यह है कि इस देश की कुंजी काबुल या जलालाबाद, पेशावर अथवा अटक में खोजनी होगी।

कन्धार का आधुनिक शहर भारत से दो रास्तों से सम्बद्ध है। एक रास्ता पूरब जाते हुए डेरागाजीखाँ के पास सिन्ध पर पहुँचता है और वहाँ से होकर मुलतान। दूसरा रास्ता दक्खिन-पूरब होता हुआ बोलन के दर्रे से होकर शिकारपुर के रास्ते करांची पहुँचता है। भारत से कन्धार और हेरात का यही ठीक रास्ता है, जो मर्व के रास्ते से कुश्क में मिल जाता है।

उपर्युक्त हैमवतपथ तीन खण्डों में बाँटा जा सकता है—एक, बलखखण्ड; दूसरा, हिन्दूकुशखण्ड और तीसरा, भारतीय खण्ड। पर अनेक भौगोलिक अड़चनों के कारण इन तीनों खण्डों को एक दूसरे से अलग कर देना कठिन है।

भारतीय साहित्य में बलख का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से हुआ है। महाभारत[2] से पता लगता है कि यहाँ खच्चरों की बहुत अच्छी नस्ल होती थी तथा यहाँ के लोग चीन के रेशमी कपड़ों, पश्मीनों, रत्न, गन्ध इत्यादि का व्यापार करते थे। करीब एक सौ वर्ष पहले प्रसिद्ध अँगरेज यात्री अलेक्जेण्डर बर्न्स ने बलख की यात्रा की थी। उसके यात्रा-विवरण से यहाँ के रहनेवालों का तथा यहाँ की आबहवा और रेगिस्तानों का पता चलता है। बर्न्स का कहना है कि इस प्रदेश में सार्थवाह रात में नक्षत्रों के सहारे यात्रा करते थे। जाड़ों में यह प्रदेश बड़ा कठिन हो जाता है, लेकिन बसन्त में यहाँ पानी बरस जाता है, जिससे चरागाह हरे हो जाते हैं और खेती-बारी होने लगती है। बलख के घोड़े और ऊँट प्रसिद्ध हैं। यहाँ के रहनेवालों में ईरानी नस्ल के ताजिक, उजबक, हजारा और तुर्कमान हैं।

बलख से हिन्दुस्तान का रास्ता पहले पटकेसर पहुँचता है, जहाँ समरकन्दवाला रास्ता उससे आकर मिलता है। यह महापथ तबतक विभाजित नहीं होता जबतक कि वह ताशकुरगन के रास्ते के बालू के ढूहों को नहीं पार कर लेता।

हिन्दूकुश की पर्वतमाला में अनेक पगडंडियाँ हैं, पर रास्ते के लिहाज से वंक्षु तथा सिन्धु और उनकी सहायक नदियों की जानकारी आवश्यक है। पूर्व की ओर बहनेवाली दो नदियाँ उत्तर में सुर्खाब और दक्खिन में गोरबन्द हैं तथा पश्चिम में बहनेवाली दो नदियाँ उत्तर में अन्दराब और दाक्षिण में पंजशीर हैं। इस तरह बलख का पूर्वी रास्ता अन्दराब की ऊँची घाटियों से होकर खावक पहुँचता है और फिर पंजशीर की ऊँची घाटी में होकर नीचे उतरता है। उसी तरह, पश्चिमी रास्ता गोरबन्द की घाटी से उतरने के पहले बाम्यान के उत्तर से निकलता है।

---

1. मार्शल, साँची, १, पृ० २११-२१२
2. मोतीचन्द्र, जियोग्रफिकल ऐण्ड इकनामिक स्टडीज इन महाभारत, पृ० ६०-६१

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, मध्य हिन्दूकुश के रास्ते नदियों से लगकर चलते हैं। हिन्दूकुश के मध्यभाग में कोई बनी-बनाई सड़क नहीं है, लेकिन उत्तरी भाग में बलख, खुल्म और कुन्दूज नदियों के साथ-साथ रास्ते हैं।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, खावक दर्रे से होकर गुजरनेवाला रास्ता काफी प्राचीन है। महाभारत में कावव्य या कावरव्य नामक एक जाति का नाम मिलता है।[1] शायद इसी जाति के नाम से खावक के दर्रे का नाम पड़ा। यह बहुत कुछ सम्भव है कि कावरव्य लोग हिन्दूकुश के पास में पड़ी हुई पंजशीर और गोरबन्द की घाटियों में, जो पूरब की तरफ खावक के दर्रे को जाती हैं, रहते थे।

खावक के रास्ते पर बलख से ताशकुरगन की यात्रा बसन्त में तो सरल है पर गर्मी में रेगिस्तान में पानी की कठिनाई होती है और इसीलिए सार्थ इस मौसम में एक घुमावदार पहाड़ी रास्ता पकड़ते हैं। खुल्म नदी के साथ साथ इस रास्ते पर हैबाक आता है। इसके बाद कुन्दूज नदी के साथ-साथ चलकर और एक कोतल पार करके रोबत-आक का नखलिस्तान आता है। शायद महाभारत-काल के कुन्दमान यहीं रहते थे।[2] यहाँ से चलकर रास्ता नरिन, यार्म तथा समन्दान होते हुए खावक आता है। इसके बाद बाईं ओर कोकचा का रास्ता और लाजवर्द की खदानों को छोड़कर पाँच पड़ावों के बाद पंजशीर की ऊँची घाटी आती है। हिन्दूकुश को पार करने के लिए संगनूरान के गाँव से रास्ता घूमकर अन्दराब, खिजान और दोशाख पार करता है। दोशाख के बाद जेबज़शिराज में बाम्यान से होकर भारत का पुराना रास्ता आता है।

बाम्यान का यह पुराना रास्ता बलख के दक्षिणी दरवाजे से निकलकर बिना किसी कठिनाई के काराकोतल तक जाता है। यहाँ से कपिश के पठार तक तीन घाटियाँ हैं, जिन्हें पहाड़ी रास्ता छोड़ने के पहले पार करना पड़ता है।

बाम्यान के उत्तर में हिन्दूकुश और दक्खिन में कोहबाबा पड़ता है। यहाँ के रहनेवाले खास कर हजारा हैं। बाम्यान की अहमियत इसलिए है कि वह बलख और पेशावर के बीच में पड़ता है। बाम्यान का रास्ता इतना कठिन था कि उसपर रक्षा पाने के लिए ही, लगता है, व्यापारियों ने भारी-भारी बौद्धमूर्तियाँ बनवाईं।[3]

बाम्यान छोड़ने के बाद दो नदियों और रास्तों का संगम मिलता है, इनमें एक रास्ता कोहबाबा होकर हेलमन्द की ऊँची घाटी की ओर चला जाता है। सुर्खाब नदी के दाहिने किनारे की ओर से होकर यह रास्ता उत्तर की ओर मुड़ जाता है औ गोरबन्द होते हुए वह कपिश पहुँच जाता है।

बाम्यान, सालंग और खावक के मिलने पर काफिरिस्तान और हजारजात की पर्वतश्रेणियों के बीच में हिन्दूकुश के दक्षिणी पाद पर एक उपजाऊ इलाका है जो उत्तर में गोरबन्द और पंजशीर नदियों से और दक्षिण में काबुलरूद और लोगर से सींचा जाता है। यह मैदान बहुत प्राचीन काल से अपने व्यापार के लिए भी प्रसिद्ध था, क्योंकि इस मैदान में मध्य हिन्दूकुश के सब

---

१. महाभारत, २ । ४८ । १२

२ महाभारत, २ । ४८ । १३

३. फूशे, वही, पृ० २६

दर्रे खुलते हैं। कपिश से होकर भारत से मध्य एशिया का व्यापार भी चलता था। युवानच्वाङ्[1] के अनुसार कपिश में सब देशों की वस्तुएँ उपलब्ध थीं। बाबर का कहना है कि यहाँ न केवल भारत की ही, बल्कि खुरासान, रूम और ईराक की भी वस्तुएँ उपलब्ध थीं[2]। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण इस मैदान में उस प्रदेश की राजधानी बनना आवश्यक था।

पाणिनि ने अपने व्याकरण (४-२-९९) में कापिशी का उल्लेख किया है तथा महाभारत और हिंद-यवन सिक्कों पर भी कापिशी का नाम आता है। यह प्राचीन नगर गोरबन्द और पंजशीर के संगम पर बसा हुआ था, पर लगता है कि आठवीं सदी में इस नगर का प्रभाव घट गया, क्योंकि अरब भौगोलिक और मंगोल इतिहासकार काबुल की बात करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि काबुल दो थे। एक बौद्धकालीन काबुल जो लोगर नदी के किनारे बसा हुआ था और दूसरा मुसलमानों का काबुल जो काबुल रूद पर बसा हुआ है। अमानुल्ला ने एक तीसरा काबुल दारुलअमान नाम से बसाना चाहा था, पर उसके बसने के पहले ही उन्हें देश छोड़ देना पड़ा। ऊँचाई के अनुसार काबुल की घाटी दो भागों में बँटी हुई है। एक भाग जो जलालाबाद से अटक तक फैला हुआ है, भौगोलिक आधार पर भारत का हिस्सा है, पर दूसरा ऊँचा भाग ईरानी पठार का है। इन दोनों हिस्सों की ऊँचाई की कमी-बेशी का प्रभाव उन हिस्सों के मौसम और वहाँ के रहनेवालों के स्वभाव और चरित्र में साफ-साफ देख पड़ता है।

काबुल से होकर भारतवर्ष के रास्ते काबुल और पंजशीर नदियों के साथ-साथ चलते हैं। पर प्राचीन रास्ता काबुल नदी होकर नहीं चलता था। गोरबन्द नदी के गर्त से बाहर निकलकर पंजाब जाने के पहले वह दक्षिण की ओर घूम जाता था। कापिशी से लम्पक होकर नगरहार (जलालाबाद) का प्राचीन रास्ता पंजशीर की गहरी घाटी छोड़ देता था। इसी तरह काबुल से जलालाबाद का रास्ता भी काबुल नदी की गहरी घाटी छोड़ देता था।

हमें इस बात का पता है कि आठवीं सदी में काबुल अफगानिस्तान की राजधानी था, पर टाल्मी के अनुसार ईसा की दूसरी सदी में भी काबुल कबुर या कबूर (१-१८-४) नाम से मौजूद था और इसका भग्नावशेष आज दिन भी लोगर नदी के दाहिने किनारे पर विद्यमान है। शायद अरखोसिया से बलख तक का सिकन्दर का रास्ता काबुल होकर जाता था। गोरबन्द नदी को एक पुल से पार करके यह रास्ता चारीकर पहुँचता है। खैरखाना पार करके यह रास्ता उपजाऊ मैदान में पहुँचता है जहाँ प्राचीन और आधुनिक काबुल अवस्थित हैं।

काबुल से एक रास्ता बुतखाक पहुँचता है और वहाँ से तंग-ए-गारू का गर्त पार करके वह महापथ से मिल जाता है। दूसरा रास्ता दाहिनी ओर पूरब की ओर चलता हुआ लताबन्द के कोतल में घुसता है और वहाँ से तेजिन नदी पर पहुँचता है। वहाँ से एक छोटा रास्ता करकचा के दर्रे से होकर जगदालिक के ऊपर महापथ से मिल जाता है, लेकिन प्रधान रास्ता समकोण बनाता हुआ तेजिन के उत्तर सेहबाबा तक जाता है, उसके बाद वह दक्षिण-पूर्व की ओर घूमकर जगदालिक का रास्ता पार करता है। इसके बाद ऊपर-नीचे चलता हुआ वह सुर्ख पुल पर सुर्ख-आब नदी पार करता है और अन्त में गन्दमक पर वह पहाड़ी से बाहर निकल आता है। यहाँ से रास्ता उत्तर-पूर्वी दिशा पकड़कर जलालाबाद पहुँच जाता है।

---

१. वाटर्स, आन युआनच्वाङ्, १, १२२

२. बेवरिज, बाबर्स मेमायर्स, पृ० २१९

कापिशी से जलालाबादवाला रास्ता कापिशी से पूर्व की ओर चलता है, फिर दक्खिन-पूर्व की ओर मुड़ता हुआ वह गोरबन्द और पंजशीर की संयुक्तधारा को पार करके निजराओ, तगाओ और दोआब होता हुआ मंद्रावर के बाद काबुल और सुर्खरुद नदियों को पार करके जलालाबाद पहुँच जाता है।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, जलालाबाद (जिसे युवान् च्वाङ[1] ने ठीक ही भारत की सीमा कहा है) के बाद एक दूसरा प्रदेश शुरू होता है। सिकन्दर ने मौर्या' से इस प्रदेश को जीता था, पर इस घटना के बीस वर्ष बाद सेल्यूकस प्रथम ने इसे मौर्यों को वापस कर दिया। इसके बाद यह प्रदेश बहुत दिनों तक विदेशी आक्रमणकारियों के हाथ में रहा, पर अन्त में काबुल के साथ वह मुगलों के अधीन हो गया। १८वीं सदी में नादिरशाह के बाद वह अहमदशाह दुर्रानी के कब्जे में चला गया और अँगरेजी सल्तनत के युग में वह भारत और अफ़गानिस्तान का सीमाप्रांत बना रहा।

सिन्ध और जलालाबाद के बीच में एक पहाड़ आता है जो कुनार और स्वात की दूनें अलग करके पश्चिम में वृत्त बनाता हुआ सफेद कोह के नाम से दक्खिन और पश्चिम में जलालाबाद के सूबे को सीमित करता है।

गन्धार की पहाड़ी सीमा के रास्तों का कोई ऐतिहासिक वर्णन नहीं मिलता। एरियन का कहना है[2] कि सिकन्दर अपनी फौज के एक हिस्से के साथ काबुल नदी की बाईं ओर की सहायक नदियों की घाटियों में तबतक बना रहा जबतक कि काबुल नदी के दाहिने किनारे से होकर उसकी पूरी फौज निकल नहीं गई। कुछ इतिहासकारों ने सिकन्दर का रास्ता खैबर पर ढूँढने का प्रयत्न किया है; पर उन्हें इस बात का पता नहीं था कि उस समय तक खैबर का रास्ता नहीं चला था। इस सम्बन्ध में यह जानने की बात है कि पेशावर पहुँचने के लिए खैबर पार करना कोई आवश्यक बात नहीं है। पेशावर की नींव तो सिकन्दर के चार सौ बरस बाद पड़ी। इसमें कोई कारण नहीं देख पड़ता कि अपने गन्तव्य पुष्करावती, जो उस समय गंधार की राजधानी थी, पहुचने के लिए वह सीधा रास्ता छोड़कर टेढ़ा रास्ता पकड़े। इसमें सन्देह नहीं कि उसने मिचनी दर्रे से, जो नगरहार और पुष्करावती के बीच में पड़ता है, अपनी फौज पार कराई।

भारत का यह महाजनपथ पर्वत-प्रदेश छोड़कर अटक पर सिन्ध पार करता है। लोगों का विश्वास है कि प्राचीनकाल में भी महाजनपथ अटक पर सिन्ध पार करता था, पर महाभारत में[3] शृंगाटक जिसकी पहचान अटक से हो सकती है, का उल्लेख होने पर भी यह मान लेना कठिन है कि महाजनपथ नदी को वहीं पार करता था, गोकि रास्ते की रखवाली के लिए वहाँ द्वारपाल रखने का भी उल्लेख महाभारत में है। ऐसा न मानने का कारण यह है कि प्राचीनकाल में नदी के दाहिने किनारे पर उद्भाड [राजतरंगिणी], उदकभाड [युवानच्वाङ्], वेयंद [अलबीरुनी], ओहिंद [पेशावरी] अथवा उण्ड एक अच्छा घाट था। फारसी में उसे आज दिन भी दर-ए-हिन्दी अथवा हिंद का फाटक कहते हैं। यहीं पर सिकन्दर की फौज ने नावों के

---

१. वाटर्स, वही,
२ एरियन, आनाबेसिस
३. महाभारत, २।१६।१०

पुल से नदी पार की थी। यहीं युवान् च्वाङ् हाथी की पीठ पर चढ़कर नदी पार उतरा था तथा बाबर की फौजों ने भी इसी घाट का सहारा लिया था। अटक तो अकबर के समय में नदी पार उतरने का घाट बन पाया।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महापथ का रास्ता तीन भागों में बाँटा जा सकता है—यथा (१) पुष्करावती पहुँचने के लिए जो मार्ग सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों ने लिया, (२) वह रास्ता, जो चीनी यात्रियों के समय पेशावर होकर उदकभाण्ड पर सिन्ध पार करता था और (३) आधुनिक पथ, जो सीधा अटक को जाता है।

जलालाबाद से पुष्करावती (चारसद्दा) वाले रास्ते पर दक्का तक का रास्ता पथरीला है। उसके उत्तर में मोहमंद [पाणिनि, मधुमंत] और दक्षिण में सफेदकोह में शिनवारी कबीले रहते हैं। दक्का के बाद पूरब चलते हुए दो कोतल पार करके मिचनी आता है। मिचनी के बाद नदियों के उतार की वजह से प्राचीन जनपथ के रास्ते का ठीक-ठीक पता नहीं चलता; पर भाग्यवश दक्खिन पूर्व की ओर घूमती हुई काबुल नदी ने प्राचीन महापथ के चिह्न छोड़ दिये हैं। यहां हम सोन के बायें किनारे चलकर काबुल और स्वात के प्राचीन संगम पर, जो आधुनिक संगम से आगे बढ़कर है, पहुँचते हैं। यहीं पर गन्धार की प्राचीन राजधानी पुष्करावती थी जिसके स्थान पर आज प्राङ्, चारसद्दा और राजर गाँव हैं। यहां से महापथ सीधे पूरब जाकर होतीमर्दन जिसे युवान् च्वाङ् ने पो-लु-चा कहा है और जहाँ शहबाज गढ़ी में अशोक का शिलालेख है, पहुँचता था। यहाँ से दक्खिन-पूर्व की ओर चलता हुआ महापथ उण्ड पहुँचता था। सिन्ध पार करके महाजनपथ तक्षशिला के राज्य में घुसकर हसन अब्दाल होता हुआ तक्षशिला में पहुँचता था।

काबुल से पेशावर तक का रास्ता बाद का है। किंवदन्ती है [१] कि एक गड़ेरिये के रूप में एक देवता ने कनिष्क को संसार में सबसे ऊँचा स्तूप बनाने के लिए एक स्थान दिखलाया जहाँ पेशावर बसा। जो भी हो, ऐसे नीचे स्थान में जिसकी सिंचाई अफ्रीदी पहाड़ियों में गिरनेवाले सोतों, विशेष कर, बारा से होता है और जहाँ सोलहवीं सदी तक बाघ और गैंडों का शिकार होता था, राजधानी बनाना एक राजा की सनक ही कही जा सकती है।

ईसा की पहली सदी से पेशावर राजधानी बन बैठा और इसीलिए उसे कापिशी से, जो भारतीय शकों की गर्मी की राजधानी थी, जोड़ना आवश्यक हो गया। यह पथ खैबर होकर दक्का पहुँचा और इसी रास्ते की रक्षा के लिए अंग्रेजों ने किले बनवाये। दक्का से जमरूद के किले का रास्ता, दक्का और मिचनी के रास्ते से कुछ दूर पर, उतना ही ऊबड़ खाबड़ है। इसी रास्ते पर पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सीमा है। लंडी कोतल के नीचे अली मस्जिद है। अन्त में प्राचीन पथ आधुनिक रास्ते से होता हुआ पेशावर छावनी पहुँचता है।

तक्षशिला पहुँचने के लिए काबुल और स्वात की मिली धारा पार करनी पड़ती थी, पर खैबर के रास्ते ऐसा करना जरूरी नहीं था। पेशावर से पुष्करावती और होतीमर्दन होते हुए उण्ड का रास्ता दूर पड़ता था; पर उसपर हर मौसम में घाट चलते थे। नक्शे से पता चलता है कि काबुल नदी गन्धार के मैदान में आकर खुल जाती है। पूर्वकाल में कभी उसने अपना रास्ता किसी चौड़ी सतह में बदल दिया जिसका नतीजा यह हुआ कि स्वात के साथ उसका आधुनिक

---

१. फूशे, वही, पृ०, ४१

संगम चीनी यात्रियों के समय के संगम के नीचे पड़ता है। पुष्करावती का अध पतन भी शायद इसी कारण से हुआ हो।

बाबर ने पंजाब जाने के लिए एक सुगम घाट पार किया। इसके मानी होते हैं कि कोई दूसरा घाट भी था। कापिशी से पुष्करावती होकर तक्षशिला के मार्ग में बहुत-सी नदियाँ पड़ती थीं; लेकिन कापिशी और पुष्करावती के समाप्त हो जाने पर जब महापथ काबुल और पेशावर के बीच चलने लगा तो उसका मतलब बहुत-से घाट उतरने से अपने को बचाना था। यह रास्ता काबुल नदी का दक्खिनी किनारा पकड़ता है, इसलिए आप-ही-आप वह अटक की ओर, जहां सिन्धु नद सँकरा पड़ जाता है और पुल बनाने लायक हो जाता है, पहुँच जाता है।

प्राचीन राजपथों की एक खास बात थी कि वे प्राचीन राजधानियों को एक दूसरे से मिलाते थे। राजधानियाँ बदल जाने पर रास्तों के रुख भी बदल जाते थे। राजधानियों के बदलने के खास कारण स्वास्थ्य, व्यापार, राजनीति, धर्म, नदियों के फेर-बदल अथवा राजाओं की स्वेच्छा थी। राजधानियों के हेर-फेर कई तरह से होते थे। बलख की तरह हेर-फेर होने पर भी राजधानी एक ही स्थान के आस-पास बनती रही अथवा कापिशी की तरह वह प्राचीन नगरी के आसपास बनती रही। कभी-कभी जैसे दो बाम्यानों, दो काबुलों और तीन तक्षशिलाओं की तरह वह एक ही घाटी में बनती रही। कभी-कभी प्राचीन नगरों के अवनत होने पर नये नगर पड़ोस में खड़े हो जाते थे, जैसे, प्राचीन बलख की जगह मजार शरीफ, कापिशी की जगह काबुल, पुष्करावती की जगह काबुल, उदभांड की जगह अटक और तक्षशिला की जगह रावलपिण्डी।

अगर हम भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में हिन्दूकुश के उत्तरी और दक्खिनी रास्तों की जाँच-पड़ताल करें तो हमें पता चलता है कि सब युगों में रास्ते एक समान ही नहीं चलते थे। पहाड़ी प्रदेश में रास्तों में कम हेर-फेर हुआ है; पर मैदान में ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए बलख, बाम्यान, कापिशी, पुष्करावती और उद्भांड होकर तक्षशिला का रास्ता सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों तथा अनेक बर्बर जातियों द्वारा व्यवहार में लाया जाता था। वही रास्ता आधुनिक काल में मजार शरीफ अथवा खानाबाद, बाम्यान या सालंग, काबुल, पेशावर तथा अटक होकर रावलपिण्डी पहुचता है। मध्यकालीन रास्ता इन दोनों के बीच में मिल-जुलकर चलता था। पुरुषपुर की स्थापना के बाद ही प्राचीन महापथ का रुख बदला और धीरे-धीरे पुष्करावती के मार्ग पर आना-जाना कम हो गया। आठवीं सदी में कापिशी के पतन और काबुल के उत्थान से भी प्राचीन राजमार्ग पर काफी असर पड़ा। नवीं सदी में जब काबुल और खैबर का सीधा सम्बन्ध हो गया तब तो पुष्करावती का प्राचीन राजमार्ग बिलकुल ही ढीला पड़ गया।

इस प्राचीन महापथ का सम्बन्ध सिन्ध की तरफ बहनेवाली नदियों से भी है। टालमी के अनुसार, कुनार का पानी चित्राल की ऊँचाइयों से आता था और इसीलिए जलालाबाद के नीचे नाव चलना मुश्किल था। अब प्रश्न यह उठता है कि टालमी किसी स्थानीय अनुश्रुति के आधार पर ऐसी बात कहता है क्या, क्योंकि आज दिन भी पेशावरियों का विश्वास है कि स्वात नदी बड़ी है और काबुल नदी केवल उसकी सहायकमात्र है, उन दोनों के सम्मिलित स्रोत का नाम लण्डई है, जिसका पंजकोरा से मिलने के बाद स्वात नाम पड़ता है। स्थानीय अनुश्रुति में तथ्य हो या न हो, काबुल के राजधानी बनते ही उसके राजनीतिक महत्त्व से काबुल नदी बड़ी मानी जानी लगी। प्राचीन कुभा यानी काबुल नदी कहाँ से निकलती थी और कहाँ बहती थी, इसका ऐतिहासिक विवरण हमें प्राप्त नहीं होता, लेकिन यह खास बात है कि वह नदी प्राचीन मार्ग का अनुसरण करती

थी और काबुल नदी के लिए उसकी विचार-संगति की बोधक थी। अगर यह बात ठीक है तो कुभा नदी का नाम जलालाबाद के नीचे ही सार्थक न होकर उस स्रोत के लिए भी सार्थक है जो प्राचीन राजधानियों के राजपथ को घेरकर चलता था। यह भी खास बात है कि कापिशी, लम्पक, नगरहार और पुष्करावती पश्चिम से पूर्व जानेवाली काबुल नदी पर पड़ते थे। दाहिने किनारे पर काबुल और लोगर का मिला-जुला पानी केवल एक सोते-सा लगता है; लेकिन कापिशी के ऊपर पंजशीर की महत्ता घट जाती है और गोरबंद काबुल नदी के ऊपरी भाग का प्रतिनिधित्व करने लगती है। इस तरह बढ़कर गोरबंद पेशावर की ऊँचाइयों पर बहती हुई एक बड़ी नदी होकर सिन्ध में मिल जाती है।[1]

बलख से लेकर तक्षशिला तक चलनेवाले महापथ के बारे में हमें बौद्ध और संस्कृत-साहित्य में बहुत कम विवरण मिलता है। लेकिन भाग्यवश महाभारत में उस प्रदेश के रहनेवाले लोगों के नाम आये हैं, जिनसे पता लगता है कि भारतीयों को उस महापथ का यथेष्ट ज्ञान था। अर्जुन के दिग्विजयक्रम में[2] बाह्लीक के पूर्व वङ्क्षु, वक्षु और पामीर की घाटियों से होकर काशगर के रास्ते की ओर संकेत है। वङ्क्षु के दूधवालों का भारतीयों को पता था[3]। कुन्दमान (म० भा० २।४८।१३) शायद कुन्दुज की घाटी में रहनेवाले थे। इसी रास्ते से शायद लोग कंबोज भी जाते थे, जिसकी राजधानी द्वारका का पता आज दिन भी दरवाज से चलता है। महाभारत को शक, तुखार और कंको का भी पता था जो उस प्रदेश में रहते थे जिसमें वंक्षु नदी को पार करके सुग्ध और शकद्वीप होते हुए महाजनपथ यूरेशिया के मैदान के महामार्ग से मिल जाता था (म० भा० २।४७।२५)। बलख से भारत के रास्ते पर कार्पासिक का बोध कपिश से होता है (म० भा० २।४७।७)। मध्य एशिया के रास्ते पर शायद काराकोरम को मेरु और कुएनलुन को मंदर कहा गया है तथा खोतन नदी को शीतोदा (म० भा० २-४८-२)। इस प्रदेश के फिरंदर लोगों को ज्योह, पशुप और जस कहा गया है जिनसे आज दिन किरगिजों का बोध होता है। काशगर के आगे मध्य एशिया के महापथ पर चीनों, हूणों और शकों का उल्लेख है (म० भा० २।४७।१६)। इसी मार्ग पर शायद उत्तर कुरु भी पड़ता था, जिसका अपभ्रंश रूप कोरैन, जिसकी पहचान चीनी इतिहास के लूलान से की जाती है,। शक भाषा का शब्द है।

भारतीयों को इस रास्ते का भी पता था जो हेरात से होकर बलूचिस्तान और सिन्ध जाता था। बलूचिस्तान में लोग खेती के लिए बरसात पर आश्रित रहते और बस्तियाँ अधिकतर समुद्र के किनारे होती थीं। हेरात के रहनेवाले लोग शायद हारहूर थे। परिसिन्धुप्रदेश में रहनेवाले वैरामकों (म० भा० २।४८।१२) को जो बलूचिस्तान में रहते थे और जिनका पता हम यूनानी भौगोलिकों के रम्बकीया से मिलता है तथा पारद, वंग और कितव रहते थे (म० भा० २।४७।१०)। बलूचिस्तान का यह रास्ता कलात और मूला होकर सिन्ध में आता था। मूला के रहनेवालों को महाभारत में मौलेय कहा गया है और उनके उत्तर में शिवि रहते थे (म० भा० २।४८।१४)।

---

1. फूशे, वही, १, ४१
2. महाभारत २।२४।१२—२७
3. मोतीचन्द्र, वही, पृ० ४८—४१

उत्तर-भारत की पथ-पद्धति

उत्तर-भारत के मैदानों में पेशावर से ही महाजनपथ पूरब की ओर जरा-सा दक्षिणाभिमुख होकर चलता है। सिन्धु के मैदान के रास्ते पंजाब की नदियों के साथ-साथ दक्षिण की ओर जरा-सा पश्चिमाभिमुख होकर चलते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि तक्षशिला होकर महाजनपथ काशी और मिथिला तक चलता था। जातकों से पता चलता है कि बनारस से तक्षशिला का रास्ता घने जंगलों से होकर गुजरता था और उसमें डाकुओं और पशुओं का भय बराबर बना रहता था। तक्षशिला उस युग में भारतीय और विदेशी व्यापारियों का मिलन-केन्द्र था। बौद्ध - साहित्य से इस बात का पता चलता है कि बनारस, श्रावस्ती और सोरेय्य (सोरों) के व्यापारी तक्षशिला में व्यापार के लिए आते थे।[1]

पेशावर से गंगा के मैदान को दो रास्ते आते हैं। पेशावर से सहारनपुर होकर लखनऊ तक की रेलवे लाइन उत्तरी रास्ते की द्योतक है और इस रास्ते से हिमालय का बहिर्गिरि कभी ज्यादा दूर नहीं पड़ता। यह रास्ता लाहौर को छूने के लिए वजीराबाद से दक्षिण जरा झुकता है, लेकिन वहाँ से जलन्धर पहुँचते-पहुँचते फिर वह अपनी सिधाई ठीक कर लेता है। इस पथ के समानान्तर दक्षिणी रास्ता चलता है जो लाहौर से रायविंड, फ़िरोज़पुर और भटिण्डा होकर दिल्ली पहुँचता है। दिल्ली में वह रास्ता यमुना पार करके दोआब में घुसता है और गंगा के दाहिने किनारे को पकड़े हुए इलाहाबाद पहुँच जाता है; जहाँ वह पुन यमुना को पार करके गंगा के दक्षिण से होकर आगे बढ़ता है। लखनऊ से उत्तरी रास्ता गंगा के उत्तर-उत्तर चलकर तिरहुत पहुँचता है और वहाँ से कटिहार और पार्वतीपुर होकर आसाम पहुँच जाता है। दक्षिणी रास्ता इलाहाबाद से बनारस पहुँचता है और गंगा के दाहिने किनारे से भागलपुर होकर कलकत्ता पहुँच जाता है अथवा पटना होकर कलकत्ता चला जाता है।

इन दोनों रास्तों की बहुत-सी शाखाएँ हैं जो इन दोनों को मिलाती हैं। अयोध्या होकर बनारस और लखनऊ की ब्रांच-लाइन उत्तरी और दक्खिनी रास्तों को मिलाने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि बनारस के आगे गंगा काफी चौड़ी हो जाती है और केवल अग्निबोट ही उत्तरी और दक्खिनी मार्गों को मिलाने में समर्थ हो सकते हैं। पुलों की कमी की वजह से तिरहुत, उत्तरी बंगाल और आसाम के रास्तों का केवल स्थानिक महत्त्व है। इनकी गणना भारत के प्रसिद्ध राजमार्गों में नहीं की जा सकती।

बनारस के नीचे गंगा तथा ब्रह्मपुत्र का काफी व्यापारिक महत्त्व है। ग्वालन्दो से, जहाँ गंगा ब्रह्मपुत्र का संगम होता है, स्टीमर बराबर आसाम में डिबरूगढ़ तक चलते हैं और बाढ़ में तो वे सदिया तक पहुँच जाते हैं। देश के विभाजन ने आसाम और बंगाल के बीच आयात-निर्यात के प्राकृतिक साधनों में बड़ी गड़बड़ी डाल दी है। उत्तर-बिहार से होकर नई रेलवे लाइन भारत से बिना पाकिस्तान गये हुए आसाम को जोड़ती है, फिर भी आसाम का प्राकृतिक मार्ग पूर्वी पाकिस्तान होकर ही पड़ता है।

पेशावर-पार्वतीपुर के उत्तरी महापथ से बहुत-से उपपथ हिमालय को जाते हैं। ये उपपथ मालाकन्द दर्रे के नीचे नौशेरा-दर्गई, सियालकोट-जम्मू, अमृतसर-पठानकोट, अंबाला-शिमला, लस्कर-देहरादून, बरेली-काठगोदाम, हाजीपुर-रक्सौल, कटिहार-जोगबानी तथा गीतलदह-जयन्तिया

---

1. डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, १, ६८२

की ब्रांच-लाइनों द्वारा अंकित है। उसी तरह महापथ के दक्खिनी भाग मे बहुत-से रास्ते फूटकर विन्ध्य पार करके दक्खिन की ओर जाते हैं। ये रास्ते उपपथ न होकर महापथ हैं। इनका वर्णन बाद में किया जायगा।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, पंजाब से सिन्ध के रास्ते नदियों के साथ-साथ चलते हैं। भटिंडा से एक रास्ता फूटकर सतलज के साथ-साथ जाता है; उसी तरह अटक से एक दूसरा रास्ता फूटकर सिन्धु के साथ साथ चलता है। इन दोनों रास्तों के बीच में पाँच रास्ते हैं जो पंजाब की पांचों नदियों की तरह एक बिन्दु पर मिलते हैं। सिन्धु-पथ नदी के दोनों किनारों पर चलते हैं और रोहरी और कोटरी पर पुलों द्वारा सम्बद्ध हैं।

सिन्ध की उत्तर-पश्चिमी पहाड़ियों पर कच्छी गंदाव के मैदान का खाँचा है, जहाँ प्राचीन समय में शिवि रहते थे। इसी मैदान से होकर सक्कर से बलूचिस्तान के दर्रों को रेल गई है।

प्राचीनकाल में सिन्ध और पंजाब की नदियों में नावों से यातायात था। दारा प्रथम ने अपने राज्य के आरम्भ में निचले सिन्ध में होकर अरबसागर में पहुँचने का मन्सूबा बाँधा था, लेकिन ऐसा करने से पहले उसने उस प्रदेश की छानबीन की आज्ञा दी थी। अन्वेषक-दल के नेता स्काइलाक्स बनाये गये और उनका बेड़ा कश्यपपुर (यूनानी कस्पपाइरोस) पर, जिसकी पहचान मुलतान से की जाती है[1], उतरा। यहीं से ईरानियों का दूसरा धावा शुरू हुआ। मुलतान के कुछ नीचे, चिनाब के बाएँ किनारे पर, ५१६ ई० पू० में दारा का बेड़ा पहुँचा और ढाई वर्ष बाद जब यह बेड़ा मिस्र में अपने राजा के पास आया तब उसने नील नदी और लालसागर के बीच नहर खोल दी थी। श्री फूशे के अनुसार यह यात्रा ईरान की खाड़ी और अरबसागर के बीच के समुद्री रास्ते को मिलाने के लिए आवश्यक थी। दारा के अधिकार में लालसागर और निचले सिन्ध के बन्दरगाहों के आते ही हिन्दमहासागर सुरक्षित हो गया और मिस्र के बन्दरों से ईरानी जहाज कुशलतापूर्वक सिन्ध के बन्दरगाहों तक आने लगे। पर सिन्ध पर ईरानियों और यूनानियों का अधिकार थोड़े ही समय तक रहा। जब सिकन्दर के अनुयायी सिन्ध के निचले भाग में पहुँचे तो उन्हें वहाँ के ब्राह्मण-जनपदों का कठोर सामना करना पड़ा। ख्याल किया जा सकता है कि ईरानियों को भी कुछ ऐसा ही सामना करना पड़ा होगा। सिकन्दर की फौज के आगे बढ़ जाने पर पुन ब्राह्मण-जनपद प्रबल हो उठे। सिकन्दर का नौकाध्यक्ष मकदूनी नियर्कस इस बात को स्वीकार करता है कि सिन्ध के रहनेवालों के प्रबल विरोध के कारण ही उसे सिन्ध जल्दी ही छोड़ देना पड़ा। भारत पर अपने धावों के बाद महमूद गजनी लौटने के लिए यही रास्ता पकड़ता था। सोमनाथ की लूट के बाद, गजनी लौटते समय, पंजाब की घाटियों के जाटों ने उसे खूब तंग किया। उन्हें सबक देने के लिए महमूद दूसरे साल लौटा और मुल्तान में १४०० नावों का एक बेड़ा तैयार किया, लेकिन बागी जाटों ने उसके जवाब के लिए ४००० नावों का बेड़ा तैयार किया।[2] आधुनिक काल में पंजाब की नदियों पर यातायात कम हो गया है; केवल सिन्धु पर ही सामान ढोने के लिए कुछ नावें चलती हैं।

यहाँ पर हम सिन्धु-गंगा के उत्तरी और दक्षिणी मार्गों की तुलना कर देना चाहते हैं। उत्तरी रास्ता पंजाब के उपजाऊ मैदान से होकर गुजरता है। इसके विपरीत, दक्खिनी रास्ता

---

१. फूशे, वही, पृ० १४

२. कैंब्रिज हिस्ट्री, ३, पृ० २१

सूखे ऊँचे प्रदेश से होकर गुजरता है। भविष्य में जब झंग और डेराइस्माइलखाँ होकर गजनी और गोमल की तरफ रेल निकल जायगी तब इसका महत्त्व बढ़ जायगा। पर दिल्ली से लेकर बनारस तक दोनों ही मार्गों की अहमियत उपजाऊ मैदान में जाने से एक-सी है। फिर भी, उत्तरी रास्ता हिमालय प्रदेश का व्यापार सँभालता है और दक्खिनी रास्ता विन्ध्य-प्रदेश का। बनारस के बाद, दक्खिनी रास्ते का उत्तरी रास्ते के बनिस्बत प्रभाव बढ़ जाता है; क्योंकि उत्तरी रास्ता तो आसाम की ओर रुख करता है पर दक्खिनी रास्ता कलकत्ता से समुद्र की ओर जाता है। चीन में कम्युनिस्ट राज तथा तिब्बत और उत्तरी बर्मा पर उनके प्रभाव से उत्तरी रास्ते का महत्त्व किसी समय बढ़ सकता है।

पेशावर से बंगाल के रास्ते पर नदियों के सिवा सामरिक महत्त्व के तीन स्थल हैं; यथा, अटक और झेलम के बीच में नमक की पहाड़ियाँ, कुरुक्षेत्र का मैदान तथा बंगाल और बिहार के बीच राजमहल की पहाड़ियाँ। मैदान में नदियाँ विशेषकर बरसात में, यान-निर्यात में अड़चन पैदा करती हैं और, इसीलिए, प्राचीन जनपथ हिमालय के पास-पास से चलता था, जिससे नदी उतरने का सुभीता रहे। प्राचीन समय में ये घाट बढ़ते हुए शत्रुदलों को रोकने के लिए बड़े काम के थे।

अटक और झेलम के बीच का प्रदेश बड़े सामरिक महत्त्व का है, क्योंकि नमक की पहाड़ियाँ उपजाऊ सिन्ध-सागर-दोआब के उत्तरी भाग को नीचे से सूखे-सखे प्रदेश से अलग करती हैं। इसके ठीक उत्तर हजारा को रास्ता जाता है, तथा झेलम के साथ चलता हुआ रास्ता कश्मीर को।

खास पंजाब सतलज के पूर्वी किनारे पर समाप्त हो जाता है और वहीं फिरोजपुर और भटिंडा की छावनियाँ दिल्ली जानेवाले रास्ते की रक्षा करती हैं। कुरुक्षेत्र का मैदान सिन्ध और गंगा की नदी-पद्धतियों के जलविभाजक का काम करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुरुक्षेत्र का मैदान बड़े सामरिक महत्त्व का है। इसके उत्तर में हिमालय पड़ता है और दक्षिण में मारवाड़ का रेगिस्तान। इन दोनों के बीच में एक तंग मैदान सतलज और यमुना के खादर जोड़ता है। पंजाब और दक्षिण के बीच का यही प्राकृतिक रास्ता है। अगर पंजाब से बढ़ती हुई शत्रुसेना सतलज तक पहुंच जाय तो भौगोलिक अवस्था के कारण उसे कुरुक्षेत्र के मैदान में आना होगा। कौरवों और पाण्डवों का महायुद्ध यहीं हुआ था तथा पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी के बीच भारत के भाग्य का फैसला करनेवाली तरावड़ी की लड़ाई भी यहीं लड़ी गई थी। पानीपत में बाबर द्वारा इब्राहीम के हराये जाने पर यहीं पुन. एक बार भारत के भाग्य का निबटारा हुआ। १८ वीं सदी में अहमदशाह अब्दाली ने यहीं मराठों को हराकर उनकी रीढ़ तोड़ दी। देश-विभाजन के बाद पश्चिमी पंजाब से भागते हुए शरणार्थियों ने भी इसी मैदान में इकट्ठे होकर अपनी जान और इज्जत की रक्षा की।

गंगा के मैदान के घाट भी उतना ही महत्त्व रखते हैं, जितना पंजाब की नदियों के घाट। दिल्ली, आगरा, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, बनारस, पटना और भागलपुर नदियों के किनारे बसे हैं और उन नदियों के पार उतरने के रास्तों की रक्षा करते हैं। गंगा और यमुना के संगम पर प्रयाग तथा गंगा और सोन के संगम पर पटना सामरिक महत्त्व के नगर हैं, पर साथ-ही-साथ यह जान लेना चाहिए कि यमुना और उसकी सहायक नदियों पर प्रयाग तक लगनेवाले घाट तथा गंगा के दक्खिनी सिरे पर लगनेवाले घाट भीतर के लगनेवाले घाटों की अपेक्षा विशेष महत्त्व के

हैं। आगरा, धौलपुर, कालपी, प्रयाग और चुनार इसी श्रेणी में आते हैं। मालवा और राजस्थान का मार्ग यमुना को आगरा पर पार करता है तथा बुन्देलखण्ड और मालवा का रास्ता उसी नदी को कालपी पर। प्राचीनकाल में प्रयाग के कुछ ही ऊपर कौशाम्बी बसा था जहाँ भड़ौच से एक रास्ता आता था। कौशाम्बी के नीचे गंगा और यमुना पर खूब नावें चलती थीं। इसका स्थान अब प्रयाग ने ले लिया है।

उत्तरप्रदेश और बंगाल से आनेवाली सेनाओं के मिलने का प्राकृतिक स्थान बिहार में बक्सर है; क्योंकि इसके बाद गंगा इतनी चौड़ी हो जाती है कि वह केवल अग्निबोटों से ही पार की जा सकती है। उदाईभद्र द्वारा पाटलिपुत्र की नींव डालना भी इसी मतलब से था कि गंगा के घाट की लिच्छवियों के बढ़ते हुए प्रभाव से रक्षा की जा सके। पटना के आगे दक्षिण बिहार की पहाड़ियाँ गंगा के साथ-साथ बंगाल तक बढ़ जाती है और इसीलिए बिहार से बंगाल का रास्ता एक सँकरी गली से होकर निकलता है।

हमने ऊपर उत्तर भारत की पथ-पद्धति का सरसरी दृष्टि से एक नक्शा खींचा है और यह भी बतलाने का प्रयत्न किया है कि ये रास्ते किन भौगोलिक परिस्थितियों के अधीन होकर चलते हैं, पर यहाँ हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जिन रास्तों का हमने ऊपर वर्णन किया है उनके विकास में हजारों वर्ष लग गये होंगे। हमें पता चलता है कि ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी या उसके कुछ पहले भी उत्तरी और दक्षिणी महाजनपथ विकसित हो उठे थे। इस बात की भी सम्भावना है कि इन्हीं रास्तों से होकर उत्तर-पश्चिम से आर्य भारत में भूस्थापना के लिए आगे बढ़े। हम ऊपर बाह्लीक-पुष्करावती, काबुल-पेशावर तथा पेशावर-पुष्करावती-तक्षशिला के रास्तों के टुकड़ों की छानबीन कर चुके हैं। और यह भी बता चुके हैं कि महाभारत ने कहाँ तक उन सड़कों के नाम छोड़े हैं। बौद्धपालि-साहित्य में बलख से तक्षशिला होकर मथुरा तक के राजमार्ग का बहुत कम विवरण है। भाग्यवश, रामायण तथा मूलसर्वास्तिवादियों के 'विनय' में तक्षशिला से लेकर मथुरा तक चलनेवाले रास्ते का अच्छा विवरण है।[1] मूलसर्वास्तिवादियों के विनय से पता चलता है कि जीवक कुमारभृत्य तक्षशिला से भद्रंकर, उदुम्बर और रोहीतक होते हुए मथुरा पहुँचा। श्रीप्रिजलुस्की ने भद्रंकर की पहचान साकल यानी, सियालकोट से की है। उदुम्बर पठानकोट का इलाका था और रोहीतक आजकल का रोहतक है। चीनी यात्री चेमाट् ने इसी रास्ते पर अग्रोनक का नाम भी दिया है जिसकी पहचान रोहतक जिले में अगरोहा से की जा सकती है।[2]

ऐसा मालूम पड़ता है कि इस सड़क पर औदुम्बरों का काफी प्रभाव था जो कि उनकी भौगोलिक स्थिति की वजह से कहा जा सकता है। पठानकोट के रहनेवाले उदुम्बर मगध और कश्मीर के बीच के व्यापार में हिस्सा बटाते थे। कांगड़ा के व्यापार में भी उनका हिस्सा होता था; क्योंकि आज दिन भी चम्बा, नूरपुर और काँगड़ा की सड़कें यहाँ मिलती हैं। देश के बँटवारे के बाद पठानकोट और जम्मू के बीच की नई सड़क भारत और कश्मीर की घाटी के जोड़ने का एकमात्र रास्ता है। प्राचीन समय में इस प्रदेश में बहुत अच्छा ऊनी कपड़ा भी बनता था जिसे कोदुंबर कहते थे।

---

१ शिलवांट टेक्स्, ३, २, ९-३३—३९

२ जूर्नाल आशियातीक, १९२६, पृ० ३-७

साकल यानी आधुनिक सियालकोट, प्राचीन समय में मद्रों की राजधानी था [1]। इस नगर को मिलिन्द-प्रश्न में पुटभेदन कहा गया है। पुटभेदन में बाहर से थोक माल की मुहरबन्द गठरियाँ उतरती थीं और वहाँ गठरियाँ तोड़कर उनका माल फुटकरियों के हाथ बेच दिया जाता था।

पठानकोट-रोहतकवाले हिस्से पर, महाभारत के अनुसार बहुधान्यक (लुधियाना), शैरीषक (सिरसा) और रोहीतक पड़ते थे (म० भा० २।२६।५-६)। महाभारत को रोहतक के दक्षिण पड़नेवाले रेगिस्तानी इलाकों का भी पता था। रोहतक से होकर प्राचीन महापथ मथुरा चला जाता था जो प्राचीन भारतवर्ष में एक बहुत बड़ा व्यापारी नगर था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, रामायण में (२।७४।११-१५) भी पश्चिम पंजाब से लेकर अयोध्या तक के प्राचीन महापथ का उल्लेख है। केकय से भरत को अयोध्या लाने के लिए दूत अयोध्या के बाद गंगा पार करके हस्तिनापुर (हसनापुर, मेरठ जिला) पहुँचे। उसके बाद वे कुरुक्षेत्र आये। वहाँ वारुणी तीर्थ देखकर उन्होंने सरस्वती नदी पार की। उसके बाद उत्तर की ओर चलते हुए उन्होंने शरदंडा (आधुनिक सरहिंद नदी) पार की। आगे बढ़कर वे भूलिंगों के प्रदेश में पहुँचे और शिवालिक के पार की पहाड़ियों पर उन्होंने सतलज और व्यास को पार किया। इस तरह चलते हुए वे अजकूला नदी (आधुनिक आजी) पर बसे हुए शाकल नगर में आये और वहाँ से तक्षशिला के रास्ते से केकय की राजधानी गिरिव्रज, जिसकी पहचान जलालपुर के पास गिर्यक से की जाती है, पहुँचे।

मथुरा से लेकर राजगृह तक महाजनपथ का अच्छा वर्णन बौद्ध-साहित्य में मिलता है। मथुरा से यह रास्ता वेरंजा, सोरेय्य, संकिस्स, कण्णकुज्ज होते हुए पयागतिथ्थ पहुँचता था जहाँ वह गंगा पार करके बनारस पहुचता था [2]। इसी रास्ते पर वरणा (बारन-बुलन्दशहर) और आलवी (अरवल) भी पड़ते थे। वेरंजा की ठीक-ठीक पहचान नहीं हुई है, लेकिन यह जगह शायद धौलपुर जिले में बारी के पास कहीं रही होगी जहाँ से अलबीरूनी के समय में महाजनपथ का एक खण्ड शुरु होता था। अंगुत्तरनिकाय में कहा गया है कि बुद्ध ने वेरंजा के पास सड़क पर भीड़ को उपदेश दिया [3]। सोरेय्य की पहचान एटा जिले के प्रसिद्ध तीर्थ सोरों से की जाती है। इस नगर का तक्षशिला के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था [4]। संकिस्स की पहचान फर्रुखाबाद जिले के संकीसा गाँव से की जाती है। बौद्ध-साहित्य के अनुसार श्रावस्ती से यह तीस योजन पर पड़ता था। रेवत थेरा, सोरेय्य (सोरों) से सहजाति के रास्ते पर (भीटा, इलाहाबाद) संकिस्स, कण्णकुज्ज, उदुम्बर और अग्गलपुर होकर गुजरे। आलवक, श्रावस्ती से तीस योजन और राजगृह के रास्ते पर, बनारस से दस योजन पर था [5]। कहा जाता है कि एक समय बुद्ध श्रावस्ती से कीटागिरि (केराकत, जौनपुर जिला, उत्तरप्रदेश) पहुँचे। वहाँ से आलवी होते हुए अन्त में राजगृह आ पहुँचे [6]। कौशाम्बी सार्थों का प्रधान अड्डा था और यहाँ से कोशल और मगध को बराबर रास्ते

---

१. मोतीचन्द्र, वही, ४, पृ० ६१-६६

२ विनय, ३, २

३ डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, देखो वेरंजा

४. धम्मपद अट्ठकथा १, १२३

५. वही, ३, २२४

६. विनय, २, १७०-७५

चला करते थे।[१] नदी के रास्ते बनारस की दूरी यहाँ से तीस योजन थी। माहिष्मती होकर दक्षिणापथवाला रास्ता कौशाम्बी होकर गुजरता था।[२]

पूर्व-पश्चिम महाजनपथ पर, जिसे पालि-साहित्य में पुब्बन्ता-अपरन्त कहा गया है, बनारस एक प्रधान व्यापारिक नगर था (जा० ४, ४०५, गा० २४४)। इसका सम्बन्ध गन्धार और तक्षशिला से था (धम्मपद, अट्ठकथा, १, १२३)। तथा सोवीरवाले रास्ते से यहाँ घोड़े और खच्चर आते थे।[३] उत्तरापथ के सार्थ बहुधा बनारस आते थे।[४] बनारस का चेदि (बुन्देलखण्ड) और उज्जैन के साथ, कौशाम्बी के रास्ते, व्यापारिक सम्बन्ध था।[५] यहाँ से एक रास्ता राजगृह को जाता था[३] और दूसरा श्रावस्ती को। श्रावस्तीवाला रास्ता कीटगिरि होकर जाता था। वेरंजा से बनारस को दो रास्ते थे। सोरेय्यवाला रास्ता पेचीदा था, लेकिन दूसरा रास्ता गंगा को प्रयाग में पार करके, सीधा बनारस पहुँच जाता था। बनारस से महाजनपथ, उक्कचेल (सोनपुर, बिहार) पहुँचता था और वहाँ से वैशाली (बसाढ़— जिला मुजफ्फरपुर, बिहार), जहाँ श्रावस्ती से राजगृह के रास्ते के साथ वह मिल जाता था।[७] बनारस और उरुवेल (गया) के बीच भी एक सीधा रास्ता था। बनारस का अधिक व्यापार गंगा से होता था। बनारस से नावें प्रयाग जाती थीं और वहाँ से यमुना के रास्ते इन्द्रप्रस्थ पहुँचती थीं।[८]

उत्तरापथ से दूसरा रास्ता कोसल की राजधानी श्रावस्ती को आता था। यह रास्ता, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, सहारनपुर से लखनऊ होकर बनारस को रेल का रास्ता पकड़ता था। लखनऊ से यह रास्ता गोंडे की ओर चला जाता था। इस रास्ते पर कुरुजांगल, हस्तिनापुर और श्रावस्ती पड़ते थे।

श्रावस्ती से राजगृह का रास्ता वैशाली होकर जाता था। पर्यायवग्ग[९] में श्रावस्ती और राजगृह के बीच निम्नलिखित पड़ाव दिये हैं—यथा सेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा और भोगनगर। उपर्युक्त पड़ावों में सेतव्या, जो जैन-साहित्य में केयइअद्ध की राजधानी कही गई है[१०], सहेठ-महेठ, यानी श्रावस्ती के ऊपर पड़ती थी। राप्ती नदी पर नेपालगंज स्टेशन से कुछ दूर नेपाल में बालापुर के पास श्री० वी० स्मिथ को एक प्राचीन नगरी के भग्नावशेष मिले थे (जे० आर० ए० एस०, १८९८, पृ० ५२७ से) जिन्हें उन्होंने श्रावस्ती का भग्नावशेष मान लिया, पर श्रावस्ती तो सहेठ-महेठ है। बहुत सम्भव है कि बालापुर के भग्नावशेष सेतव्या के हों।

---

१. विनय, १, २७७
२. सुत्तनिपात, १०१०-१०१३
३. जा०, १, १२४, १९८, १८१; २, ३१, २८७
४. दिव्यावदान, पृ० २२
५. जा०, १, ११३-२४
६. विनय, १, २१२
७ विनय, १, २२०
८. जा० ६, ४४७
९. डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापरनेम्स २, ११२९
१०. जैन, लाइफ इन एंशेंट इंडिया एजड डिपिक्टेड इन जैन केनन्स, पृ० २२४, बंबई, १९४७

पावा की पहचान गोरखपुर जिले की पडरौना तहसील के पपउर गाँव से की जाती है। वैशाली में श्रावस्तीवाला उत्तरी रास्ता और बनारसवाला दक्खिनी रास्ता मिल जाते थे। प्रधान रास्ता तो चंपा (भागलपुर) को चला जाता था। पर एक दूसरा रास्ता दक्षिण की ओर राजगृह की तरफ मुड़ जाता था। श्रावस्ती से साकेत होकर कौशाम्बी को भी एक रास्ता था। विशुद्धि मग्ग (पृ० २९०) के अनुसार श्रावस्ती से साकेत सात योजन पर स्थित था और घोड़ों की डाक से यह रास्ता एक दिन में पार किया जा सकता था। इस रास्ते पर डाकू लगते थे और राज्य की ओर से यात्रियों के लिए रक्षकों का प्रबन्ध था।[1]

श्रावस्ती (सहेठ-महेठ, गोंडा जिला, उत्तर प्रदेश) प्राचीन काल में एक मशहूर व्यापारिक नगरी थी और यहाँ के प्रसिद्ध सेठ अनाथ पिण्डिक बुद्ध के अनन्य सेवक थे। उपनगर में बहुत-से निषाद रहते थे जो शायद नाव चलाने का काम करते थे।[2] नगर के उत्तरी द्वार से एक रास्ता पूर्वी भद्दिया (मुंगेर के पास) जाता था। यह सड़क नगर के बाहर अचिरावती को नावों के पुल से पार करके आगे बढ़ती थी। श्रावस्ती के दक्खिनी फाटक के बाहर खुले मैदान में फौज पड़ाव डालती थी। नगर के चारों फाटकों पर चुंगीघर थे।

पालि-साहित्य में भिन्न-भिन्न नगरों से श्रावस्ती की दूरी दी हुई है जिससे उसका व्यापारिक महत्त्व प्रकट होता है। श्रावस्ती से तक्षशिला १९२ योजन पर थी, सकिस्स (संकीसा) ३० योजन, साकेत (अयोध्या) ६ योजन, राजगृह ६० योजन, मच्छिकासण्ड ३० योजन, सुप्पारक (सोपारा) १२० योजन, अग्गालव ३० योजन, उग्रनगर १२० योजन, कुररघर १२० योजन, अंगुलिमाल २० योजन और चन्द्रभागा नदी (चेनाव) १२० योजन, पर श्रावस्ती से इन स्थानों की ठीक-ठीक दूरी इसलिए निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि प्राचीन भारत में योजन की माप निर्धारित नहीं थी। अगर हम योजन को आठ अंग्रेजी मील के बराबर भी मान लें तब भी श्रावस्ती से उपर्युक्त स्थानों की नक्शे पर दी गई दूरियाँ ठीक नहीं बैठतीं।

श्रावस्ती से महाजनपथ वैशाली पहुँचकर पूरब चलता हुआ भद्दिया (मुंगेर) पहुँचता था और फिर प्रसिद्ध व्यापारिक नगर चम्पा। यहाँ से वह कजंगल (कॉकजोल, राजमहल, बिहार) होते हुए बंगाल में घुसकर ताम्रलिप्ति (तामलुक) पहुँच जाता था।

वैशाली से दक्षिण जानेवाली महापथ की शाखा पर अनेक पड़ाव थे जिनपर बुद्ध राजगृह से कुसीनारा की अपनी अंतिम यात्रा में ठहरे थे।[3] वे राजगृह से अंबलट्ठिक और नालन्दा होते हुए पाटलिग्राम में गंगा पार कर कोटिगाम और नादिका होते हुए वैशाली पहुँचे थे। यहाँ से श्रावस्ती का रास्ता पकड़कर भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बुगाम, भोगनगर तथा उत्तर पावा (पपउर, पडरौना तहसील, गोरखपुर) होते हुए वे मल्लों के शालकुंज में पहुँचे थे। गंगा के मैदान में उत्तरी और दक्षिणी रास्तों के उपर्युक्त वर्णन से हम प्राचीन काल में उनकी चाल का पता लगा सकते हैं। महाजनपथ तक्षशिला से साकल, पठानकोट होता हुआ रोहतक पहुँचता था। पानीपत के मैदान में उसकी दो शाखाएँ हो जाती थीं। दक्षिणी शाखा थूणा (थानेसर), इन्द्रप्रस्थ होकर मथुरा, सोरेय्य (सोरों), कंपिल, सकिस्स (संकीसा), कण्णकुज्ज

---

1. 'डिक्शनरी''', २, १०८४
2. राहुल, पुरातत्त्वनिबंधावली, पृष्ठ, ३३ ३४, इलाहाबाद १९३९
3. डिक्शनरी'''२, ७२३

(कन्नौज) होते हुए आलवी (अरवल) पहुँचती थी। गंगा के दाहिने किनारे-किनारे चलता हुआ रास्ता नदी को प्रयाग में पार करके बनारस पहुँचता था। प्रयाग के पास कौशाम्बी से एक रास्ता साकेत होकर श्रावस्ती चला जाता था; पर प्रधान पथ उत्तर-पूरब की ओर चलते हुए सहजाति (सोनपुर) पहुँचता था और वहाँ से वैशाली जहाँ वह उत्तरी रास्ते से मिल जाता था। यह उत्तरी रास्ता अम्बाला होते हुए हस्तिनापुर पहुँचता था। उसके बाद रामगंगा पार करके वह साकेत पहुँचता था और उत्तर जाते हुए श्रावस्ती से होकर कपिलवस्तु । वहाँ से दक्खिन-पूर्वी रुख पकड़कर पावा और कुशीनारा होता हुआ रास्ता वैशाली पहुँचकर दक्खिनी रास्ते से मिल जाता था। फिर यहाँ से दक्खिन-पूर्वी रुख लेकर वह भद्दिया, चम्पा, कजंगल होता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचता था। वैशाली से दक्खिन राजगृह का रास्ता पाटलिग्राम, उरुवेल और गोरथगिरि (बराबर की पहाड़ी) होता हुआ राजगृह पहुँचता था। कुरुक्षेत्र से राजगृह के इस रास्ते का उल्लेख महाभारत (म० भा० २।१८।२६-३०) में भी है। कृष्ण और भीम इसी रास्ते से जरासन्ध के पास राजगृह पहुँचे थे। महाभारत के अनुसार यह रास्ता कुरुक्षेत्र से आरम्भ होकर कुरुजांगल होकर तथा सरयू पार करके पूर्वकोशल (शायद कपिलवस्तु) होकर मिथिला पहुँचता था। इसके बाद गंगा और सोन के संगम को पार करके वह गोरथगिरि पहुँचता था जहाँ से राजगृह साफ-साफ दिखलाई देता था।

चीनी यात्री भी उत्तर-भारत की पथ-पद्धति पर काफी प्रकाश डालते हैं। फाहियेन (करीब ४०० ई०) और सुंगयुन (करीब ५२१ ई०) उड्डीयान के रास्ते भारत में घुसे; पर युवानच्वाङ् ने बलख से तक्षशिला का सीधा रास्ता पकड़ा और लौटते समय वे कन्धार के रास्ते लौटे। तुर्फान और कापिशी के बीच का इलाका उस समय तुर्कों के अधीन था। युवानच्वाङ् बलख, कापिशी, नगरहार, पुरुषपुर, पुष्करावती और उदभाण्ड होते हुए तक्षशिला पहुँचे।

चौदह बरस बाद जब युवानच्वाङ् भारत से चीन को लौटे तो वे उदभाण्ड में कुछ समय तक ठहरे। फिर वहाँ से लम्पक (लगमान) होते हुए खुर्रम की घाटी से होकर वर्णु (बन्नू) के दक्षिण में पहुँचे। वर्णु या 'फलन' में उस युग में वजीरिस्तान के सिवाय गोमल और उसकी दो सहायक नदियाँ म्कोन (यव्यावती) और कन्दर की घाटियाँ भी शामिल थीं। वहाँ से २००० ली चलने के बाद उन्होंने एक पर्वतमाला (तोबा-ककेर) और एक बड़ी घाटी (गजनी, तरनाक) पर भारतीय सीमा पार की और किलात-ए-गिलजई के रास्ते वह त्साओ-किउ-त्स यानी जागुड (बाद की जगुरी) पहुँचे। जागुड के उत्तर का प्रदेश फो-लि-शि-तंग-ना अथवा वृजिस्थान था जिसका नाम आज भी उजरिस्तान अथवा गर्जिस्तान में बच गया है।[1]

युवानच्वाङ् के यात्रा-विवरण से इस बात का पता नहीं चलता कि उन्होंने पश्चिम का कौन-सा रास्ता लिया और वह कपिश के रास्ते से कहाँ मिलता था। श्री फूशे का खयाल है कि उनका रास्ता अरगंदाब के उद्गम से दश्त-ए-नावर और बोकन के दर्रे से होता हुआ लोगर अथवा उसकी सहायक नदी खावत की ऊँची घाटी पर पहुँचता था।[2] यहाँ से कपिश पहुँचने के लिए उन्होंने उत्तर-पूर्वी रुख लिया और उनका रास्ता हेरात-काबुल के रास्ते से हजारजात में जलरेज पर अथवा कन्धार-गजनी-काबुल के रास्ते से मैदान पर आ मिला। काबुल से वे पगमान के बाहर पहुँचे

---

१. फूशे, वही, पृ० २३१

२ फूशे, वही, पृ० २३२

और फिर उत्तर का रुख करके उन्होंने कपिश की सीमा पर अनेक पर्वत, नदियाँ और कस्बे पार किये। आधुनिक भौगोलिक ज्ञान के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने हिंदूकुश के दक्खिन पहुँचने के लिए पगमान का पूर्वी पाद पार किया। इस रास्ते पर उन्हें यह कठिन दर्रा मिला जिसकी पहचान कूशे खावक से करते हैं। जो भी हो, युवानच्वाङ् इस रास्ते से अंदराब की घाटी में पहुँचे और वहाँ से उत्तर के रुख में खोस्त होते हुए वे बदख्शाँ और वहाँ से पामीर पहुँचे।

भारत के भीतर यात्रा में युवानच्वाङ् ने गन्धार में पहुँचकर बहुत-से संघाराम और बौद्धतीर्थ देखने के लिए अनेक रास्ते लिये। गन्धार से वे उड्डियान (स्वात) की राजधानी मंग-की यानी मंगलोर पहुँचे।[1] इस प्रदेश की सैर करके उत्तर-पूर्व से वे दरेल में घुसे।[2] यहाँ से कठिन पहाड़ी यात्रा में झूलों से सिन्ध पार करके वे बोनोर पहुँचे।[3] इसके बाद वे पुनः उद्भाण्ड लौट आये और वहाँ से तक्षशिला पहुँचे। तक्षशिला के उरश (हजारा जिला) के रास्ते वे कश्मीर पहुँचे। वहाँ से वे एक कठिन रास्ते से पूँछ पहुँचे और पूँछ से राजोरी होते हुए वे कश्मीर के दक्खिन-पश्चिम में पहुँचे।[4] कश्मीर जाने के लिए बाद में मुगलों का यही रास्ता था। राजोरी से दक्खिन-पूर्व में जाकर वे टक्क देश पहुँचे और दो दिनों की यात्रा के बाद व्यास पार करके वे साकल पहुँचे।[5] यहाँ से वे चीनभुक्ति या चीनपति, जहाँ कनिष्क ने चीन के कैदी रखे थे और जिसकी पहचान कसूर से २७ मील उत्तर पत्ती से की जाती है, पहुँचे।[6] यहाँ से तमसावन होते हुए वे उत्तर-पूरब में जालन्धर पहुँचे। यहाँ से कुलू की यात्रा करके वे पार्यात्र पहुँचे जिसकी पहचान अभी नहीं हो सकी है। यहाँ से वे कुरुक्षेत्र होते हुए मथुरा आये।

तक्षशिला और मथुरा के बीच महापथ के उपर्युक्त विवरण से यह साफ हो जाता है कि ७ वीं सदी में भी महाजनपथ का रुख वही था जो बौद्धकाल में, गो कि उसपर पड़नेवाले बहुत-से नाम, शताब्दियों में राजनैतिक कारणों से, बदल गये थे।

युवानच्वाङ् की यात्रा का दूसरा मार्ग स्थानेश्वर (थानेसर) से शुरू होता है। यहाँ से वह उत्तर-पूर्व में सु-लु-किन होते हुए रोहिलखण्ड में मतिपुर पहुँचे।[7] यहाँ के बाद गोविषाण (काशीपुर, कुमाऊँ) और उसके बाद दक्खिन-पूर्व में अहिच्छत्र पड़ा।[8] इसके बाद दक्खिन में विलसाण (अतरंजी खेड़ा, एटा जिला, यू० पी०)[9] पड़ा और इसके बाद संकाश्य या संकीस, इसके बाद, कान्यकुब्ज होते हुए वे अयोध्या पहुँचे[10] और वहाँ से अयमुख और प्रयाग होते हुए वे विशोक पहुँचे।

चीनी यात्री के रास्ता हेर-फेर कर देने से उपर्युक्त यात्रा गड़बड़-सी लगती है। थानेसर से अहिच्छत्र तक तो उन्होंने उत्तरी पथ पकड़ा, पर उसके बाद कन्नौज से दक्खिनी रास्ते से वे प्रयाग

---

१. वाटर्स, वही, पृ० १, २२७
२ वही, २३६
३. वही, २३६—४०
४. वही १, २८३-८४
५ वही, १, २८६ से
६ वही, १, २९२ से
७. वही, १, ३२४
८. वही, १, ३१७
९. वही, १, ३२२
१०. वही, ३३०-३३१
११. वही, ३३२-३३३
११. वही, ३५४

पहुँचे, पर विशोक से, जिसकी पहचान शायद लखनऊ जिले से की जा सकती है, वे फिर उत्तरी मार्ग पर होकर श्रावस्ती पहुँचे[1] और वहाँ से कपिलवस्तु जो ७ वीं सदी में पूरा उजाड़ हो चुका था।[2] कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी होकर वे रामग्राम पहुंचे और वहाँसे कुशीनारा।[3]

ऊपर दक्षिण मार्ग से, हम अपने यात्री की यात्रा प्रयाग तक, जहाँ से गंगा पार करके बनारस पहुँचा जाता था, देख चुके हैं। कुशीनारा से बनारस पहुँचकर हमारे यात्री ने बिहार की तरफ यात्रा की। वे बनारस से गंगा के साथ-साथ, चान-चु प्रदेश, जिसकी पहचान महाभारत के कुमार विषय[4] से की जा सकती है और जिसमें उत्तर प्रदेश के गाजीपुर और बलिया जिले पड़ते हैं, पहुँचे। यहाँ से आगे बढ़ते हुए वे वैशाली पहुँचे।[5] यहाँ नेपाल की यात्रा करके वापस आये और फिर पाटलिपुत्र आये।[6] पाटलिपुत्र से उन्होंने गया और राजगृह की यात्रा की।

शायद फिर वे राजगृह से वैशाली लौटे और महापथ पकड़कर चम्पा (भागलपुर, बिहार)[7] होते हुए कजंगल (कंकजोल, राजमहल, बिहार) पहुँचे और वहाँ से उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन होते हुए ताम्रलिप्ति पहुँचे।[8]

उपर्युक्त विवरण से हमें पता चलता है कि सातवीं सदी में भी वे ही रास्ते चलते थे जो ई० पू० पाँचवीं सदी में। ईसा की ग्यारहवीं सदी में भी भारत की पथ-पद्धति वही थी, गो कि इस युग में ऊपर के बहुत-से प्राचीन नगर नष्ट हो गये थे और उनकी जगह नये नगर बस गये थे। ग्यारहवीं सदी की इस पथ-पद्धति में, अलबीरुनी के अनुसार,[9] पन्द्रह मार्ग आते थे जो कन्नौज, मथुरा, अनहिलवाड, धार, बाड़ी और बयाना से चलते थे। कन्नौजवाला रास्ता प्रयाग होते हुए उत्तर का रुख पकड़कर ताम्रलिप्ति पहुँचता था और वहाँ से समुद्र का किनारा पकड़कर कांची मे होकर सुदूर दक्षिण पहुँचता था। कन्नौज से प्रयाग तक के रास्ते पर निम्नलिखित पड़ाव पड़ते थे यथा जाजमऊ, अभपुरी, कड़ा और ब्रह्मशिला। यह बात साफ है कि यह रास्ता दक्खिनी रास्ते के एक भाग की ओर संकेत करता है। बाड़ी (योनपुर की एक तहसील) से गंगासागर के महापथ में हम उत्तरी महापथ के चिह्न पा सकते हैं। बाड़ी से रास्ता अयोध्या होते हुए बनारस पहुँचता था और यहाँ दक्खिनी मार्ग के साथ होकर उत्तर-पूर्व के रुख में सरवार (गोरखपुर, उत्तर प्रदेश) होकर पटना, मुंगेर, चम्पा (भागलपुर), दुगमपुर होते हुए गंगासागर जहाँ गंगा समुद्र से मिलती है, पहुँचता था। कन्नौज से एक रास्ता (नं ४) आसी (अलीगढ़, उत्तर प्रदेश), जन्द्रा (?) और राजौरी होते हुए बयाना (भरतपुर, राजस्थान) पहुँचता था। नं० १४ की यात्रा कन्नौज से पानीपत, अटक, काबुल से गजनी तक चलती थी। नं० १५ की यात्रा की सड़क बारामूला से अदिस्थान तक की थी। नं० ५ की यात्रा कन्नौज से कामरूप, नेपाल और तिब्बत की सीमा को जाती थी। स्पष्ट है कि यह यात्रा गंगा के मैदान की उत्तरी सड़क से होती थी।

मुगल-काल में उत्तर-भारत की पथ-पद्धति का पता हमें डब्लू० फिंच, तावर्नियर, टीफेन थालर और बहादुरगुनशन से लगता है। रास्तों पर पड़नेवाले पड़ावों के नाम यात्रियों ने भिन्न-भिन्न

---

१ वही, १७७
२. वही, २, १ से
३. वही, २, २५
४. वही, २, २१, म० भा०, २।२।७।१
५. वही, २, ६३
६. वही, २, ८१ से
७. वही २, १८१
८. वही, २, १८६
९. सचाऊ, इंडिया; १, पृ० २०० से

दिये हैं जिनका कारण यह है कि वे स्वयं भिन्न-भिन्न पड़ावों पर ठहरे। चहारगुलशन में ऐसे २४ रास्तों का उल्लेख है, पर वास्तव में, वे रास्ते महापथों के टुकड़े ही थे।

मुगल-काल में महापथ काबुल से आरम्भ होकर बेग्राम, जगदालक, गण्डमक, जलालाबाद, और अलीमस्जिद होते हुए पेशावर पहुँचता था। यहाँ से वह अटक के रास्ते हसन अब्दाल होते हुए रावलपिण्डी पहुँचता था। यहाँ से रोहतास और गुजरात होकर वह लाहौर आता था।[1] काबुल से एक रास्ता, चारिकार के रास्ते, गोरबन्द और तालीकान होकर बदख्शाँ पहुँचता था।

खुसरो की बगावत दबाने के बाद जहाँगीर ने काबुल से लाहौर तक इसी रास्ते से सफर किया था।[2] चहारगुलशन [3] ने इस रास्ते पर बहुत-से पड़ावों के नाम दिये हैं। लाहौर से काबुल का यह रास्ता शाहदौला पुल से रावी पार करके खक्करचीमा (गुजरानवाला से १०½ मील उत्तर) पहुँचता था, फिर वजीराबाद के बाद, चेनाब पार करके गुजरात जाता था, गुजरात के बाद झेलम पार करना पड़ता था और रावलपिण्डी के बाद अटक पर सिंधु पार किया जाता था; अन्त में, पेशावर होकर काबुल पहुँचा जाता था।

लाहौर से कश्मीर का रास्ता गुजरात तक महापथ का ही रास्ता था। यहाँ से कश्मीर का रास्ता फूटकर भीमबर, नौशेरा, राजोरी, थाना, शादीमर्ग और हीरपुर होते हुए श्रीनगर पहुँचता था। राजौरी से पूँछ होते हुए भी एक रास्ता बारामूला को जाता था। आज दिन भी यह रास्ता चलता है और कश्मीर के प्रश्न को लेकर इसी पर काफी घमासान हुई थी। टीफेनथालर के अनुसार १८वीं सदी के अन्त की अराजकता के कारण व्यापारी कश्मीर जाने के लिए नजीबगढ़ आजमगढ, धरमपुर, सहारनपुर, ताजपुर, नहान, बिलासपुर, हरीपुर, मकरोटा, बिसूली, भद्दरवा और कष्टवार होकर घुमावदार, पर सलामत रास्ते को पकड़ते थे। शिमला की पहाड़ियों के बीच से होकर जानेवाला यह रास्ता व्यापारियों को लूटपाट से बचाता था।

लाहौर से मुल्तान का रास्ता औरंगाबाद, नौशहरा, चौकीफत्तू, हड़प्पा और तुलुम्ब होकर गुजरता था।[4]

लाहौर से दिल्ली तक का रास्ता पहले होशियारनगर, नौरंगाबाद और फतेहाबाद होते हुए सुल्तानपुर पहुँचता था, जहाँ शहर के पश्चिम काजना नदी पर और उत्तर में सतलज पर घाट लगते थे। वहाँ के बाद जहाँगीरपुर पर सतलज की पुरानी सतह मिलती थी और उसके बाद फिल्लौर और लुधियाना आते थे। यहाँ से सड़क, सरहिन्द, अम्बाला, थानेश्वर, तरावड़ी, कर्नाल, पानीपत और सोनीपत होते हुए दिल्ली पहुँचती थी।[5]

दिल्ली से आगरे की सड़क बड़ापुल, बदरपुर, बल्लभगढ, पलवल, मथुरा, नौरंगाबाद, फरहसराय और सिकन्दरा होकर आगरा पहुँचती थी। दिल्ली-मुरादाबाद-बनारस-पटनावाला रास्ता गाजिउद्दीननगर, डासना, हापुड, बागसर, गढमुक्तेश्वर और अमरोहा होकर मुरादाबाद पहुँचता था। मुरादाबाद से बनारस तक के पड़ावों का उल्लेख नहीं मिलता। बनारस से सड़क

१. डब्लू० फास्टर, अर्ली ट्रावेल्स इन इंडिया, पृ० १६१ से, लंदन, १६२१
२ तुजुक, १, पृ० ६० से
३ जे० सरकार, इंडिया आफ औरंगजेब, पृ० सी से, कलकत्ता, १६०१
४. वही, पृ० CVI-CVII
५. वही, पृ० XCVIII से

गाजीपुर होकर बक्सर पहुँचती थी जहाँ सात मील दक्खिन में, गंगा पार करके रानीसागर होकर पटना पहुँचती थी।[1] तावर्नियर के अनुसार[2] आगरा-पटना-ढाकावाली सड़क आगरा से फिरोजाबाद, इटावा तथा औरंगाबाद होते हुए इलाहाबाद पहुँचती थी। इलाहाबाद में मासूल जमा करने के बाद सूबेदार से दस्तक लेकर गंगा पार करके जगदीशसराय होते हुए व्यापारी बनारस पहुँचते थे। गंगा पार करते समय यात्रियों के माल की छान-बीन होती थी और उनसे चुंगी वसूल की जाती थी। बनारस से सैय्यदराजा और मोहन की सराय होकर रास्ता पटना की ओर जाता था। करमनासा नदी खुर्रमाबाद में और सोन सासाराम में पार की जाती थी। इसके बाद दाऊदनगर और अरवल होते हुए पटना आ पहुचना था। पटना से ढाका के लिए तावर्नियर ने नाव ली तथा बाढ, मुंगेर, भागलपुर, राजमहल होते हुए वह हाजरापुर पहुँचा। यहाँ से ढाका ४५ कोस पड़ता था। लौटते समय तावर्नियर ढाका से कासिमबाजार होते हुए नाव से हुगली पहुँचा।

मुगल-काल में उत्तर भारत की पथ-पद्धति से हम इस नतीजे को पहुचते हैं कि सिवाय कुछ उपपथों के मध्यकालीन पद्धति से उसमें बहुत कम हेर-फेर हुआ। काबुल से पेशावर तक सीधा रास्ता था। काबुल से गजनी होकर कन्धार का रास्ता चलता था। लाहौर से गुजरात होकर कश्मीर का रास्ता था। पेशावर-बंगाल पथ का दिल्ली-लाहौर खण्ड वही रुख लेता था जो प्राचीनकाल में। गंगा के मैदान का उत्तरी पथ दिल्ली से मुरादाबाद होकर पटना जाता था। दिल्ली से मुलतान को भी सड़क चलती थी। पर मध्यकालीन और मुगलकालीन पथ-पद्धतियों में केवल एक फर्क था और वह यह था कि मुगल-युग की सड़कें उन शहरों से होकर गुजरने लगी थीं जो मुसलमानी सल्तनत में बने और फूले-फले, और भारत की पथ-पद्धति का इतिहास देखते हुए यह ठीक ही था।

दक्षिण और पश्चिम भारत की पथ-पद्धति

वास्तव में सतपुड़ा की पहाड़ियाँ और विन्ध्यपर्वतश्रेणी उत्तर-भारत को दक्खिन और सुदूर-दक्षिण से अलग करती हैं। विन्ध्यपर्वत अपने प्राकृत सौन्दर्य के साथ-साथ अपने उन पथों के लिए भी प्रसिद्ध है जो उत्तर भारत को पश्चिम किनारे के बन्दरों और दक्षिण के प्रसिद्ध नगरों से जोड़ते हैं। पश्चिम से पूर्व चलते हुए इन राजमार्गों में चार या पाँच जानने लायक हैं।

मारवाड़ के रेगिस्तान और कच्छ के रन की भौगोलिक परिस्थिति के कारण गुजरात और सिन्ध के बीच का रास्ता बड़ा कठिन है। इसीलिए प्राचीन काल में पंजाब और गुजरात के बीच का रास्ता मालवा से होकर जाता था, लेकिन कभी-कभी महमूद-जैसे बड़े विजेता काठियावाड़ का रास्ता कम करने के लिए सिन्ध और मारवाड़ होकर भी गुजरते थे। पर गुजरात और सिन्ध के बीच का रास्ता मामूली तौर से समुद्र से होकर था।

आलावला की पहाड़ियों की तरह दिल्ली-अजमेर-अहमदाबाद का रास्ता मध्य राजस्थान को काटता हुआ आलावला के पश्चिम पाद के साथ अजमेर के आगे तक जाता है। यही रास्ता राजस्थान और दक्खिन के बीच का प्राकृतिक पथ है।

---

१. वही, पृ० CIX

२. तावर्नियर, ट्रावेल्स, पृ० ११९-२०

मथुरा-आगरावाला रास्ता चम्बल की घाटी के ऊपर होते हुए उज्जैन को जाता है और फिर नर्मदा की घाटी में। दक्खिन जानेवाले प्राचीन राजमार्ग का भी यही रुख था। मण्डवा और उज्जैन के बीच जहाँ रेल नर्मदा को पार करती है वहाँ माहिष्मती नगरी थी जिसे अब मंडसर कहते हैं। शायद आर्यों की दक्षिण में बसने वाली यह पहली नगरी है। यह नर्मदा पर उस जगह बसी है जहाँ पर विन्ध्य-पर्वत का गुजरीघाट और सतपुड़ा का सेन्धवाघाट विन्ध्य के दक्षिण जाने के लिए प्राकृतिक मार्ग का काम देते हैं। सतपुड़ा पार करने के बाद दूसरी ओर ताप्ती नदी पर बुरहानपुर पड़ता है। वहाँ से ताप्ती घाटी के साथ-साथ खानदेश होता हुआ एक रास्ता पश्चिमी घाट को पार करके सूरत जाता है और दूसरा रास्ता पूना की घाटी के ऊपर से होता हुआ बरार और गोदावरी की घाटी को चला जाता है।

उज्जयिनी प्राचीन अवन्ती की राजधानी थी। पूर्वी मालवा को आकर कहते थे और इसकी राजधानी विदिशा थी जिसे आज लोग भेलसा के नाम से जानते हैं। प्राचीन महापथ की एक शाखा भरुकच्छ और सुप्पारक के प्राचीन बन्दरगाहों से होती हुई उज्जैन के रास्ते मथुरा पहुँचती थी। महापथ की दूसरी शाखा विदिशा से बेतवा की घाटी होती हुई कौशाम्बी पहुँचती थी। इस प्राचीन पथ का रुख हम भेलसा से झाँसी होते हुए कालपी के रेल-पथ से पा सकते हैं। इसी रास्ते को गोदावरी के किनारे रहनेवाले ब्राह्मण तपस्वी के शिष्यों ने पकड़ा था। बौद्ध साहित्य में यह कथा आई है कि [1] बावरी ने एक ब्राह्मण के शाप का अर्थ समझने के लिए अपने शिष्यों को बुद्ध के पास भेजा था। उसके शिष्यों ने आलक से अपनी यात्रा आरम्भ की। वहाँ से वे पतिट्ठान (पैठन-हैदराबाद प्रदेश), महिस्सति (महेसर-मध्यभारत), उज्जेणी (उज्जैन-मध्य भारत) गोनद्ध, वेदसा (भेलसा-मध्यभारत), वन सहय होते हुए कौशाम्बी पहुँचे। मथुरा-आगरा के दक्खिन कानपुर और प्रयाग तक नीचे देखने से पता चलता है कि बेतवा, टोंस और केन के मार्ग एक दूसरे रास्ते की ओर इशारा करते हैं। केन और टोंस के बीच में विन्ध्यपर्वत की पन्ना शृंखला सँकरी पड़ जाती है। उसे पार करके सोन और नर्मदा के जल-विभाजक और जबलपुर तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। जबलपुर के पास तेवर चेदियों की प्राचीन राजधानी थी। प्रयाग से जबलपुर का रास्ता बुन्देलखण्ड के महामार्ग का द्योतक है। जबलपुर के कुछ ही उत्तर कटनी से एक दूसरा मार्ग छत्तीसगढ़ को जाता है। जबलपुर से एक रास्ता वेन गंगा का रुख करते हुए गोदावरी की घाटी को जाता है। जबलपुर का खास रास्ता नर्मदा घाटी के साथ-साथ चलता हुआ भेलसा के रास्ते इटारसी पर मिलता है और उज्जैन-माहिष्मती का रास्ता खण्डवा पर।

विन्ध्यपर्वत की पथ-पद्धति दक्खिन में समाप्त हो जाती है। मालवा और राजस्थान से होकर दिल्ली और गुजरात का रास्ता बड़ौदा के बाद समुद्र के किनारे से दक्षिण की ओर जाता है; पर इसका महत्त्व समुद्र और मैदान के बीच सह्याद्रि की दीवार आ जाने से बहुत कम हो जाता है। बम्बई के बाद तो यह रास्ता उपपथों में परिणत हो जाता है।

मालवा का रास्ता सह्याद्रि को नासिक के पास नाना घाट से पार करता है और वहाँ से सोपारा चला जाता है।

प्रयाग से जबलपुर का बुन्देलखण्ड-पथ नागपुर जाकर आगे गोदावरी की घाटी पकड़-

---

1. डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, देखो—बावरी

कर आन्ध्रदेश पहुच जाता है। बस्तर और मैकाल की पहाड़ियों के घने जंगलों की वजह से यहँ रास्ता बहुत नहीं चलता था।

दक्षिण-भारत के पथ नदियों के साथ-साथ चलते हैं। पहला रास्ता मनमाड से मसुली-पट्टम के रेलमार्ग के साथ चलता है। दूसरा पूना से काञ्जीवरम् को जाता है, तीसरा-गोआ से तञ्जोर-नेगापटन, चौथा कालीकट से रामेश्वरम् और पाँचवाँ रास्ता केवल एक स्थानिक मार्ग है, पर चौथा रास्ता पालघाट को पार करता हुआ मालाबार और चोलमण्डल के बीच का खास महापथ है। पहले तीन रास्तों का काफी महत्व था।

मनमाड से दक्खिन-पूर्व जाता हुआ रास्ता अजिण्ट और बालाघाट की पर्वत-शृंखलाओं को पार करके गोदावरी की घाटी में घुस जाता है। दौलताबाद, औरंगाबाद और जालना होते हुए यह रास्ता नान्देड में गोदावरी को छूता है और उसके साथ कुछ दूर तक जाकर वह उसे बायें किनारे से पार करता है। रेल यहाँ से दक्खिन हैदराबाद को छूने के लिए मुड़ जाती है, लेकिन हैदराबाद के उत्तर में वारंगल तक प्राचीन पथ अपने सीधे रास्ते पर मुड जाता है और विजयवाड़ा जाकर बंगाल की खाड़ी को छू लेता है। सुत्तनिपात से[1] यह पता लगता है कि ई० पू० पाँचवीं सदी में यह रास्ता खूब चलता था। जैसा हम ऊपर कह आये है, बावरी के शिष्य गोदावरी की घाटी के मध्य में स्थित अस्सक से चलकर प्रतिष्ठान पहुँचे और वहाँ से माहिष्मती और उज्जयिनी होते हुए विदिशा पहुँचे।

पूना से चलनेवाला रास्ता सह्याद्रि के अहमदनगर बाहु की ओर जाकर फिर दक्खिन की ओर गोलकुण्डा के पठार की तरफ चला जाता है। भीमा के साथ-साथ चलता हुआ यह रास्ता भीमा और कृष्णा के संगम तक जाता है। इसके बाद वह कृष्णा-तुंगभद्रा के दोआब के पूर्वी सिरे पर जाता है और फिर नालमलै के पश्चिम में निकल जाता है। इसके बाद बडपेन्नार के साथ-साथ चलकर यह पूर्वी-घाट पार करके समुद्र के किनारे पहुँच जाता है।

दक्षिण का तीसरा रास्ता महाराष्ट्र के दक्षिणी सिरे से चलकर कृष्णा-तुंगभद्रा के बीच से होते हुए या तो तुंगभद्रा को विजयनगर में पार करके दूसरे रास्ते को पकड़ लेता है या दक्षिण-पश्चिम चलते हुए तुंगभद्रा को हरिहर में पार करके मैसोर में घुसता है और कावेरी के साथ-साथ आगे बढ़ता है।

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि ये रास्ते आपस की लड़ाई-भिड़ाई, व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के प्रधान जरिये थे, फिर भी इन ऐतिहासिक पथों का विशेष विवरण इतिहास अथवा शिलालेखों से प्राप्त नहीं होता। पश्चिम और दक्षिण भारत की पथ-पद्धति के कुछ टुकड़ों का ऐतिहासिक वर्णन हमें अलबीरुनी से मिलता है। बयाना होकर मारवाड़ के रेगिस्तान से एक सड़क भाटी होती हुई लहरी बन्दर, यानी कराची पहुँचती थी।[2] दिल्ली-अजमेर-अहमदाबाद का रास्ता कन्नौज-बयाना के रास्ते के रुख में ही था।[3] मथुरा-मालवा का रास्ता मथुरा और धारवाले रास्ते से संकेतित है। उज्जैन होकर बयाना से धार तक एक दूसरा रास्ता भी था। पहला रास्ता, सेण्ट्रल रेलवे से, मथुरा से भोपाल और उसके बाद उज्जैन

---

१. सुत्तनिपात, गाथा, ९७११, १०१०-१०१३

२. सचाऊ, वही, १, १९६-२१७

३. वही, १, २०२

तथा इंदौर से धार, इससे संकेतित है। धार का दूसरा रास्ता वेस्टर्न रेलवे के उस पथ से संकेतित है जो भरतपुर से नागदा जाता है और वहाँ से छोटी लाइन होकर उज्जैन और इन्दौर होता हुआ धार पहुँचता है। धार से गोदावरी और धार से थाना के पथ वेस्टर्न रेलवे की मनमाड से नासिक और थाना की लाइन से संकेतित हैं।

मुगल-काल में, उत्तर-भारत से दक्खिन, गुजरात तथा दक्षिण-भारत की सड़कों पर काफी आमदरफ्त थी। दिल्ली से अजमेर का रास्ता सराय अल्लावर्दी, पटौदी, रेवाड़ी, कोट, चुम्सर और सरसरा होकर अजमेर[1] पहुचती थी। इलियट (भा० ५) के अनुसार अजमेर से अहमदाबाद को तीन सड़कें थीं—यथा, (१) जो मेड़ता, सिरोही, पट्टन और दीसा होकर अहमदाबाद पहुँचती थी,[2] (२) जो अजमेर, मेड़ता, पाली, भगवानपुर, जालोर और पट्टनवाल होते हुए अहमदाबाद पहुँचती थी, और (३) जो अजमेर से जालोर और हैंबतपुर होती अहमदाबाद पहुँचती थी।

सत्रहवीं सदी में बुरहानपुर और सिरोंज होकर सूरत-आगरा सड़क बहुत ही प्रसिद्ध थी, क्योंकि इसी रास्ते उत्तर-भारत का माल सूरत के बन्दर में उतरता था। तावर्नियर और पीटर मण्डी इस रास्ते पर बहुत-से पड़ावों का उल्लेख करते हैं। सूरत से चलकर नन्दापुर होते हुए यह सड़क नन्दुरबार होकर बुरहानपुर पहुँचती थी। बुरहानपुर उस युग में एक बड़ा व्यावसायिक केन्द्र था जहाँ से कपड़ा ईरान, तुर्की, रूस, पोलैंड, अरब और मिस्र तक जाता था। बुरहानपुर से रास्ता इछावर, सिहोर होता हुआ सिरोंज पहुँचता था जो इस युग में अपनी कपड़े की छपाई के लिए प्रसिद्ध था। सिरोंज से यह रास्ता सीकरी ग्वालियर होते हुए धौलपुर पहुँचता था और वहाँ से आगरा।

सूरत से अहमदाबाद होकर भी एक रास्ता आगरे तक चलता था।[3] सूरत से बड़ौदा और नडियाद होकर अहमदाबाद पहुँचा जा सकता था। अहमदाबाद और आगरे के बीच की प्रसिद्ध जगहों में मेहसाणा, सीधपुर, पालनपुर, भिनमाल, जालोर, मेड़ता, हिंडौन, बयाना और फतहपुर-सीकरी पड़ते थे।

तावर्नियर दक्खिन और दक्षिण भारत की सड़कों का भी अच्छा वर्णन करता है, गो कि उनपर पड़नेवाले बहुत-से पड़ावों की पहचान नहीं हो सकती। सूरत और गोलकुण्डा का रास्ता बारडोली, पिम्पलनेर, देवगाँव, दौलताबाद, औरंगाबाद, आष्टी, नांडेड होकर था। सूरत और गोआ के बीच का रास्ता डमन, बसई, चौल, डाभोल, राजापुर और बेनरगुला होकर था।[4]

गोलकुण्डा से मसलीपट्टम सौ मील पड़ता था, पर हीरे की खानों से होकर जाने में दूरी एक सौ बारह मील हो जाती थी। सत्रहवीं सदी में मसलीपट्टम बंगाल की खाड़ी में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था जहाँ से पेगू, स्याम, आराकान, बंगाल, कोचीन, चाइना, मक्का, हुरमुज, माडागास्कर, सुमात्रा और मनीला को जहाज चलते थे।[5]

सत्रहवीं सदी में दक्षिण की सड़कों की हालत बहुत खराब थी, उनपर छोटी बैलगाड़ियाँ

---

१ सरकार, वही CVII

२. तावर्नियर, वही पृ० ४८-६५

३ वही, पृ० ६६-७३

४. वही, पृ० १४२-१४७

५. वही, पृ० १७५

भी बहुत कठिनाई से चल सकती थीं और कभी-कभी तो गाड़ी के पुरजे अलग करके ही वे उन सड़कों पर जा सकती थीं। गोलकुण्डा और कन्याकुमारी के बीच की सड़क की भी यही अवस्था थी। इसपर बैलगाड़ियाँ नहीं चल सकती थीं, इसलिए बैल और घोड़े माल ढोने के और सवारी के काम में लाये जाते थे। सवारी के लिए पालकियों का भी खूब उपयोग होता था।

भारतवर्ष की उपर्युक्त पथ-पद्धति मे हमने उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक पहलुओं पर एक सरसरी नजर डाली है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इन सड़कों के द्वारा न केवल आन्तरिक व्यापार और संस्कृति की वृद्धि हुई, वरन् उन सड़कों के ही सहारे हम विदेशों से अपना सम्बन्ध बराबर कायम करते रहे। देश में पथ-पद्धति का विकास सभ्यता के विकास का मापदण्ड है। जैसे-जैसे महाजनपथों से अनेक उपपथ निकलते गये, वैसे-ही-वैसे सभ्यता भारतवर्ष के कोने-कोने में फैलती गई और जब इस देश में सभ्यता पूरे तौर से छा गई, तब इन्हीं स्थल और जलमार्गों के द्वारा उस सभ्यता का विकास बृहत्तर भारत में हुआ। हम आगे चलकर देखेंगे कि अनेक युगों तक भारत के महापथों और उनपर चलनेवाले विजेताओं, व्यापारियों, कलाकारों, भिक्षुओं इत्यादि ने किस तरह इस देश की संस्कृति को आगे बढ़ाया।

दूसरा अध्याय

वैदिक और प्रतिवैदिक युग के यात्री

आरम्भ से ही यात्रा, चाहे वह व्यापार के लिए हो अथवा किसी दूसरे मतलब के लिए, सभ्यता का एक विशेष अंग रही है। उन दिनों भी, जब संस्कृति अपने बचपन में थी, आदमी यात्रा करते थे, भले ही उनकी यात्राओं का उद्देश्य आज दिन के यात्रियों के उद्देश्य से भिन्न रहा हो। बड़े-बड़े पर्वत, घनघोर जंगल और जलते हुए रेगिस्तान भी उन्हें कभी यात्रा करने से रोक नहीं सके। अधिकतर आदिम मनुष्यों की यात्राओं का उद्देश्य ऐसे स्थान की खोज थी जहाँ वे आसानी से खाने-पीने की चीजें, जैसे फल, और जानवर तथा अपने ढोर-डंगरों के चराने के लिए चरागाह और रहने के लिए गुफाएं पा सकते थे। अगर भूमि के बंजर हो जाने से अथवा आबहवा बदल जाने से उनके जीवन-यापन में बाधा पहुँचती थी तो वे नई भूमि की तलाश में वनों और पहाड़ों को पार करते हुए आगे बढ़ते थे।

मनुष्य अपनी फिरंदर-अवस्था में अपने पशुओं के लिए चरागाह ढूँढने के लिए हमेशा घूमता रहता था। मनुष्य के इतिहास में बहुत-से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि आबहवा बदल जाने से जीवन-यापन में कठिनाई आ जाने के कारण मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा के लिए सुदूर देशों का सफर करने में भी नहीं हिचकता था। हमें इस बात का पता है कि ऐतिहासिक युग में भी शक, जलते हुए रेगिस्तान और कठिन पर्वतों की परवा किये बिना, ईरान और भारत में घुसे। आर्य जिनकी संस्कृति की आज हम दुहाई देते हैं, शायद इसी कारण से घूमते-घामते यूरोप, ईरान और भारत में पहुँचे। अपने इस घूमने-फिरने की अवस्था में आदिम जातियों ने वे नये रास्ते कायम किये जिनका उपयोग बराबर विजेता और व्यापारी करते रहे।

मनुष्य-समाज की कृषकावस्था ने उसे जंगलीपन से निकालकर उसका उस भूमि के साथ सान्निध्य कर दिया जो उसे जीवन-यापन के लिए अन्न देती थी। इस युग में मनुष्य की जीविका का साधन ठीक हो जाने से उसके जीवन में एक स्थायित्व की भावना आ गई जिसकी वजह से वह समाज के संगठन की ओर ध्यान कर सका। खेती के साथ उसका जीवन अधिक पेचीदा हो गया और धीरे-धीरे वह समाज में अपनी जिम्मेदारी समझता हुआ उसका एक अंग बन गया। ऐसे समय हम देखते हैं कि उसने व्यापार का सहारा लिया, गो कि इसके मानी यह नहीं होते कि अपनी फिरन्दर-अवस्था में वह व्यापारी नहीं था, क्योंकि पुरातत्त्व इस बात का प्रमाण देता है कि मनुष्य अपनी प्राथमिक अवस्थाओं में व्यापार करता था और एक जगह से दूसरी जगह में सीमित परिमाण में वे वस्तुएँ आती-जाती थीं। कहने का मतलब तो यह है कि खेतिहर-युग में प्राथमिक व्यापार को नई उत्तेजना मिली; क्योंकि अपने खाने-पीने के सामान से निश्चिन्त होने से मनुष्य को गहने-कपड़े तथा कुछ औजार और हथियार बनाने के लिए धातुओं की चिंता हुई। आरम्भ में तो व्यापार जाने हुए प्रदेशों तक ही सीमित था, पर मनुष्य का अदम्य

साहस बहुत दिनों तक रुक नहीं सकता था और इसीलिए उसने नये-नये रास्तों और देशों का पता लगाना शुरू किया जिससे भौगोलिक ज्ञान की अभिवृद्धि से सभ्यता आगे बढ़ी। पर उस युग में यात्रा सरल नहीं थी। डाकुओं और जंगली जानवरों से घनघोर जंगल भरे पड़े थे, इसलिए उनमें अकेले-दुकेले यात्रा करना कठिन था। मनुष्य ने इस कठिनाई से पार पाने के लिए एक साथ यात्रा करने का निश्चय किया और इस तरह किसी सुदूर भूत में सार्थ की नींव पड़ी। बाद में तो यह सार्थ दूर के व्यापार का एक साधन बन गया। सार्थवाह का यह कर्तव्य होता था कि वह सार्थ की हिफाजत करते हुए उसे गन्तव्य स्थान तक पहुँचावे। सार्थवाह कुशल व्यापारी होने के सिवा अच्छा पथ-प्रदर्शक होता था। वह अपने साथियों में आज्ञाकारिता देखना चाहता था। आज का युग रेल, मोटर तथा समुद्री और हवाई जहाजों का है, फिर भी, जहाँ सभ्यता के साधन नहीं पहुँच सके हैं वहाँ सार्थवाह अपने कारवाँ वैसे ही चलाते हैं जैसे हजार वर्ष पहले। कुछ ही दिनों पहले, शिकारपुर के साथ (सार्थ के लिए सिन्धी शब्द) चीनी तुर्किस्तान पहुँचने के लिए काराकोरम को पार करते थे और आज दिन भी तिब्बत का व्यापार सार्थों द्वारा ही होता है।

भारत तथा पाकिस्तान की पथ-पद्धति और व्यापार के इतिहास के लिए हमें अपनी नजर सबसे पहले पश्चिम भारत, विशेषकर सिन्ध और बलूचिस्तान की प्राचीन खेतिहर बस्तियों पर डालनी होगी। पाकिस्तान का वह अंश, जिसमें बलूचिस्तान, मकरान और सिन्ध पड़ते हैं, आज दिन पथरीला और रेगिस्तानी इलाका है। सिन्ध का पूर्वी हिस्सा सक्कर के बाँध से उपजाऊ हो गया है, पर मकरान का समुद्री किनारा रेगिस्तानी है जिसके पीछे टेढ़े-मेढ़े पहाड़ उठे हुए हैं जिनमें नदियों की घाटियों (जैसे नाल, हब और मश्कै की) एक दूसरे से अलग पड़ती हैं और इसीलिए पूर्व से पश्चिम के रास्तों को निश्चित मार्गों से, मूला या गज के दरा से होकर, सिन्ध के मैदान में आना पड़ता है। कलात के आस-पास पर्वतमाला सँकरी हो जाती है और बोलन दर्रे से होकर प्राचीन मार्ग पर क्वेटा स्थित है। यही रास्ता भारत को कन्धार से मिलाता है। नहर के इलाकों को छोड़कर सिन्ध रेगिस्तान है जहाँ सिन्धु नदी बराबर अपना बहाव और मुहाने बदलती रहती है। प्रकृति की इतनी नाराजगी होते हुए भी इसी प्रदेश में भारत की सबसे प्राचीन खेतिहर-बस्तियों के भग्नावशेष, जिनका समय कम-से-कम ई० पू० ३००० है, पाये जाते हैं। इन अवशेषों से पता चलता है कि शायद बहुत प्राचीन काल में इस प्रदेश की आबहवा आज से कहीं सुखकर थी। हड़प्पा-संस्कृति के अवशेषों से तो इस बात की पुष्टि भी होती है। दक्षिण बलूचिस्तान की आबहवा के बारे में तो कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, पर उस प्रदेश में प्राचीन काल में अनेक बस्तियों के होने से यही नतीजा निकाला जा सकता है कि उस काल में वहाँ कुछ अधिक बरसात होती रही होगी जिससे लोग गबरबन्दों में पानी इकट्ठा करके सिंचाई करते थे।

'क्वेटा-संस्कृति' का, जो शायद सबसे प्राचीन है, हमें अधिक ज्ञान नहीं है, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि उस संस्कृति की विशेषता एक तरह के मटमैले पीले मिट्टी के बरतन हैं जिनका संबंध ईरान के फार्स इलाके से मिले हुए बरतनों से है।[१] यह सादृश्य किसी सुदूरपूर्व में भारत और ईरान के सम्बन्ध का द्योतक है। अमरी-नाल संस्कृति की मिली हुई वस्तुओं के आधार पर

१, स्टुअर्ट पिगट, प्री-हिस्टोरिक इण्डिया, पृ० ७१, लण्डन, १९५०

इस संस्कृति का सम्बन्ध हड़प्पा और दूसरे देशों से स्थापित किया जा सकता है। लाजवर्द अफ़गानिस्तान या ईरान से आता था। कच्चे शीशे की गुरियों और छेददार पत्थरों से इसका सम्बन्ध हड़प्पा-संस्कृति से स्थापित होता है।[१]

कुल्ली संस्कृति का सम्बन्ध—बैलगाड़ी की प्रतिकृतियों, और मुलायम पत्थरों से कटे बरतनों से जिनमें शायद अंजन रखा जाता था तथा और दूसरी चीजों से—हड़प्पा-संस्कृति से स्थापित होता है। श्री पिगट का अनुमान है कि शायद हड़प्पा के व्यापारी[२] दक्षिण बलूचिस्तान में जाते थे; पर उनका वहाँ ठहरना एक कारवाँ के ठहरने से अधिक महत्त्व का नहीं था। इस बात का सबूत है कि सिन्ध और बलूचिस्तान में व्यापार चलता था तथा बलूचिस्तान की पहाड़ियों से माल और कभी-कभी आदमी भी सिन्ध के मैदान में उतरते थे। इस देश के बाहर कुल्ली-संस्कृति का सम्बन्ध ईरान और ईराक़ से था। अब यह प्रश्न उठता है कि सुमेर के साथ दक्षिण बलूचिस्तान का सम्बन्ध स्थलमार्ग से था अथवा जलमार्ग से? क्या सुमेरियन जहाज दश्त नदी पर लंगर डालकर लाजवर्द और सोने के बदले सुगन्धित द्रव्यों से भरे पत्थर के बरतन ले जाते थे अथवा सुमेर के बन्दरों में विदेशी जहाज लगते थे? इस बात का कुछ सबूत है कि सुमेर में बलूची व्यापारी अपना एक अलग समाज बनाकर रहते थे। अपने रीति-रिवाज बरतते थे और अपने देवताओं की पूजा करते थे। एक बरतन पर वृष-पूजा अंकित है जो सुमेर में कहीं नहीं पाई जाती। सूसा की कुछ मुद्राओं पर भी भारतीय बैल के चित्रण हैं। पर सुमेर के साथ यह व्यापारिक सम्बन्ध दक्षिण बलूचिस्तान से ही था, हड़प्पा-संस्कृति अथवा सिन्ध की घाटी के साथ नहीं। इन प्रदेशों के साथ तो सुमेर का सम्बन्ध करीब ५०० वर्ष बाद हुआ। यह भी पता लगता है कि यह व्यापारिक सम्बन्ध समुद्र के रास्ते था, स्थल के रास्ते नहीं, क्योंकि कुल्ली-संस्कृति का सम्बन्ध पश्चिम में ईरानी मकरान में स्थित बामपुर और ईरान के सूबे फार्स के आगे नहीं जाता।[३]

उत्तरी बलूचिस्तान में, खासकर झोब नदी की घाटी में, संस्कृतियों का एक समूह था जिनका मेल, लाल बरतनों की वजह से, ईरान की लाल बरतनवाली सभ्यता से खाता है। कुछ वस्तुओं से, जैसे छाप, मुद्रा, खचित गुरिया इत्यादि से, हड़प्पा-संस्कृति के साथ उत्तरी बलूचिस्तान की संस्कृतियों का सम्बन्ध स्थापित होता है।[४] राणाघुण्डई की खुदाई से पता चलता है कि ई० पू० १५०० के करीब किसी विदेशी जाति ने उत्तरी बलूचिस्तान की बस्तियों को जला डाला। इस सम्बन्ध में हम आगे जाकर कुछ और कहेंगे।

मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा से मिले पुरातात्त्विक अवशेष भारत की प्राचीन सभ्यता की एक नई झलक देते हैं। बलूचिस्तान से सिन्ध और पंजाब में आकर हम व्यापारिक बस्तियों की जगह एक ऐसी नागरिक सभ्यता का पता पाते हैं जिसमें बलूची सभ्यताओं की तरह हेर-फेर न होकर एकीकरण था। यह सभ्यता मकरान से लेकर काठियावाड़ तक और उत्तर की ओर हिमालय के पार्श्ववर्ती तक फैली थी। इस सभ्यता की अधिकतर बस्तियाँ सिन्ध में थीं

---

१ वही, ६३-६४

२. वही, ९, ११३-११४

३. वही, ९, ११७-११८

४. वही, ९, १२८-१२९

और इसका उत्तरी नगर पंजाब में हड़प्पा और दक्षिणी नगर सिन्धु पर मोहेनजोदड़ो था। इन नगरों की विशालता से ही यह अनुमान किया जा सकता है कि लोगों के कृषि-धन से इतनी बचत हो जाती थी कि वह शहरों में बेची जा सके। हड़प्पा-सभ्यता से मिले पशु-चित्रों और हड्डियों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उस काल में सिन्ध की जल वायु कहीं अधिक नम थी जिसके फलस्वरूप वहाँ जंगल थे जिनकी लकड़ियाँ ईंट फूँकने के काम में आती थीं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो बड़े व्यापारिक शहर थे। खोज से ऐसा पता चलता है कि इन शहरों का व्यापार चलाने के लिए बहुत-से छोटे-छोटे शहर और बाजार थे। ऐसे चौदह बाजार हड़प्पा से सम्बन्धित थे और सत्रह बाजार मोहेनजोदड़ो से। उत्तर और दक्षिण बलूचिस्तान के कुछ बाजारों में भी हड़प्पा-मोहेनजोदड़ो के व्यापारी रहते थे। ये बाजार खुले होते थे पर मुख्य शहरों में शहरपनाहें थीं। नदियाँ उत्तर और दक्षिण के नगरों को जोड़ती थीं तथा छोटे-छोटे रास्ते बलूचिस्तान को जाते थे।

हम ऊपर देख चुके हैं कि दक्षिण बलूचिस्तान और सुमेर में करीब २८०० ई० पू० में व्यापारिक सम्बन्ध था, पर सिन्ध से दक्षिण बलूचिस्तान का सम्बन्ध समुद्र से न होकर स्थल-मार्ग से था। इसका कारण सिन्ध का हटता-बढ़ता मुहाना हो सकता है जिसकी वजह से वहाँ बन्दरगाह बनना मुश्किल था। शायद इसीलिए कुल्ली के व्यापारी स्थल-मार्ग द्वारा आये हुए सिन्धी माल को मकरान के बन्दरगाहों से पश्चिम की ओर ले जाते थे। जो भी हो, हड़प्पा-संस्कृति और बाबुली-संस्कृति का सीधा मेल करीब ई० पू० २३०० में हुआ।

हड़प्पा-संस्कृति में व्यापार का क्या स्थान था और वह किन स्थानों से होता था—इसका पता हम मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा से मिले रत्नों और धातुओं की जाँच-पड़ताल के आधार पर पा सकते हैं। शायद बलूचिस्तान से संगखरी, अलबास्टर और स्टेटाइट आते थे और अफगानिस्तान या ईरान से चाँदी। ईरान से शायद सोना भी आता था, चाँदी, शीशा और राँगा तो वहाँ से आते ही थे। फिरोजा और लाजवर्द ईरान अथवा अफगानिस्तान से आते थे। हेमिटाइट फारस की खाड़ी में हुरमुज से आता था।[1]

दक्खिन में शायद काठियावाड़ से शंख, अकीक, रक्तमणि, करकेतन (आनिक्स), चेलसिडनी और शायद स्फटिक आता था। कराची अथवा काठियावाड़ से एक तरह की सूखी मछली आती थी।

सिन्ध नदी के पूर्व, शायद राजस्थान से, ताँबा, शीशा, जेस्पर (ज्योतिरस), ब्लडस्टोन, हिरी चाल-सिडनी और दूसरे पत्थर मनके बनाने के लिए आते थे। दक्खिन से जमुनिया और नीलगिरि से अमेजनाइट आते थे। कश्मीर और हिमालय के जंगलों से देवदार की लकड़ी तथा दवा के लिए शिलाजीत और बारहसिंहे की सींगें आती थीं। शायद पूर्वी तुर्किस्तान से पामीर, और बर्मा से यशब आता था।

उपर्युक्त वस्तुओं के व्यापार के लिए शहरों में व्यापारी और एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने-ले आने के लिए सार्थवाह रहे होंगे जिनके ठहरने के लिए शायद पथों पर पड़ाव रहे होंगे। माल ढोने के लिए ऊँट व्यवहार में आते होंगे, पर पहाड़ी इलाके में शायद लद्दू टट्टुओं से काम चलता हो। झूकर से तो एक घोड़े की काठी की मिट्टी की प्रतिकृति मिली है। यह भी

---

1 मेके, दि इण्डस सिविलिजेशन, पृष्ठ ६८ से; पिगोट, वही पृ०, १७४ से

सम्भव है कि पहाड़ी रास्तों में बकरों से माल ढोया जाता हो। बाद के साहित्य में तो पर्वतीय प्रदेश में अजपथ का उल्लेख भी आया है।

हड़प्पा-संस्कृति में धीमी गतिवाली बैलगाड़ियों का काफी जोर था। बैलगाड़ी की बहुत-सी मिट्टी की प्रतिकृतियाँ मिलती हैं। उनमें और आज की बैलगाड़ियों में बहुत कम अन्तर है। आज दिन भी सिन्ध में वैसी ही बैलगाड़ियाँ चलती हैं जैसी कि आज से चार हजार वर्ष पहले।

इस बात में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि हड़प्पा-संस्कृति के युग में नदियों पर नावें चला करती होंगी, पर हमें नाव के केवल दो चित्रण मिलते हैं, एक नाव तो एक ठीकरे पर खोदकर बना दी गई है, इसका आगा और पीछा ऊँचा है और इसमें मस्तूल और फहराता हुआ पाल भी है, एक नाविक लम्बे डाँड़े से उसे खे रहा है। (आ० १) दूसरी नाव एक मुद्रा पर खुदी हुई है, इसका आगा और पीछा काफी ऊँचा है और नरकुल का बना हुआ मालूम पड़ता है। नाव के मध्य में एक चौखूँटा कमरा अथवा मन्दिर है जो नरकुल का बना हुआ है। एक नाविक गलही पर एक ऊँचे चबूतरे पर बैठा हुआ है (आ० २)।[1] ऐसी नावें प्रागैतिहासिक मेसोपोटामिया में भी चलती थीं तथा प्राचीन मिस्री नावों की भी कुछ ऐसी ही शक्ल होती थी।

इस मुद्रा पर बनी हुई नाव में मस्तूल न होने से इस बात का विद्वानों को सन्देह होता है कि शायद ऐसी नावें नदी ही पर चलती हों, समुद्र पर नहीं। पर डा० मैके[2] का यह विचार है कि बहुत सबूत होने पर भी यह कहा जाना है कि हड़प्पा-संस्कृति के युग में सिन्ध के मुहाने से निकलकर जहाज बलूचिस्तान के समुद्री किनारे तक जाते थे। आज दिन भी भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे के बन्दरों से बहुत-सी देशी नावें फारस की ओर अदन तक जाती हैं। अगर ये रद्दी नावें आजकल समुद्रयात्रा कर सकती हैं तो इसमें बहुत कम सन्देह रह जाता है कि उस काल में भी नावें समुद्र का सफर कर सकती थीं, क्योंकि यह बात कयास के बाहर है कि उस समय की नावें आजकल की नावों से बदतर रही होंगी। यह भी सम्भव है कि विदेशी जहाज भारत के पश्चिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों पर आते रहे हों।

विदेशों के साथ हड़प्पा-संस्कृति के व्यापार की पूरी कहानी का पता हमें केवल पुरातत्त्व से ही नहीं मिल सकता, क्योंकि पुरातत्त्व तो हमें नष्ट न होनेवाली वस्तुओं का ही पता देता है। उदाहरण-स्वरूप, हमें भाग्यवश यह तो पता है कि हड़प्पा-संस्कृति को कपास का पता था, पर इस देश से बाहर कितनी कपास जाती थी इसका हमें पता नहीं है और इस बात का भी पता नहीं है कि सुमेर में रहनेवाले भारतीय व्यापारी वहाँ से कौन-सी वस्तुएँ इस देश में लाते थे। अभिलेखों के न होने से, यह भी नहीं कहा जा सकता कि ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में भारत से पश्चिम को उसी तरह मसाले और सुगन्धित द्रव्य जाते थे कि नहीं, जैसे कि बाद में। श्री पिगोट[3] का खयाल है कि शायद दक्षिण सार्थवाह-पथों से लौटते हुए व्यापारी अपने साथ विदेशी दासियाँ भी लाते थे।

हड़प्पा-संस्कृति की एक विशेषता उसकी चित्रित मुद्राएँ हैं। इन मुद्राओं को इस युग के

---

१. ई० मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट् मोहेन-जो-दड़ो, भा० १, पृ० ३४०—४१ प्ले ७३ पृ०, आकृति १

२. मैके, दी इण्डस वैली सिविलाइजेशन, पृ० १६७—६८

३. पिगोट, वही, पृ० १७०-३८

व्यापारी माल पर मुहर करने के लिए काम में लाते थे। व्यापार की बढ़ती से ही लिपि की आवश्यकता पड़ी तथा बटखरों और नापने के गज की जरूरत पड़ी।

ऊपर हम देख चुके हैं कि हड़प्पा-संस्कृति का भारत के किन भागों से सम्बन्ध था। इस आन्तरिक सम्बन्ध के सिवा हड़प्पा का बाहरी देशों से भी सम्बन्ध था। श्री पिगोट का अनुमान है कि हड़प्पा-संस्कृति का सुमेर के साथ सीधा सम्बन्ध करीब ई० पू० २३०० में हुआ; इसके पहले सुमेर से उसका सम्बन्ध बलूची होकर था। इसका यह प्रमाण है कि अक्काद्दी युग में करीब २३०० और २००० ई० पू० के बीच के स्तरों में हड़प्पा की कुछ मुहरें मिली हैं। सुमेर से कौन-कौन-सी वस्तुएँ हड़प्पा आती थीं, इसका ठीक-ठाक पता नहीं चलता। हड़प्पा के साथ उत्तर ईरान के हिसार की तृतीय सभ्यता का भी सम्बन्ध था, जिसका समय करीब २००० ई० पू० था। इसी के फलस्वरूप वहाँ हड़प्पा की कुछ वस्तुएँ मिली हैं।

उपर्युक्त जाँच-पड़ताल से यह पता चलता है कि हड़प्पा-संस्कृति का एक निजत्व था जिसके साथ कभी-कभी बाहरी सम्बन्ध की झलक भी दीख पड़ती है। जैसा कि श्री पिगोट का विचार है,[1] सुमेर के साथ सीधा व्यापारिक सम्बन्ध दक्षिण बलूचिस्तान के व्यापारियों ने स्थापित किया। करीब २३०० ई० पू० में यह व्यापार हड़प्पा के व्यापारियों के हाथ में चला गया। और यह बहुत कुछ सम्भव है कि ऊर और लगाश में उनकी अपनी कोठियाँ थीं। यह व्यापार, लगता है, फारस की खाड़ी तक समुद्र से चलता था। हड़प्पा से कभी-कभी स्थल-पथ भी चलते थे। कभी-कभी कोई साहसी सार्थ तुर्किस्तान से फिरोजा और लाजवर्द तथा एक-दो विदेशी काँटे लाता था। सुमेर से क्या आता था, इसका ठीक पता नहीं; शायद भविष्य में मिलनेवाले अभिलेखों से इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ सके।

लगता है, करीब २००० ई० पू०, शायद हम्मुराबी और एलम के साथ लड़ाइयों की वजह से हड़प्पा और सुमेर का व्यापार बन्द हो गया। उसके कुछ दिनों बाद ही बर्बर जातियों का सिन्ध और पंजाब में प्रादुर्भाव हुआ और उसके फलस्वरूप हड़प्पा की प्राचीन सभ्यता की अवनति हुई। अपनी प्राचीनता के बल पर यह सभ्यता कुछ दिनों तक तो चलती रही, पर, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, करीब १५०० ई० पू० के लगभग उसका अन्त हो गया।

बलूचिस्तान और हड़प्पा की सभ्यताएँ करीब २००० ई० पू० से ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के आरम्भ तक अक्षुण्ण भाव से चलती रहीं। पुरातात्त्विक खोजों से पता चलता है कि करीब ८०० वर्षों तक इनपर बाहरवालों के धावे नहीं हुए। पर उत्तर बलूचिस्तान में राना घुण्डई के तृतीय (ग) स्तर से यह पता चलता है कि बस्ती को किसी ने जला दिया। इस जली बस्ती के ऊपर एक नई जाति की बस्ती बसी, पर यह बस्ती भी जला दी गई। नाल और डाबरकोट में भी कुछ ऐसा ही हुआ। दक्षिण बलूचिस्तान के अवशेषों में इस तरह की उथल-पुथल के लक्षण नहीं मिलते। पर यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अभी तक उस प्रदेश में खुदाइयाँ कम ही हुई हैं। फिर भी शाहीतुम्प से मिले कब्रगाह के बरतनों तथा दूसरी वस्तुओं के आधार पर उस सभ्यता का सम्बन्ध ईरान में याहया, सुमेर, दक्षिणी रूस, हिसार की तृतीय बी, अनाऊ तृतीय तथा सूसा की सभ्यताओं से किया जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि बाहरी संस्कृतियों के साथ सम्बन्ध की प्रतीक ये वस्तुएँ व्यापारिक सम्बन्ध से आईं अथवा इन्हें बाहर से आनेवाले

1. वही, पृ० २१०-११

लाये ? श्री पिगोट का विचार है कि अन्तिम बात ही ठीक है।[1] उनके अनुसार, नवागन्तुक, जो शायद लड़ाकुओं के दल थे, अपने साथ केवल हथियार लाये। बलूचिस्तान में इस सभ्यता की प्रतिच्छाया हम हड़प्पा-संस्कृति के बादवाले स्तरों में भी पाते हैं जिनमें हमें बलूची संस्कृतियों की वस्तुएँ अधिक मिलती हैं। श्री पिगोट का खयाल है कि बोलन, लाकफ्सी और गजघाटी के रास्तों से भागते हुए शरणार्थी ही ये सामान लाये, पर वे शरणार्थी सिन्ध में आकर भी शान्ति न पा सके। पश्चिम के आक्रमणकारी, जिनकी वजह से वे भागे थे, सिन्ध के नगरों की लूट के लिए आगे बढ़े। वे किस तरह मोहेनजोदड़ो, झूकर, और लोहुमजोदड़ो को नाश करके उनमें बस गये, इनकी कथा हमें पुरातत्त्व से मिलती है।

इस नवागन्तुक संस्कृति का नाम झूकर-संस्कृति दिया गया है। चहूंजोदड़ो के द्वितीय स्तर में यह पता चलता है कि झूकर-संस्कृति के लोग मिट्टी की झोपड़ियों में रहते थे, उनके घरों में आतिशदान थे, उनके आराइश के सामान सीधे-सादे थे, तथा उनकी मुद्राएँ हड़प्पा की मुद्राओं से भिन्न थीं। इन मुद्राओं का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की मुद्राओं से मिलता है। हड्डी के सूए भी किसी बर्बर-सभ्यता की ओर इशारा करते हैं।

जब हम मोहेनजोदड़ो की तरफ अपना ध्यान ले जाते हैं तो पता चलता है कि उस नगर के अन्तिम इतिहास का मसाला चाहूंजोदड़ो की अपेक्षा कम है, पर कुछ बातों से उस काल की गड़बड़ी का पता चलता है। शायद इन्हीं बातों में हम गहनों का गाड़ना भी रख सकते हैं। लगता है, विपत्ति की आशंका से लोग अपना माल-मता छिपा रहे थे। बाद के स्तरों में अधिक शस्त्रों के मिलने से भी यह पता लगता है कि उस समय खतरा बढ़ गया था। कुछ ऐसे शस्त्र भी मोहेन-जोदड़ो से मिले हैं जो शायद बाहर से आये थे। हड़प्पा की एक कब्रगाह से मिले हुए मिट्टी के बरतनों से भी यह पता लगता है कि उन बरतनों के बनानेवाले कहीं बाहर से आये थे। उन बरतनों पर बने हुए पशु-पक्षियों के अलंकार हड़प्पा-संस्कृति के पहले स्तरों से मिले हुए मिट्टी के बरतनों पर के अलंकारों से सर्वथा भिन्न हैं, गोकि उन अलंकारों का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध ईरान में समर्रा में मिले हुए बरतनों से किया जा सकता है।

खुर्रम नदी की घाटी से मिली हुई एक तलवार भारत के लिए एक नई वस्तु है, गोकि ऐसी तलवार यूरप में बहुत मिलती हैं। इस तलवार का समय यूरप से मिली हुई तलवारों के आधार पर ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में निश्चित कर सकते हैं। राजनपुर (पंजाब) से मिली हुई एक तलवार की शक्ल लूरीस्तान से मिली हुई तलवारों की शक्ल से मिलती है और इसका समय ईसा-पूर्व लगभग १५०० होना चाहिए। गंगा की घाटी और राँची के आस-पास से मिले हुए हथियारों का भी सम्बन्ध हड़प्पा के हथियारों से है। श्री पिगोट का यह विचार है कि ये हथियार बनानेवाले कदाचित् पंजाब और सिन्ध में शरणार्थी होकर आये थे।[2]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह पता चल जाता है कि ईसा-पूर्व १५०० के आस-पास एक नई जाति उत्तर-पश्चिम से भारत में घुसी जिसने पुरानी बस्तियों को बरबाद करके नई बस्तियाँ बनाईं। इस नई जाति का आगमन केवल भारतवर्ष तक ही नहीं सीमित था—मेसोपोटामिया में भी इसका असर देख पड़ता है। इसी युग में एशिया-माइनर में खत्ती साम्राज्य की स्थापना हुई। शाम और

---

१. पिगोट, वही, पृ० २२० से

२ वही, पृ० २१८

उत्तर ईरान में भी हम नये आनेवालों के चिह्न देखते हैं। शायद इन नये आनेवालों का सम्बन्ध आर्यों से रहा हो।

आर्य कहाँ के रहनेवाले थे, इसके बारे में बहुत-सी रायें हैं, पर आधुनिक खोजों से कुछ ऐसा पता लगता है कि भारतीय भाषाएँ, दक्षिण रूस और कैस्पियन समुद्र के पूर्व के मैदानों में परिवर्द्धित हुईं। दक्षिण रूस में ई० पू० दूसरी और तीसरी सहस्राब्दियों में खेतिहर-बस्तियाँ थीं जिनमें योद्धाओं और सरदारों का खास स्थान था। कुछ ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ई० पू० दो हजार के करीब दक्षिण रूस से तुर्किस्तान तक फैले हुए कबीलों का एक ढीला-ढाला-सा संगठन था जिसकी सांस्कृतिक एकता भाषा और कुछ किस्म की कारीगरियों पर अवलम्बित थी। करीब ई० पू० सोलहवीं सदी में भारोपीय भाषाभाषी कसी लोगों ने बाबुल पर हमला किया। यही समय है। जब कि भारोपीय जातियों ने भी नई जगहों की तलाश में आगे बढ़े। बुगहाजकुई में मिलनेवाली मिट्टी की पट्टियों के लेखों से यह पता लगता है कि ई० पू० चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों में एशिया-माइनर में आर्य-देवता मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य की पूजा होती थी। बुगहाजकुई से ही एक किताब के कुछ अंश मिले हैं जिसमें घोड़े दौड़ाने की क्रिया का उल्लेख है। इसमें एकवर्तन, त्रिवर्तन इत्यादि संस्कृत शब्द आये हैं। पुरातत्त्व के आधार पर ये ही दो स्रोत हैं जो भारोपीयों को ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में भारत के पास लाते हैं। ईरान और भारत में तो आर्यों के अवशेष केवल, मौखिक अनुश्रुतियों द्वारा बचे, अवस्ता और ऋग्वेद में हैं। ऋग्वेद के आधार पर ही हम आर्यों की भौतिक संस्कृति की एक तस्वीर खड़ी कर सकते हैं। ऋग्वेद का समय अधिकतर संस्कृत-विद्वानों ने ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी का मध्य भाग माना है। हम ऊपर देख चुके हैं कि करीब-करीब इसी समय उत्तर-पश्चिम से आक्रमणकारी, चाहे वे आर्य रहे हों या नहीं, भारत में घुसे। ऋग्वेद से पता चलता है कि इन आर्यों की दासों से लड़ाई हुई जिन्हें ऋग्वेद में बहुत-कुछ भला-बुरा कहा गया है। इतना होते हुए भी यह बात तो साफ ही है कि आर्यों से लड़नेवाले दास बर्बर न होकर सभ्य थे और वे किलों में रहनेवाले थे। इन दासों को नये जोशवाले आर्यों का सामना करना पड़ा। धीरे-धीरे आर्यों ने दासों के नगरों को नष्ट कर दिया। किला गिराने से ही आर्यों के देवता इन्द्र का नाम पुरन्दर पड़ा। इन आर्यों का सबसे बड़ा लड़ाई का साधन घोड़ा था। घुड़सवारों और रथों की तेज मार के आगे दासों का खड़ा रहना असम्भव हो गया। रथ सबसे पहले कब और कहाँ बने, इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं लगता, लेकिन प्राचीन समय में घोड़ों और गदहों से खींचे जानेवाले दो पहियेवाले रथ आ चुके थे। ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में, एशियामाइनर में भी घोड़ों से चलनेवाले रथ का आविर्भाव हो चुका था। यूनान तथा मिस्र में भी रथ का चलन ई० पू० १५०० के करीब हो चुका था। विचार करने पर ऐसा पता चलता है कि शायद सुमेर में सबसे पहले रथ की आयोजना हुई। बाद में भारोपीय लोगों ने रथ की उन्नति की और उसमें घोड़े लगाये। आर्यों के रथ का शरीर धुरे से चमड़े के पट्टों से बँधा होता था। पहियों में आरे होते थे जिनकी संख्या चार से अधिक होती थी। घोड़े एक जोत में जुतते थे। रथ पर दो आदमी बैठते थे, योद्धा और सारथी। योद्धा बाईं ओर बैठता था और सारथी खड़ा रहता था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, सिवा कुछ टूटे नगरों को छोड़कर भारत में आर्यों के आवागमन के बहुत कम चिह्न बच गये हैं। इसलिए उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का पता हमें ऋग्वेद से चलता है। वेदों में आर्य बड़ी शेखी से कहते हैं कि उन्होंने दासों को

जीत लिया और यह हो भी सकता है कि उन्होंने दास-संस्कृति को उखाड़ फेंका, फिर भी, उस प्राचीन संस्कृति की बहुत-सी बातों को आर्यों ने अपनाया जिनमें जड़ पदार्थों की पूजा इत्यादि बहुत-से धार्मिक विश्वास भी सम्मिलित हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि भारत में आने के लिए आर्यों ने कौन-सा मार्ग ग्रहण किया। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, अगर ई० पू० पन्द्रह सौ के करीब बलूचिस्तान और सिन्ध में आनेवाली एक नई जाति आर्यों से सम्बन्धित थी, तो हमें मानना पड़ेगा कि कदाचित् बलूचिस्तान और सिन्ध के रास्ते, पश्चिम से, आर्य इस देश में घुसे। पर अधिकतर विद्वानों ने, इस आधार पर कि ऋग्वेद में पूर्वी अफगानिस्तान और पंजाब की नदियों का कुछ उल्लेख है, उनके आने का पथ उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त से होकर माना है। आर्यों के पथ की ऐतिहासिक और भौगोलिक छान-बीन श्री फूशे ने की है। उनकी जाँच-पड़ताल का आधार यह है कि पश्चिम से सब रास्ते बलख से होकर चलते थे और इसीलिए आर्य भी इसी पथ से होकर भारत पहुँचे होंगे।[1]

श्री फूशे के अनुसार आर्य बलख से हिन्दूकुश होते हुए भारत आये। दक्खिनी रूस और पूर्वी कैस्पियन समुद्र की ओर से बढ़ते हुए आर्य अपने ढोर ढंगरों के साथ शिकार खेलते हुए और खेती करते हुए शायद कुछ दिनों तक बलख में ठहरे। कुछ तो यहीं बस गये, पर बाकी आगे बढ़े। ऐसा मान लिया जा सकता है कि हिन्दूकुश के पार करने के पहले हथियारबन्द धावेमारों ने उसके दर्रों की छान-बीन कर ली होगी और अपने गन्तव्य स्थानों का भी पता लगा लिया होगा। आर्यों का आगे बढ़ना कोई नाटकीय घटना नहीं थी, वे लड़ते-भिड़ते धीमे-धीमे आगे बढ़े होंगे। पर जैसा हम देख आये हैं, वे कुछ दिनों में सिन्ध और पंजाब में बस गये होंगे। भारत के मैदानों में उनका उतरना उच्च एशिया के फिरन्दरों के भारतीय मैदानों में उतरने की एक सामयिक घटना-मात्र थी। छोटे-छोटे पड़ावों पर कई दिनों अथवा हफ्तों तक सार्थों का ठहरना, महीनों और बरसों तक फौजों का आसरा देखना तथा कई पुश्त के बाद जाति के मनुष्यों का आगे कदम रखना, ये सब बातें एक विशाल जाति के स्थानान्तरण में निहित हैं। हमें यह भी जान लेना चाहिए कि अफगानिस्तान के कबीले अपनी स्त्रियों, बच्चों, डेरों तथा सरो-सामान के साथ आगे बढ़ते हैं। यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इसी तरह आर्य भी आगे बढ़े होंगे।

श्री फूशे[2] ने आर्यों की प्रगति का एक सुन्दर दिमागी खाका खींचा है। उनके अनुसार, एक दिन, वसन्त में, जब सोतों में काफी पानी हो चला था, एक बड़ा कबीला अथवा खेल, खोजियों की सूचना के आधार पर, आगे बढ़ा। पर्वत-प्रदेश में खाने के लिए उनके पास सामान था। अपने रथ उन्होंने पीछे छोड़ दिये, पर बच्चे, सेमने, डेरे, तम्बू और रसद के सामान उन्होंने बकरों, गदहों और बैलों पर लाद लिये। सरदार और बूढ़े केवल सवारियों पर चले, बाकी आदमी अपनी सवारियों की बागडोर पकड़े हुए आगे बढ़े। सार्थ के पक्षों की रक्षा करते हुए आगे-आगे योद्धा चलते थे। उन्हें बराबर इस बात का डर बना रहता था कि हजार-जान में रहनेवाले किरात कहीं उनपर हमला न कर दें।

रास्ता बन जाने पर और उनपर दोस्त कबीलों के बस जाने पर दूसरे कबीले भी पीछे-पीछे आये जिनसे कालान्तर में भारत का मैदान पट गया। स्वभावतः पहले के बसनेवालों

1. फूशे, वही पृ० १८१ से
2. फूशे, वही, भा० २, पृ० १८४-१८५

और बाद के पहुँचनेवालों में चढ़ाऊपरी होती थी। इसके फलस्वरूप वे नवागन्तुक कभी-कभी दासों में भी अपने मित्र खोजते थे। ऋग्वेद में इस भ्रातृयुद्ध की गूँज मिलती है। पंजाब के बसने के बाद आर्यों के काफिले आने बन्द हो गये।

ऐतिहासिकों और भाषाशास्त्रियों के अनुसार आर्यों के आगे बढ़ने में चार पड़ाव स्थिर किये जा सकते हैं, यथा, (१) सप्तसिन्धु या पंजाब, (२) ब्रह्मदेश (गंगा-यमुना का दोआब), (३) कोसल, (४) मगध। शायद बलख और सिन्धु के बीच में पहला अड्डा कापिशी में बना, दूसरा जलालाबाद में, तीसरा पंजाब में। यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि केवल एक ही मार्ग से कैसे इतने आदमी पंजाब में आये और कालान्तर में सारे भारत में फैल गये। इस प्रश्न का उत्तर उस पथ के भौगोलिक आधारों को लेकर दिया जा सकता है।

हमें इस बात का पता है कि आर्यों के आने के दो पथ थे। सीधा रास्ता कुभा के साथ-साथ चलता था। इस रास्ते से नवागन्तुकों में से जल्दबाज आदमी आते थे। दूसरा रास्ता कपिश से कन्धारवाला था जिससे होकर बहुत-से छोटे-छोटे पथ पंजाब की ओर फूटते थे। उनमें से खास-खास सिन्धु नदी पहुँचने के लिए कुर्रम और गोमल के दाहिने हाथ की सहायक नदियों की घाटियों को पार करते थे। विद्वानों का विचार है कि इस रास्ते का पता वैदिक आर्यों को था, क्योंकि इस रास्ते पर पड़नेवाली नदियों का ऋग्वेद के एक सूक्त (१० । ७५) में उल्लेख है। जैसे-जैसे आर्य भारत के अन्दर धँसते गये, वे नई नदियों को भी अपनी चिरपरिचित नदियों का नाम देने लगे। उदाहरणार्थ, गोमती गंगा की सहायक नदी है और सरस्वती जो पंजाब की पूर्वी सीमा को निर्धारित करती है, हरक्ष्वैती के नाम से कन्धार के मैदान को सींचती थी। ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त में गोमती से गोमल का उद्देश्य है। कन्धार का मैदान बहुत दिनों तक भारत का ही अंश माना जाता था और पह्लव लोग उसे गौर भारत कहते थे। इस बात का कयास किया जा सकता है कि कुभा (काबुल) क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल) से होकर मकरान बलोचिस्तान का रास्ता बोलन से होकर मोहेंजोदड़ो पहुँच जाता था। श्री फूशे का कहना है कि इस निश्चय तक पहुँचने के पहले हमें सोचना होगा कि इस रास्ते पर कोई बहुत बड़ी प्राकृतिक कठिनाई तो नहीं है। बाद में इस रास्ते से बहुत-से लोग आते-जाते रहे। पर इस रास्ते को आर्यों का रास्ता मान लेने में जाति-शास्त्र की कठिनाई सामने आती है। सिन्ध की जातियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारतीय आर्य उत्तर से आये और उन्होंने बोलन दर्रेवाले मार्ग का कम उपयोग किया। पर, जैसा हम ऊपर देख आये हैं, बलूचिस्तान के भग्नावशेष तो यही बतलाते हैं कि यह मार्ग प्रागैतिहासिक काल में काफी प्रचलित था तथा हड़प्पा-संस्कृति को समाप्त करनेवाली एक जाति, जो चाहे आर्य रही हो या न रही हो, इसी रास्ते से सिन्ध में घुसी। सरस्वती और दृषद्वती नदियों के सूखे पाटों की खोज से श्री अमलानन्द घोष भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिन्धु-सभ्यता का असर इन नदियों तक फैला था। अगर यह बात सत्य है तो यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि सिन्ध से होकर आर्य पूर्वी पंजाब और बीकानेर-रियासत में घुसे और उस प्रदेश की सभ्यता को उखाड़कर अपना प्रभाव जमाया। श्री फूशे की मान्यता तभी स्वीकार की जा सकती है जब यह सिद्ध किया जा सके कि बलख, कापिशी और पुष्करावती होकर तक्षशिला आनेवाले मार्ग पर ऐसे प्राचीन अवशेष मिलें, जिनकी समकालीनता आर्यों से की जा सकती हो।

भारतीय और ईरानी आर्य किस समय अलग हुए, इसका तो ठीक ठीक पता नहीं लगता, पर शायद यह घटना ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में घटी होगी। इतिहास में बतलाता है कि अफगानिस्तान के उत्तर और पश्चिम में, यथा सुग्ध, बाह्लीक, मर्ग, अरिय तथा द्रंग प्रदेशों में ईरानी बस गये और अफगानिस्तान के दक्षिण-पूर्व प्रदेश में भारतीय आर्य। कंधार प्रदेश में तथा हिन्दूकुश और सुलेमान के बीच के प्रदेश में भी आर्य आ गये।

ईरानी रेगिस्तान लूत और भारतीय रेगिस्तान थार के बीच का प्रदेश, प्राचीन भारतीयों और ईरानियों के बीच बराबर एक झगड़े का कारण बना रहा। हेलमन्द और सिन्धु नदी की घाटियों के पूर्वी हिस्से का भारतीयकरण हो गया था। हमें पता है कि मौर्यों के युग में अरिआने का अधिकतर भाग भारतीय राजनीति के प्रभाव में था तथा ईरान के बादशाह अपना प्रभाव पंजाब और सिन्ध पर बढ़ाने के लिए तत्पर रहते थे। यह घात-प्रतिघात बहुत दिनों तक चलता रहा। पर अन्त में सुलेमान पर्वत भारतीयों और ईरानियों के बीच की सीमा बन गया। सिन्ध तथा परसिन्धु प्रदेश के लोगों के बीच में जातीय विषमता का उल्लेख भविष्यपुराण (प्रतिसर्गपर्व, अध्याय २) में हुआ है। इसमें कहा गया है कि राजा शालिवाहन ने बलख इत्यादि जीतकर आर्यों और म्लेच्छों यानी ईरानियों के बीच की सीमा कायम कर दी। इस सीमा के कारण सिन्ध तो आर्यों का निवासस्थान रह गया, पर परसिन्धु प्रदेश ईरानियों का घर बन गया। इन प्रदेशों की सीमाओं पर जातियाँ मिली-जुली हैं। ईरान के पठार के कथित भाग पर समय-समय पर फिरन्दरों के धावे होते रहे हैं और इसी कारण से हम उनके जीवन, आवास, संस्कृति और भिन्न-भिन्न बोलियों पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखते हैं। दूसरी ओर सिन्धु की घाटी में पहले से ही एक मजबूत संस्कृति थी जो भौगोलिक और जाति-शास्त्र के दृष्टिकोण से गंगा की घाटी और दक्खिन के रहनेवालों की संस्कृति से अलग बनी रही।

वैदिक आर्य पहले पंजाब में रहे, पर बाद में, कुरुक्षेत्र का प्रदेश बहुत दिनों तक उनका अड्डा बना रहा। आबादी की अधिकता, आबहवा में फेरबदल अथवा जीतने की स्वाभाविक इच्छा से आर्य आगे बढ़े और इस बढ़ाव में ऋक् और अथर्ववेदों के पथकृतों ने बड़ा काम किया।[1] अग्नि के साथ पथकृत् शब्द व्यवहार होने से शायद उत्तर भारत में वैदिक संस्कृति के प्रतीक यज्ञ के बढ़ाव की ओर इशारा है। पथकृत् के रूप में अग्नि का उल्लेख शायद वनों को जलाकर मार्ग-पद्धति कायम करने की ओर भी इशारा करता है। एक बहुत बड़े पथकृत् विदेघ माथव थे जिनकी कहानी शतपथ ब्राह्मण[2] में सुरक्षित है। कहानी यह है कि सरस्वती के किनारे वैदिक धर्म की पताका फहराते हुए अपने पुरोहित गौतम राहूगण तथा वैदिक धर्म के प्रतीक, अग्नि के साथ, विदेघ माथव आगे चल पड़े। नदियों को सुखाते हुए तथा वनों को जलाते हुए वे तीनों सदानीरा (आधुनिक गण्डक) के किनारे पहुँचे। कथा-काल में उस नदी के पार वैदिक संस्कृति नहीं पहुँची थी, पर शतपथ के समय, नदी के पार ब्राह्मण रहते थे तथा विदेह वैदिक संस्कृति का एक केन्द्र बन चुका था। विदेघ माथव के समय में सदानीरा के पूर्व में खेती नहीं होती थी और जमीन दलदलों से भरी थी, पर शतपथ के समय वहां खेती होती थी। कथा के अनुसार, जब विदेघ माथव ने अग्नि से उसका स्थान पूछा तो उसने पूर्व की ओर इशारा किया। शतपथ के समय सदानीरा कोसल और विदेह के बीच सीमा बनाती थी।

---

१ ऋ० वे०, २।२३।६, ६।११।१२, अ० वे०, १८।३।५३
२. शतपथ ब्रा०, १।४।१।१०-१७

वेबर के अनुसार[1] उपर्युक्त कथा में आर्यों के पूर्व की ओर बढ़ने के एक के बाद दूसरे पड़ाव दिये हुए हैं। पहले पहल आर्यों की बस्तियाँ पंजाब से सरस्वती तक फैली थीं। इसके बाद उनकी बस्तियाँ कोसलों और विदेहों की प्राकृतिक सीमा सदानीरा तक बढ़ीं। कुछ दिनों तक तो आर्यों की सदानीरा के पार जाने की हिम्मत नहीं पड़ी, पर शतपथ के युग में वे नदी के पूर्व में पहुँचकर बस चुके थे।

उपर्युक्त कथा में सरस्वती से सदानीरा तक विदेघ माथव के पथ के बारे में और कुछ नहीं दिया है। शायद यह सम्भव भी नहीं था, क्योंकि सरस्वती और सदानीरा के बीच के मार्ग, यानी, आधुनिक उत्तर प्रदेश में उस समय आर्य नहीं बसे थे तथा बड़ी नगरियाँ और मार्ग तबतक नहीं बने थे। पर इस बात की पूरी सम्भावना है कि विदेघ माथव ने जो रास्ता जंगलों के बीच काट-छाँट और जलाकर बनाया वही रास्ता ऐतिहासिक युग में गंगा के मैदान में श्रावस्ती से वैशाली तक का रास्ता हुआ। गंगा के मैदान का दक्खिनी रास्ता शायद काशी के संस्थापक काश्यों ने बनाया।

वैदिक साहित्य से इस बात का पता चलता है कि आर्य प्रागैतिहासिक युग से चलनेवाले छोटे-मोटे जंगली रास्तों, मानपथों और किसी तरह के कान्तार-पथों से बहुत दिनों तक सन्तुष्ट नहीं रहे। ऋग्वेद और बाद की संहिताओं में भी हम लम्बी सड़कों (प्रपथों) से यात्रा का उल्लेख पाते हैं[2] जिनपर डॉ॰ सरकार के अनुसार रथ चल सकते थे।[3] ऋग्वेद से लेकर बाद तक आनेवाले सेतु शब्द से शायद पानीभरे इलाके को पार करने के लिए बन्द का तात्पर्य है; पर डा॰ सरकार इसका अर्थ पुल या पुलिया करते हैं।[4] बाद में चलकर ब्राह्मणों में[5] हम महापथों द्वारा ग्रामों का सम्बन्ध होते देखते हैं; पुलिया को शायद वहन[6] कहते थे। अथर्ववेद में[7] इस बात का उल्लेख है कि गाड़ी चलनेवाली सड़कें बगल के रास्तों से ऊँची होती थीं, इनके दोनों ओर पेड़ लगे होते थे। ये नगरों और गावों से होकर गुजरती थीं। और उनपर कभी-कभी खम्भों के जोड़े होते थे। जैसा डा॰ सरकार का अनुमान है, शायद इन खम्भों का उद्देश्य नगर के फाटक से हो। जैसा कि उन्होंने एक फुटनोट में कहा है,[8] उनका तात्पर्य राजपथों पर चुंगी वसूल करने के लिए रोक भी हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उनका मतलब मील के पत्थरों से हो जिन्हें मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र से गन्धार तक चलनेवाले महामार्ग पर देखा था। ऋग्वेद[9] के प्रपथ अथवा प्रपथ से मतलब शायद सड़कों पर बने विश्रामगृह से हो, जहाँ यात्री को

---

१. इंडिशे स्टूडियन, १, पृ॰ १७० से

२. ऋ॰ वे॰, १०।१७।४-६; ऐ॰ ब्रा॰ ७।१५; काठक सं॰, ३७।१४; अ॰ वे॰ ८।८ २२—परिरथ्या

३ सुविमलचन्द्र सरकार, सम आसपेक्ट्स ऑफ दि अर्लियर सोशल लाइफ ऑफ इण्डिया, पृ॰-१४, लंदन, १९२८

४ वही पृ॰-१४

५ ऐ॰ ब्रा॰, ४।१७।८; छान्दोग्य उप॰ ८।६।२

६. पंचविंश ब्रा॰, १।१।४

७. अ॰ वे॰- १४।१।६३, १४।२।६—६

८. सरकार, वही, पृ॰ १४, फु॰ नो॰ ६

९. ऋ॰ वे॰, १।१६६।६

विश्राम और भोजन मिलता था। अथर्ववेद (१४।२।६) में वधू के रास्ते में तीर्थ के उल्लेख से शायद घाट पर विश्रामगृह से मतलब है। अथर्ववेद में पहले आवसथ का मतलब शायद अतिथिगृह होता था, पर बाद में, वह घर का पर्यायवाची हो गया। अगर डा० सरकार की यह व्यवस्था ठीक है[1] तो आवसथ एक विश्रामालय था जो कि यह आवश्यक नहीं है कि वह सड़कों पर ही रहता हो।

वैदिक साहित्य से हमें इस बात का पूरा पता चलता है कि आर्यों के आगे बढने में उनकी गतिशीलता और मजबूती काफी सहायक होती थी। जगलों के बीच रास्ते बनाने के बाद घूमते हुए ऋषियों और व्यापारियों ने वैदिक सभ्यता का प्रचार किया। ऐतरेय[2] ब्राह्मण का चरैवेति मन्त्र आध्यात्मिक और आधिभौतिक उन्नति के लिए गतिशीलता और यात्रा पर जोर देता है। अथर्ववेद[3] रास्ते पर के लगनेवाले डाकुओं को नहीं भूलता। एक जगह जगली जानवरों और डाकुओं से यात्री की रक्षा के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गई है।[4] एक दूसरी जगह सड़कों पर डाकुओं और भेड़ियों का उल्लेख है और यह भी बतलाया गया है कि सड़कों पर निषाद और दूसरे डाकू (सेलग) व्यापारियों को पकड़ लेते थे और उन्हें लूटने के बाद गढों में फेंक देते थे।[5]

अभाग्यवश वैदिक साहित्य से हमें इतनी सामग्री नहीं मिलती कि हम तत्कालीन यात्रा का रूप खड़ा कर सकें, लेकिन ऐसा मालूम पड़ता है कि लोग शायद ही कभी अकेले यात्रा करते थे। रास्ता में खाना न मिलने से यात्री अपना खाना स्वयं ले जाते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि यात्रियों के लिए खाना कभी-कभी बहँगियों पर ढोया जाता था।[6] खाने का जो सामान यात्री अपने साथ ले जाते थे उसे अवस कहते थे।[7]

उन दिनों जहाँ कहीं भी यात्री जाते थे उनकी बड़ी खातिर होती थी। जैसे ही यात्री अपनी गाड़ी से बैल खोलता था, आतिथेय (मेजबान) उसके लिए पानी लाता था।[8] अगर अतिथि कोई खास आदमी हुआ तो घर-भर उसकी खातिर के लिए तैयार हो जाता था। अतिथि का स्वागत धर्म का एक अंग था और इसलिए लोग उसकी भरपूर खातिर करते थे।

इस बात में जरा भी सन्देह नहीं कि वैदिक युग में व्यापारी लम्बी यात्राएँ करते थे जिनका उद्देश्य तरह-तरह से पैसा पैदा करना,[9] फायदे के लिए पूँजी लगाना[10] और लाभ के लिए दूर देशों में माल भेजना था।[11] तकलीफों की परवाह न करते हुए वैदिक युग के व्यापारी स्थल

---

१. सरकार, वही, पृ० १२

२ ऐतरेय ब्रा०, ७।१४

३ अ० वे०, १२।१।४७

४ अ० वे०, ३।२, ४।७

५ ऐ० ब्रा०, ८।११

६. वाज० सं०, ३।६१

७ श० ब्रा०, २।६।२।१३

८ श० ब्रा०, ३-४-१-५

९ अ० वे०, ३।१५।८।३

१० अ० वे० ३।१५।६

११. अ० वे०, ३।१५।४

और समुद्री मार्ग से भारत का आन्तरिक और बाहरी व्यापार जारी रखे हुए थे। पणि इस युग के धनी व्यापारी थे। शायद वे अपनी कंजूसी से ब्राह्मणों के शत्रु बन गये थे और इसीलिए उन्हें वैदिक मन्त्रों में खरी-खोटी सुनाई गई है।[1] कुछ मंत्रों में पणियों के मारने के लिए देवताओं का आह्वान किया गया है। कभी-कभी तो उन बेचारों को अपनी कंजूसी के कारण जान भी गंवानी पड़ती थी। कहीं-कहीं वे वैदिक यज्ञों के विरोधी माने गये हैं। पणियों में बृबु का विशेष नाम था। एक मन्त्र में उन्हें सूदखोर (बेकनाट) कहा गया है, दूसरी जगह वे दुश्मन माने गये हैं और तीसरी जगह उन्हें पूँजीपति—प्रथिन् (पश्चिमी हिन्दी में गथ पूँजी को कहते हैं) कहा है। वे कभी-कभी गुलाम भी कहे गये हैं[2]।

उपर्युक्त उद्धरणों से ऐसा मालूम पड़ता है कि शायद पणि अनार्य व्यापारी थे और उनका वैदिक धर्म में विश्वास न होने से इतनी छीछालेदर थी। कुछ लोगों का विश्वास है कि पणि शायद फिनीशिया के रहनेवाले व्यापारी थे, पर ऐसा मानने के लिए प्रमाण कम हैं। हम ऊपर देख आये हैं कि जिस समय आर्यों का भारत में आगमन हुआ उस समय देश का अधिकतर व्यापार हड़प्पा संस्कृति तथा बलूचिस्तान के लोगों के हाथ में था। बहुत सम्भव है कि वेदों में इन्हीं व्यापारियों की ओर संकेत है। यह बात साफ है कि ये व्यापारी वैदिक धर्म नहीं मानते थे, इसीलिए आर्यों का उनपर रोष था।

ऋग्वेद में व्यापारियों के लिए साधारण शब्द वणिज् है[3]। व्यापार अदला-बदली से चलता था गोकि यह कहना कठिन है कि व्यापार किन वस्तुओं का होता था। अथर्ववेद[4] से शायद इस बात का निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दूर्श (एक तरह का ऊनी कपड़ा) और पवस (चमड़ा) का व्यापार होता था। तत्कालीन व्यापार में मोल-भाव काफी होता था। वस्तु-विनिमय के लिए गाय, बाद में, शतमान सिक्के का उपयोग होता था।

यह कहना मुश्किल है कि वैदिक युग में श्रेष्ठि या सेठ होते थे अथवा नहीं। पर, ब्राह्मणों[5] में तो सेठों का उल्लेख है। शायद वे निगम के चौधरी रहे हों। उसी प्रकार वैदिक साहित्य से सार्थवाह का भी पता नहीं चलता और इस बात का भी उल्लेख नहीं है कि माल किस तरह एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता था। पर इसमें सन्देह की कम गुंजाइश है कि माल सार्थ ही ढोते रहे होंगे, क्योंकि सड़क की कठिनाइयाँ उन्हीं के बस की बात थीं।

विद्वानों में इस बात पर काफी बहस रही है कि आर्यों को समुद्र का पता था अथवा नहीं। पर यह बहस उस युग की बात थी जब हड़प्पा-संस्कृति का पता तक न था। जैसा हम पहले देख चुके हैं, दक्खिनी बलूचिस्तान से ई० पू० ३००० के करीब भी सुमेर के साथ समुद्री व्यापार चलता था। मोहेन-जो-दड़ो से तो नाव की दो आकृतियाँ ही मिली हैं। हमें अब यह भी मालूम पड़ता जा रहा है कि वैदिक आर्यों का हड़प्पा-संस्कृति से संयोग हुआ; फिर

---

१ ऋ० वे०, १।३३।३; ४।२८।७, अ० वे०, ५।११।७, २०।१२८।४

२. वैदिक इंडेक्स, भा० १, पृ० ४७१ से ७३

३. ऋ० वे०, ११।१२।११; ५।४५।६

४. अ० वे०, ४।७।६

५. ऐ० ब्रा०, ३।३०; कौषीतकी ब्रा०, २८।६

भी, अगर उन्हें समुद्र न मालूम हुआ हो तो आश्चर्य की बात होगी। ऋग्वेद में [१] समुद्र के रत्न, मोती का व्यापार, समुद्री व्यापार के फायदे तथा भुज्यु की कहानी[२], ये सब बातें वैदिक आर्यों के समुद्र-ज्ञान को इतना साफ करती हैं कि बहस की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। बाद की संहिताओं में समुद्र का और साफ उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता [३] स्पष्ट रूप से समुद्र का उल्लेख करती है। ऐतरेय ब्राह्मण[४] में समुद्र को अनन्त और भूमि का पोषक तथा शतपथ में [५] प्राच्य और उदीच्य बाद के रत्नाकर (अरबसागर) और महोदधि (बंगाल की खाड़ी) के लिए आये हैं।

ऋग्वेद [६] और बाद की संहिताओं [७] के अनुसार समुद्री व्यापार नाव से चलता था। बहुधा नौ शब्द का व्यवहार नदियों में चलनेवाली छोटी नावों के लिए होता था। 'नौ' शब्द का प्रयोग बेड़े (दारुनौका)[८] यानी मद्रास के समुद्रतट पर चलनेवाली कट्टुमारम् और डोनी नावों के लिए भी होता था।

बहुतों की राय है कि वैदिक साहित्य में मस्तूल और पाल के लिए शब्द न होने से वैदिक आर्यों को समुद्र का पता नहीं था, पर इस तरह की बातों में कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि वेद कोई कोष तो है नहीं कि जिनमें सब शब्दों का आना जरूरी है। जो भी हो, संहिताओं में कुछ ऐसे उल्लेख हैं जिनसे समुद्रयात्रा की ओर इशारा होता है। ऋग्वेद में [९] फायदे के लिए समुद्रयात्रा का उल्लेख है। एक जगह अश्विनों द्वारा एक सौ डाँडोंवाले डूबते हुए जहाज से भुज्यु की रक्षा का उल्लेख है।[१०] बुहलर के अनुसार यह घटना हिन्दमहासागर में भुज्यु की किसी यात्रा की ओर इशारा करती है जिसमें उसका जहाज टूट गया।[११] उसके जहाज में सौ डाँड लगते थे।[१२] जब वह इस दुर्घटना में पड़ा तो उसने किनारे का पता लगाने के लिए पक्षियों को छोड़ा।[१३] जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, बाबुली गिलगमेश की कहानी में दिशाकाकों का उल्लेख है तथा जातकों में जहाजों के साथ 'दिशाकाक' रखने के उल्लेख हैं। वैदिक युग में बृबु भी एक बड़ा समुद्री व्यापारी था।[१४]

१ ऋ० वे०, १।४७।६, ७।६।७
२. ऋ० वे०, १।४८।३; ५६।२, ४।५५।६
३ तै० सं०, २।४।८।२
४. ऐ० ब्रा०, ३।३६।७
५. श० ब्रा०, १।६,३।११
६. ऋ० वे०, १।११६।१, २।३६।४
७ अ० वे० २।३६।५; ५।१६।८
८. ऋ० वे०, १०।१५५।३
९. ऋ० वे०, १।५६।२; ४।५५।६
१०. ऋ० वे०, १।११६।३ से, वैदिक इंडेक्स, १, ४६१-६२
११ वैदिक इंडेक्स, २, १०७-१०८
१२ ऋ० वे०, १।११६।५
१३. ऋ० वे०, ६।६२।२
१४. ऋ० वे०, ६।४५।३१-३३

वेदों में नाव-सम्बन्धी बहुत-से शब्द आये है। द्युम्न [1] शायद एक बेड़ा था तथा प्लव [2] शायद एक तरह की नाव थी। अरित्र डॉड को कहते थे। ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता मे [3] सौ डॉडोंवाले जहाज का उल्लेख है। डॉड चलानेवाले अरितृ और नाविक नावजा [4] थे। नौमण्ड शायद लंगर था [5] और शंविन शायद नाव हटाने की लग्गी। [6]

हम ऊपर देख आये है कि ई० पू० तीसरी और दूसरी सहस्राब्दियों में बलूचिस्तान और सिन्ध का समुद्र के रास्ते व्यापारिक सम्बन्ध था। बाबुली और असीरियन साहित्यों में सिन्धु एक तरह का कपड़ा था जो हिरोडोटस के अनुसार मिस्र, लेवांट और बाबुल में प्रचलित था। हिरोडोटस उस कपड़े को सिंडन कहता है। सेस [7] के अनुसार सिन्धु सिन्ध का बना कपड़ा था, पर इस मत के केनेडी और दूसरे बड़े विरोधी थे। [8] उनके मत के अनुसार सिन्धु-सिंडन किसी वनस्पतिविशेष के रेशे से बना एक तरह का कपड़ा था। पर यह सब बहस मोहेन-जो-दड़ो से सूती कपड़े के टुकड़ों के मिलने से समाप्त हो जाती है और यह बात प्राय. निश्चित हो जाती है कि सिन्धु सिन्ध का बना सूती कपड़ा ही था जो शायद समुद्री रास्ते से बाबुल पहुँचता था।

कुछ समय पहले कुछ विद्वानों की यह राय थी कि वैदिक युग में भारतीयों का बाहर के देशों से सम्बन्ध नहीं था। उत्तरमद्र और उत्तरकुरु भी जिनकी पहचान मीडिया और मध्य-एशिया में लू-लान के प्राचीन नाम क्रोरैन से की जाती है, काश्मीर में रखे गये। पर जैसा हम ऊपर देख आये हैं, अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी, वैदिक आर्य समुद्र-यात्रा करते थे तथा भुज्यु और बृबु-जैसे व्यापारी इस देश से दूसरे देशों का सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे। अभाग्यवश हमें विदेशो के साथ इस प्राचीन सम्बन्ध के पुरातात्त्विक प्रमाण बहुत नहीं मिलते, पर वेदों में, विशेषकर अथर्ववेद में, कुछ शब्द ऐसे आये हैं जिनसे यह पता चलता है कि शायद वैदिक युग में भी भारतीयों के साथ बाबुल का सम्बन्ध था। लोकमान्य तिलक ने सबसे पहले इन शब्दों पर, जैसे तैमात, अलगी-विलगी, उरुगूला और ताबुवम् [9] के इतिहास पर प्रकाश डाला और यह बताया कि ये शब्द बाबुली भाषा के हैं। इसमें कोई शक नहीं कि ये शब्द बहुत प्राचीन काल में अथर्ववेद में घुस पड़े। इस बात में भी सन्देह है कि इन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ समझा जाता था या नही। सुवर्ण मना ऋग्वेद में एक बार आया है। इसका सम्बन्ध असीरी मनेह से हो सकता है। उपर्युक्त बातों से भी भारत का बाबुल के साथ व्यापारिक सम्बन्ध का पता चलता है।

---

१ ऋ० वे०, ८।१६।१४

२. ऋ० वे०, १।१८२।५

३. ऋ० वे०, १।११६।५ ; वा० सं०, २१।७

४ शतपथ ब्रा०, २।३।३।५

५. शतपथ ब्रा०, २।३।३।१५

६ अ० वे०, ६।२।६

७ हिबर्ट लेक्चर्स, पृ० ११८, लंडन, १८८७

८. जे० आर० ए० स० १८६८, पृ० २५२ ५३

९. अ० वे०, ५।१३।६-१०

१०. ऋ० वे०, ८।७८।२

जो भी हो, ई० पू० १० वीं सदी में तो विदेशों के साथ भारत के व्यापार का, जिसमें अरब बिचवई का काम करते थे, अच्छी तरह से पता चलता है। शायद १० सदी ई० पू० में, इन्हीं अरबों की मारफत, सुलेमान को भारतीय चन्दन, रत्न, हाथीदाँत, बन्दर और मोर मिले। भारत से जाने की वजह से ही शायद हेब्रू थुकि [इम्रू] (मोर) की व्युत्पत्ति तामिल तोकै से, हेब्रू अहल की तामिल अहिल से, हेब्रू अलमुग की संस्कृत वल्गु से, हेब्रू कोफ (बंदर) की संस्कृत कपि से, हेब्रू शेन हब्बिन (हाथीदाँत) की संस्कृत इभदंत से, हेब्रू सदेन की यूनानी सिएडन और संस्कृत सिन्धु से की जाती है।[1]

यह भी सम्भव है कि ईसा-पूर्व ६वीं सदी में भारतीय हाथी असीरिया जाते थे। शाल मनेसर तृतीय (८५८-८२४ ई० पू०) के एक सूचिकाद्वारस्तम्भ पर दूसरे जानवरों के साथ भारतीय हाथी का भी चित्र बना हुआ है। लेख में उसे बजियाति कहा गया है जो शायद संस्कृत वाशिता का रूप हो, जिसके मानी हथिनी होता है। विद्वानों की राय है कि भारतीय हाथी असीरिया को हिन्दूकुश मार्ग से होकर जाते थे।[2]

भारत के साथ असीरिया के व्यापारिक सम्बन्ध का इस बात से भी पता चलता है कि असीरिया के राजा सेन्नेचेरीब ने (ई० पू० ७०४-६८१) अपने उपवन में कपास के पौधे लगाये थे।[3] नेबुशदन्नेजार (६०४-५८१ ई० पू०) के महल में सिन्धु के शहतीर मिले हैं। ऊर में नबोदिन (ई० पू० ५५५-५३८) द्वारा पुनर्निर्मित चन्द्रमन्दिर में भारतीय सागवान के शहतीर मिले जो शायद वहाँ पश्चिमी भारत से लाये गये थे।[4]

बाबुल में दक्षिण भारतीयों की अपनी एक बस्ती थी। निप्पुर के मुरशु की कोठी के हिसाब की मिट्टी की तख्तियों से यह पता चलता है कि वह कोठी भारतीयों के साथ व्यापार करती थी।[5] इसी व्यापारिक सम्बन्ध से कुछ तामिल शब्द—जैसे अरशि (चावल), यूनानी ओरिजा, करप (दालचीनी), यूनानी कार्पियन, इंजिवेर (सोंठ), यूनानी जिगिबेरोस, पिप्पी (बड़ी पीपल), यूनानी पेपेरी तथा संस्कृत वैडूर्य (बिल्लौर), यूनानी बेरिल्लोस—यूनानी भाषा में आये।

हम ऊपर देख चुके हैं कि वैदिक युग में समुद्रयात्रा विहित थी। पर सूत्रकाल में शायद जात-पाँत और छुआछूत के विचार से समुद्रयात्रा का निषेध हुआ। बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार[6] उत्तर के ब्राह्मण समुद्रयात्रा करते थे, पर शास्त्रविहित न होने से समुद्रयात्री जात-बाहर माने जाते थे। मनु भी[7] शायद समुद्रयात्रा के पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि वे समुद्रयात्री के साथ कन्या के विवाह का आदेश नहीं देते। पर उपर्युक्त निषेध शायद ब्राह्मणों तक ही सीमित थे। बौद्ध-साहित्य से तो पता चलता है कि समुद्रयात्रा एक साधारण बात थी।

---

१. आई० एच० क्यू० २ (१९२६), पृ० ११०
२ जे० आर० ए० एस०, १९१८, पृ० २६०
३. जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० ४०३
४. जे० आर० ए० एस०, १८९८, पृ० १६६ से
५. जे० आर० ए० एस०, १९१७, पृ० २३७
६. बौ० ध० सू०, १।१।२१
७ मनुस्मृति, ३।११२

तीसरा अध्याय

ई० पू० पाँचवीं और छठी सदियों के राजमार्ग पर विजेता और यात्री

हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि भारतीय आर्य किस तरह इस देश में बढ़े और संगठित हुए; पर पुरातत्व की सहायता न मिलने से अभी तक उनका इतिहास अधूरा और गड़बड़ है। वैज्ञानिक इतिहास के दृष्टिकोण से तो भारत का इतिहास हखामनी-शक्ति द्वारा सिन्ध और पंजाब के कुछ भाग पर अधिकार और सिकन्दर की विजय-यात्रा से ही शुरू होता है। उनसे हमें पता चलता है कि बलख से तक्षशिलावाली सड़क पर आर्यों के काफिलों का आना कभी का बन्द हो चुका था तथा राजनीतिक विजय का युग आरम्भ हो चुका था। भारत पर ये चढ़ाइयाँ हखामनियों के समय से आरम्भ होकर शक, पह्लव, कुषाण, हूण, तुर्क और मुगल-शक्तियों द्वारा बराबर जारी रहीं। इस अध्याय में हम भारत के प्राचीन अभियानों की ओर अपनी दृष्टि डालेंगे।

कुरुष और दारा प्रथम की चढाइयां राजनीतिक थीं। कुरुष के धावे सीर दरिया तक और दारा के धावे सिन्धु तक हुए। प्लिनी प्रसंगवश कुरुष को कपिशी तक आया हुआ मानता है और हिरोडोटस दारा के धावे हिन्दमहासागर तक मानता है। श्री फूशे[1] का विश्वास है कि सिकन्दर के धावे इन्हीं राजों के धावों पर आश्रित थे। इस राय के समर्थन में श्री फूशे का कहना है कि सिकन्दर ईरानियों से इतना प्रभावित था कि उसने दारा तृतीय के धर्म तथा राज-काज के तरीकों को अपनाया। शायद हखामनियों से मिली राज्यसीमा के पुन: स्थापन के लिए यह आवश्यक भी था। श्री फूशे का विचार है कि व्यास के आगे सिकन्दर के सिपाहियों ने आगे बढ़ने से इसलिए नहीं इनकार किया कि वे थक गये थे, वरन् इसलिए कि प्राचीन ईरानी साम्राज्य की सीमा वे स्थापित कर चुके थे और उसके आगे बढने की कोई जरूरत नहीं थी। घबराकर और गुस्से में आकर जब सिकन्दर सिन्धु के रास्ते लौटा, तब भी, वह दारा प्रथम की फौज का रास्ता ले रहा था।

यहाँ ईरानियों द्वारा गन्धार-विजय के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। हखामनी अभिलेखों से हमें पता चलता है कि यह घटना ५२० ई० पू० में अथवा उसके पहले घटी होगी। सिन्ध शायद ईरानियों के कब्जे में ५१७ या ५१६ ई० पू० में आया। हखामनियों द्वारा सिन्ध-विजय को श्री फूशे दो भागों में बाँटते हैं। कुरुष (५५२-५३० ई० पू०) ने अपने पहले धावे में कपिश की राजधानी समाप्त कर दी, फिर शायद महापथ से आगे बढ़कर उसने गन्धार जीता, जो उसके राज का एक सूबा हो गया। उस समय गन्धार की सीमा पश्चिम में उपरि-शयेन यानी हिन्दूकुश के पार तक पहुँचती थी, और दक्षिण में निचले पंजाब तक, जिसमें

---

1 फूशे, वही, ७, पृ० १६०-१६४

यूनानियों का कस्सपाइरोस (कस्सपपुर) यानी मुल्तान था। पूर्व में उसकी सीमा रावलपिण्डी और झेलम के जिलों के साथ तक्षशिला के राज में शामिल थी। यह भी मार्के की बात है कि स्त्राबो के अनुसार चेनाब और रावी के बीच का दोआब भी गन्धारिस कहा जाता था। गन्धार की उपर्युक्त सीमाओं से हमें पता चलता है कि उसमें कपिश से पंजाब तक फैला हुआ सारा प्रदेश आ जाता था।

अपने लम्बे निर्गमन-मार्गों की रक्षा के लिए दारा प्रथम ने निचली सिन्धु जीत-कर अरबसागर पहुँचने का निश्चय किया और शायद इसी उद्देश्य को लेकर उसने स्काइलैक्स को सिन्ध की खोज के लिए भेजा। उसका बेड़ा कस्सपपुर यानी मुल्तान से चला। यहीं नगर के कुछ नीचे, चेनाब के बाएँ किनारे पर दारा का बेड़ा तैयार हुआ जो ढाई बरस के बाद मिस्र में दारा से जाकर मिला। अपनी यात्रा में इस बेड़े ने शायद लालसागर पर के मिस्री बन्दर तथा पश्चिम भारत के बन्दरों की यात्रा निरापद कर दी जिसके फलस्वरूप अज्ञात और दजला के मुहाने से लेकर सिन्धु के मुहाने तक का समुद्री किनारा उसके वश में आ गया और हिन्दमहासागर की शान्ति सुरक्षित हो गई।

पर इतिहास हमें बतलाता है कि सिन्ध पर ईरानियों का अधिकार कुछ थोड़े ही काल तक था। जैसा हमें पता है, सिन्धु के ऊपरी रास्ते में सिकन्दर को अधिक तकलीफ नहीं उठानी पड़ी, पर सिन्धु के निचले भाग में उसे ब्राह्मणों का सख्त मुकाबला करना पड़ा। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि शायद ईरानियों के समय भी ऐसी ही घटना घटी होगी।

यहाँ हखामनियों के पूर्वी प्रदेशों के बारे में भी कुछ जान लेना आवश्यक है। इनकी एक तालिका हिरोडोटस (३।८९ से) ने दी है जिसकी तुलना हम दारा के लेखों में आये प्रदेशों से कर सकते हैं। इन प्रदेशों के नाम जातियों अथवा शासन-शब्दों पर आधारित हैं।[1]

अभिलेखों और हिरोडोटस में आये प्रदेशों के नामों की जाँच-पड़ताल से यह पता चलता है कि उनके समूह बनाने में बिखरे हुए कबीलों से मालगुजारी वसूल करने की सुविधा का अधिक ध्यान रखा गया था। जैसे १६ वें प्रदेश में सब सूबे पार्थव, अरिय, खोरास्म, द्रंग और सुग्ध थे, १२ वें प्रदेश में बलख (मर्ग के साथ) था, २० वें प्रदेश, अर्थात् द्रंग में हामून का दलदली हिस्सा, पूर्वी सगरती यानी ईरानी कोहिस्तान के फिरन्दर तथा फारस की खाड़ी पर रहनेवाले कुछ कबीले थे। भारतीय और बलूची १७ वें प्रदेश में थे। अभिलेखों में मकों का बराबर उल्लेख है, उनका प्रदेश सिन्ध की सीमा पर था। हिरोडोटस के समय में मुकोइ १४ वें प्रदेश में थे। हिरोडोटस बलूचिस्तान का प्रचलित नाम न देकर उसे भीतरी परिकराव प्रदेश कहता है। ७ वें प्रदेश में गन्धार और सत्तगिद (प्रा० ई० थथगुश) शामिल थे। थथगुश प्रदेश हजारजात के पर्वतों में था तथा इसके साथ दरदों और अप्रीतियों (अफ्रीदियों) का सम्बन्ध था। पन्द्रहवें प्रदेश का ठीक विवरण नहीं मिलता। पक्थ की तरह अरखोस उस समय मशहूर नहीं मालूम पड़ता। पक्थ से हिरोडोटस (३।१०२, ४।४४) का उद्देश्य मुल्तान से पश्चिम सुलेमान पर्वत से है। पक्थ की जगह शक और कस्सपों के आने से उक्त दुविधा पैदा होती है, क्योंकि १० वें प्रदेश में कस्सप कस्पियन समुद्र के पास आते हैं तथा शक

---

[1] फूशे, वही, २, पृ०, १६१ से

शकस्तान में। थी फूशे [1] १५ वें प्रदेशों के कस्सपों की पहचान मुलतान, जिसका नाम शायद कस्सपपुरी था, के रहनेवालों से करते हैं, जो बाद में क्षुद्रकमालव कहलाये। शकों की पहचान शकस्तान के होमवर्गा शकों से की जा सकती है।

हेकातल के अनुसार कश्यपपुर (कस्सपपुर) गन्धार में था पर हिरोडोटस उसे दूसरे प्रदेश में रखता है। इस असामञ्जस्य को हटाने के लिए यह मान लिया जा सकता है कि दारा प्रथम द्वारा निर्मित अफगानिस्तान और पंजाब प्रदेश चरस और आर्तचरस प्रथम द्वारा दो समान भागों में फिर से बाँटे गये। लगता है, उस समय गन्धार निचले पंजाब से अलग करके शकस्तान से जोड़ दिया गया था। यह बँटवारा भौगोलिक आधार पर किया गया था। पंजाब प्राकृतिक रूप से नमक की पहाड़ियों द्वारा विभाजित है। उसके उत्तर में इतिहास-प्रसिद्ध महापथ पेशावर, रावलपिण्डी, लाहौर और दिल्ली होते हुए गंगा के मैदान को एशिया के ऊँचे भागों से मिलाता है, पर दक्खिन-पंजाब के भाग का सिवाय गन्धार और हेरात होकर पश्चिम के साथ दूसरा सम्बन्ध नहीं था। इस भूमि का दो प्रदेशों में विभाजन था जिनमें एक के अन्दर काबुल की घाटी और पंजाब का ऊँचा हिस्सा आ जाता था तथा दूसरे में हेलमंद की घाटी और निचला पंजाब। इस तरह का पथ-विभाजन सड़कों के भौगोलिक नियमों के अनुसार ही है।

जिस समय हखामनी सिन्ध और गन्धार में अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे उस समय पूर्वी पंजाब से लेकर सारे भारत में किसी विदेशी आक्रमण का पता नहीं था। यह समय बुद्ध और महावीर का था जिन्होंने वैदिक सनातन धर्म के प्रति बगावत का झण्डा उठाया था। ईसा की सातवीं सदी पूर्व में भी देश सोलह महाजनपदों में विभाजित था। इन जनपदों में लड़ाइयाँ भी होती थीं, पर आपस में सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध कभी नहीं रुका। इन महाजनपदों के नाम थे—(१) अंग, (२) मगध, (३) काशी, (४) कोसल, (५) वृज्जि, (६) मल्ल, (७) चेदि, (८) वंश, (९) कुरु, (१०) पचाल, (११) मत्स्य, (१२) शूरसेन, (१३) अस्मक, (१४) अवन्ती, (१५) गन्धार और (१६) कम्बोज [2]। ईसा-पूर्व ६ठी शताब्दी में राजनीतिक स्थिति कुछ बदल गई थी; क्योंकि कोसल ने काशी को अपने साथ मिला लिया था और मगध ने अंग को।

बुद्ध के काल में हम दो बड़े साम्राज्य और कुछ छोटे राज्य तथा बहुत-से गणतन्त्र पाते हैं। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में, बूलियों की राजधानी अल्लकाप्प में, कालामों की राजधानी किसपुत्र में, भग्गों की राजधानी सुंसुमारगिरि में, कोलियों की राजधानी रामग्राम में, मल्लों की राजधानी पावा-कुशीनारा में और लिच्छवियों की राजधानी वैशाली में थी। इन दस गणों की स्थिति कोसल के पूर्व गंगा और पहाड़ों के बीच के प्रदेश में थी। शाक्यों का प्रदेश हिमालय की ढाल पर था गोकि उसकी ठीक-ठीक सीमा का पता नहीं लगता। इनकी प्राचीन राजधानी कपिलवस्तु आज दिन नेपाल में तिलौराकोट के नाम से प्रसिद्ध है। बूलियों और कालामों के प्रदेशों के बारे में हमें अधिक पता नहीं है, पर इतना कहा जा सकता है कि इनके गण कपिलवस्तु से वैशाली जानेवाली सड़कों पर बसे थे। कोलिय लोग शाक्यों के पड़ोसी थे तथा रोहिणी नदी उनके राज्यों के बीच की सीमा थी। मल्लों की दो शाखाएँ थीं जिनकी राजधानी पावा (पपउर) और कुशीनारा

---

१. वही, १, पृ० ११८

२. अंगुत्तरनिकाय १।२१३; ४।२५२, २५६।२६०

थी। कपिलवस्तु वैशाली सड़क पर गोरखपुर जिले के पडरौना तहसील में स्थित है। वज्जी लोगों के कब्जे में उत्तरबिहार का अधिकतर भाग था और उनकी राजधानी वैशाली में थी।

इस बात में बहुत कम सन्देह है कि बुद्ध के जीवनकाल में कोसलों का राज्य सबसे बड़ा था और इसे लिच्छवियों और मगध के अजातशत्रु का सामना करना पड़ता था। शाक्यों, कोलियों और मल्लों के गणतन्त्र, कोसल के पूर्व होने से, मगध के प्रभाव में थे। दक्षिण में कोसल की सीमा काशी तक पहुँचती थी जहाँ शायद काशी के लोगों का मान रखने के लिए प्रसेनजित् का छोटा भाई ठीक उसी तरह काशिराज बना हुआ था जैसे मगध द्वारा अंग पर अधिकार हो जाने के बाद ही चम्पा में अंगराज नाम से राजे बने हुए थे।[1] पश्चिम में कोसल की सीमा निर्धारित करना कठिन है। उस काल में लखनऊ और बरेली जिलों के उत्तरी भाग जंगलों से ढँके हुए थे; पर हमें मालूम है कि गंगा के मैदान का उत्तरी पथ इस प्रदेश से होकर निकलता था। इसलिए सम्भव है कि यहाँ नगर रहे हों। बौद्ध-साहित्य में उत्तरपंचाल का उल्लेख न होने से यह सम्भव है कि गंगा नदी पश्चिम में भी कोसल तथा उसके प्रभाव में दूसरे गणों की सीमा बाँधती थी।[2]

बुद्ध के समय में प्रसेनजित् कोसल के राजा थे। अजातशत्रु ने उन्हें एक बार हराया था; पर उन्होंने उस हार का बदला बाद में ले लिया। प्रसेनजित् को उसके बेटे विड्डभ ने गद्दी से उतार दिया। वह राजगृह में अजातशत्रु से सहायता माँगने गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। अपनी बेइज्जती का बदला लेने के लिए विड्डभ ने शाक्यों के देश पर हमला कर दिया तथा बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों तक को नहीं छोड़ा और उसी समय शाक्यों का अन्त हो गया। विड्डभ को भी इस अत्याचार का बदला मिला। कपिलवस्तु से लौटते हुए वह अपनी सेना के साथ अचिरावती में डूब गया। कोसल का अन्त हो गया तथा मगध ने उसे धीरे-धीरे हथिया लिया।

कोसल के प्रसेनजित् और वत्स के उदयन की तरह मगध के बिम्बसार बुद्ध के समकालीन थे। अंगुत्तराप (गंगा से उत्तर भागलपुर और मुंगेर जिले) उस समय उसके कब्जे में था तथा पूर्व और दक्खिन में उसके राज्य का कोई सामना करनेवाला नहीं था। पितृहन्ता अजातशत्रु के समय मगध के तीन शत्रु थे। हम कोसल के बारे में ऊपर कह आये हैं। उस समय लिच्छवी भी इतने प्रबल हो गये थे कि उनके सिपाही गंगा पार करके मगध के प्रदेश पाटलिपुत्र को पहुँच जाते थे और वहाँ महीनों टिके रहते थे।[3] अजातशत्रु और लिच्छवियों के बीच की दुश्मनी का मुख्य कारण वह शुल्क था जो मगध और वज्जी प्रदेशों की सीमा पर चलनेवाले पहाड़ी रास्ते पर लगता था। शायद यहाँ उस रास्ते से संकेत है जो जयनगर होकर धनकुटा तक चलता है।[4] यह दुश्मनी इतनी बढ़ गई थी कि हम महापरिनिब्बान सुत्तन्त में अजातशत्रु को वज्जियों पर धावा करने की इच्छा की बात सुनते हैं और इसी इरादे को लेकर उसने पाटलिग्राम के दक्षिण में एक किला बनवाया। यही ग्राम शायद

---

१. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या पृ० ३०७

२. राहुल सांकृत्यायन, मज्झिमनिकाय, पृ० ज, बनारस, १९३३

३. राहुल, बुद्धचर्या, पृ० ४१७

४. वही, पृ० ४२०

उस समय मगधों और वज्जियों की सीमा था। इस घटना के तीन ही वर्ष बाद अजातशत्रु के मन्त्री वस्सकार के षड्यन्त्रों से वैशाली का पतन हुआ। अजातशत्रु का तीसरा प्रतिस्पर्धी अवन्ती का चण्डप्रद्योत था जिसका इरादा राजगृह पर धावा करने का था। इस बात का पता नहीं है कि अवन्ती और मगध की सीमाएँ कहाँ मिलती थीं; पर शायद यह जगह पालामऊ ज़िले में थी। जो भी हो, यह तो निश्चय है कि दोनों की प्रतिस्पर्धा गंगा की घाटी हस्तगत करने के लिए थी। यह स्वाभाविक है कि वत्सराज उदयन का अपने ससुर, अवन्ती के प्रद्योत, के साथ अच्छा ताल्लुक था। प्रद्योत का पौत्र बोधिकुमार मगध पर धावा बोलने के लिए सुंसुमारगिरि यानी चुनार पर डेरा डाले हुए था और यह सम्भव है कि प्रद्योत भी उसी रास्ते आया हो। जो भी हो, यह बात साफ है कि बुद्ध के समय में अवन्ती और मगध के राज्य उत्तर भारत में अपनी धाक जमा लेने के फिराक में थे; पर वज्जियों के हारने के बाद अजातशत्रु का पलड़ा भारी हो गया और इस तरह मगध उत्तर भारत में एक महान् साम्राज्य बन गया।[१] अजातशत्रु के पुत्र और उत्तराधिकारी उदायीभद्द ने गंगा के दक्खिन में कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र नगर बसाया। यह नया नगर शायद अजातशत्रु के किले के आसपास ही कहीं बसाया गया था। अपने बसने के बाद से ही यह नगर व्यापार और राजनीति का एक बड़ा भारी केन्द्र बन गया।

उत्तर भारत में उस समय एक दूसरी बड़ी शक्ति वंश अथवा वत्स थी। इस राज्य के पूर्व में मगध और दक्खिन में अवन्ती पड़ते थे। वत्सप्रदेश में चेदि और भर्ग राज्यों के भी कुछ भाग आ जाते थे। उसके पश्चिम में पंचाल पड़ता था जिसपर शायद वत्सों का अधिकार था। वत्स के पश्चिम में सौरसेनप्रदेश पर प्रद्योत के नाती माथुर अवन्तिपुत्र राज्य करते थे। उसके उत्तर में थुल्लकोट्ठित का राजा एक कुरु था और इसलिए उदयन का ही जात-भाई था। उपर्युक्त सबूतों से यह पता चल जाता है कि वत्स कोसल के ही इतना बड़ा राज्य था। जिस तरह मगध कोसल को खा गया उसी तरह वत्स अवन्ती का शिकार बना। इसके फलस्वरूप केवल अवन्ती और मगध के राज्य एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा के लिए बाकी बच गये।[२]

ऊपर हमने गंगा की घाटी तथा मालवा के कुछ राज्यों का वर्णन किया है, पर, जैसा हम ऊपर देख आये हैं, सोलह महाजनपदों में गन्धार और कम्बोज भी थे। बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि गन्धार के राजा पुक्कुसाति थे। अगर, जैसा कि श्री फूशे का अनुमान है, हखामनी व्यास नदी तक बढ़ आये थे तो पुक्कुसाति से उनका मुठभेड़ होना जरूरी था, लेकिन ऐसी किसी मुठभेड़ का बौद्ध-पालि-साहित्य में उल्लेख नहीं है। यहाँ हम बौद्ध-संस्कृत-साहित्य की एक कथा की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। कथा यह है कि जीवक कुमारभृत्य वैद्यक पढ़ने के लिए तक्षशिला पहुँचे। जब वे तक्षशिला में थे तो पुक्कुसाति के राज्य पर प्रत्यतिक पाण्डव नामक राजाओं ने आक्रमण किया; पर जीवक कुमारभृत्य की मदद से यह आक्रमण रोका जा सका और राजा हराये जा सके।[३] प्रश्न यह उठता है कि ये राजा कौन थे। बहुत सम्भव है कि इस कथा में कदाचित् दारा प्रथम के चढ़ाव की ओर संकेत हो।

---

१ राहुल सांकृत्यायन, मज्झिमनिकाय, पृ० क

२, राहुल, वही, पृ० क से

३, गिलगिट टेक्स्ट, भा० ३, २, पृ० ३१-३२

बौद्ध साहित्य को कम्बोज का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था और वहां के रहनेवालों के रीति रिवाजों से भी वे परिचित थे। पर बुद्ध के समय कम्बोज का भारतवर्ष के अधीन होना एक विवादास्पद प्रश्न है।

ऊपर हमने पंजाब और मध्यदेश के गणों और राज्यों का एक सरसरी तौर पर इतिहास इसलिए दे दिया है कि उसके द्वारा हमें महापथ का इतिहास समझने में आसानी पड़ सके। बौद्ध-साहित्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि बुद्ध के समय महापथ कुरुप्रदेश से उठता था तथा उत्तरप्रदेश में उत्तरपञ्चाल, यानी बरेली जिले में धंसता हुआ वह कोशलप्रदेश में होता उसके अधिकारी राज्यों, जैसे शाक्यों और मल्लों के देश में होकर सीधे कपिलवस्तु पहुँच जाता था। कपिलवस्तु के ध्वंस हो जाने पर श्रावस्ती से कपिलवस्तुवाले राजमार्ग की महत्ता कम हो गई और धीरे-धीरे शाक्यों के प्रदेश को तराई के जंगलों ने घेर लिया। मगध-साम्राज्य में कोशल और वज्जी-जनपदों के मिल जाने से उत्तर प्रदेश में लेकर कजंगल तक का महापथ मगध के अधिकार में आ गया। गंगा के मैदान का दक्खिनी पथ इन्द्रप्रस्थ से मथुरा होता हुआ इलाहाबाद के पास कौशाम्बी पहुंचता था और वहां से चुनार आता था। सड़क के इस भाग पर वत्सों का प्रभाव था। वत्सों की राजधानी कौशाम्बी से एक सीधा रास्ता उज्जैन को जाता था। वत्सों के पतन के बाद मथुरा से उज्जैन जानेवाला रास्ता अवन्ती के अधिकार में आ गया। अजातशत्रु के कुछ ही दिनों बाद यह अवसर आया जब मध्यदेश की पथ-पद्धतियां मगध तथा अवन्ती के साम्राज्यों में बँट गईं।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं; सोलह महाजनपदों की आपस की लड़ाई का कारण राजनीतिक था, पर उसमें आर्थिक प्रश्न भी आते होंगे, इसमें सन्देह नहीं। उज्जैन होकर भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर जानेवाली सड़क अवन्ती के हाथ में थी तथा कौशाम्बी और प्रतिष्ठान के रास्ते पर भी उनका जोर चलता था। इस तरह रास्तों पर अधिकार करके, अवन्ति मगध का व्यापार पश्चिम और दक्खिन भारत से रोक सकती थी, उसी तरह, गंगा के मैदान के उत्तरी तथा दक्खिनी सड़क के कुछ भाग मगध-साम्राज्य के हाथ में होने से, अवन्तिवालों के लिए काशी और मगध का लाभदायक व्यापार कठिन था।

२

ऊपर हम उत्तर भारत की पथ-पद्धति का ऐतिहासिक विवेचना कर आये हैं, पर मार्गों का महत्व केवल राजनीतिक ही न होकर व्यापारिक भी है। पालि-साहित्य में सड़कों पर होनेवाली घटनाओं और साहसिक कार्यों के अनेक उल्लेख हैं जिनसे पता चलता है कि इस देश के व्यापारी और यात्री कितने जीवटवाले होते थे।

लगता है, पाणिनि के युग में ही भारतीय पथों को अनेक श्रेणियों में बांट दिया गया था। पाणिनि के एक सूत्र "उत्तरपथेनाहृतम्" (५।१।७७) की व्याख्या करते हुए पतंजलि कात्यायन का एक वार्तिक "अजपथशंकुपथाभ्यां च" देते हैं। इस वार्तिक के अनुसार अजपथ और शंकुपथ (आने-जानेवाले व्यक्ति और वस्तु के बोधक शब्द) से आजपथिक और शांकुपथिक बनते हैं। स्थलपथ से मधुक और मरिच आते थे, "मधुकमरिचयोरण्स्थलात्"—अर्थात्, सड़क से आनेवाले मधुक और मिर्च के लिए स्थलपथ विशेषण होता था। हेमचन्द्र के अनुसार मधुक शब्द रांगे के लिए भी आता था (एतूद आशियातीक, भा० २, पृ० ४६, पारी, १६३५)।

अजपथ—अर्थात् वह पथ जिसपर केवल बकरे चल सकें—का उल्लेख पाणिनि के गणपाठ (५।३।१००) में भी आता है। इसके साथ-साथ देवपथ, हंसपथ, स्थलपथ, करिपथ, राजपथ, शंकुपथ के भी उल्लेख हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन पथों पर यात्री कैसे यात्रा करते थे।

जातकों में अनेक तरह की सड़कों के उल्लेख हैं गोकि यह कहना मुश्किल है कि उनमें क्या अन्तर था; पर यह तो स्पष्ट है कि सड़कें कच्ची होती थीं। बड़ी सड़कों (महामग्ग, महापथ, राजमग्ग) की तुलना उपमार्गों से करने से यह भी पता चलता है कि कुछ सड़कें बनाई भी जाती थीं, केवल अनवरत आना जाना से पिटकर स्वयं ही नहीं बन जाती थीं। सड़कें अधिकतर ऊबड़-खाबड़ और साफ-सुथरी नहीं होती थीं।[१]

वे अक्सर जंगलों और रेगिस्तानों से होकर गुजरती थीं तथा रास्ते में अक्सर भुखमरी, जंगली जानवर, डाकू, भूत-प्रेत और जहरीले पौदे मिलते थे।[२] कभी-कभी हथियारबंद डाकू यात्रियों के कपड़े-लत्ते तक धरवा लेते थे।[३] जंगली (अटवीमुखवासी) लोग बहुधा सार्थों को कठिन मार्गों पर रास्ता दिखलाते थे और उसके लिए उन्हें पर्याप्त पुरस्कार मिलता था।[४]

जब इन सड़कों पर कोई बड़ी सेना चलती थी तो सड़क ठीक करनेवाले मजदूर उसके साथ चलते थे। रामायण[५] में इस बात का उल्लेख है कि जब भरत चित्रकूट में राम से मिलने के लिए चले तो उनके साथ सड़क बनानेवालों की काफी संख्या थी। सेना के आगे मार्गदर्शक (दैशिक, पथज्ञ) चलते थे। सेना के साथ भूमि-प्रदेशज्ञ, नाप-जोख करनेवाले (सूत्रकर्म-विशारद), मजदूर, थवई (स्थपति), इञ्जीनियर (मन्त्रकोविद), बढ़ई, दातेबरदार (खनक), पेड़ लगानेवाले (वृक्षरोपक), कूपकार, सराय बनानेवाले (सभाकार) और बाँस की झोपड़िया बनानेवाले (वंश-कर्मकार) थे।[६] वे कारीगर जमीन को समथर बनाते थे, रास्ता रोकनेवाले पेड़ काटते थे, पुरानी सड़कों की मरम्मत करते थे और नई सड़कें बनाते थे।[७] पहाड़ियों की बगल से चलनेवाली सड़कों पर के पेड़ वे काट डालते थे और उजाड़ प्रदेशों में पेड़ लगाते थे। कुल्हाड़ियों से झाड़-झंखाड़ साफ कर दिये जाते थे तथा सड़क पर आनेवाली चट्टानें तोड़ दी जाती थीं। साल के बड़े-बड़े वृक्ष गिराकर जमीन समथर कर दी जाती थी। सड़क पर की नीची जमीन तथा अन्धे कुएँ मिट्टी से पाट दिये जाते थे, सड़क पर पड़नेवाली नदियों पर नाव के पुल बना दिये जाते थे।[८]

रामायण से कम-से-कम यह बात साफ हो जाती है कि कूच करती हुई सेना के सामने पड़नेवाली सड़कों की मरम्मत होती थी। एक जातक[९] से पता चलता है कि बोधिसत्त्व सड़क की मरम्मत करते थे। वे अपने साथियों के साथ बड़े सवेरे उठते थे तथा अपने हाथों में पीटने और

१. जा० १,१९९
२. जा०, १, ९८, २७१, २७४, २९३; ३, ३१५; ४, १८५; ५, १२, ६, २६
३. जा०, ४, १८५—शा० २८, १, २८३, २, ३३५
४ जा०, ५, २२, ४७१
५. रामायण, २।८०।१३
६. वही, २।८०।१-३
७. वही, २।८०।५-६
८. वही, २।८०।७-११
९ जा०, १,१९९

फरसे इत्यादि लेकर बाहर निकलते थे। पहले वे नहर की चौमुहानियों और दूसरी सड़कों में पड़े पत्थरों को हटा देते थे। गाड़ियों के धुरों को छूनेवाले पेड़ काट दिये जाते थे। ऊबड़-खाबड़ रास्ते चौरस कर दिये जाते थे। बन्द बना दिये जाते थे, तालाब खोद दिये जाते थे और सभाएं बनाई जाती थीं। अगर देखा जाय तो बोधिसत्त्व और उनके साथी वे ही काम करते थे जो भरत की सेना के साथ चलनेवाले मजदूर और कारीगर। इस कहानी से यह भी पता लगता है कि सड़कों की सफाई और मरम्मत का काम कुछ खास आदमियों के सुपुर्द था, पर उन आदमियों का राज्य में कौन-सा पद था, इसका पता नहीं लगता।

बड़े आदमियों के सड़कों पर चलने के पहले उनकी मरम्मत का उल्लेख भी है। मगधराज बिम्बसार ने जब सुना कि बुद्ध वैशाली से मगध की ओर आनेवाले हैं तो उन्होंने उनसे सड़क की मरम्मत हो जाने तक रुक जाने की प्रार्थना की। राजगृह से पाँच योजन तक की लंबी सड़क चौरस कर दी गई और हर योजन पर एक सभा तैयार कर दी गई। गंगा के पार वज्जियों ने भी वैसा ही किया। इसके बाद बुद्ध अपनी यात्रा पर निकले।[1]

प्राचीन भारत में सड़कों पर यात्रियों के आराम के लिए धर्मशालाएँ होती थीं। ऐसी एक शाला बनवाने के सम्बन्ध में एक जातक में एक मजेदार कहानी आई है।[2] बोधिसत्त्व और उनके एक बढ़ई साथी ने एक चौमुहानी पर सभा बनवाई, पर उन्होंने यह निश्चय किया कि वे इस धर्मकार्य में किसी स्त्री की सहायता नहीं लेंगे, पर स्त्रियाँ इस तरह के पुण्य से भला कहाँ धोखा खानेवाली थीं। उनमें से एक स्त्री बढ़ई के पास पहुँची और उससे एक शिखर बनाने के लिए कहा। बढ़ई के पास शिखर बनाने के लिए सूखी लकड़ी तैयार थी जिसे उसने खरीदकर शिखर तैयार कर दिया। जब सभा का बनना समाप्त हो गया तब बनानेवालों को पता लगा कि उसमें शिखर नदारद था, उसके लिए बढ़ई से कहा गया। बढ़ई ने उन्हें बतलाया कि शिखर एक स्त्री के पास था। स्त्री से उन लोगों ने शिखर माँगा पर उसने उन्हें वह तबतक देने से इनकार किया जबतक कि वे उसे अपने पुण्यकार्य में साझी बनाने को तैयार न हों। झख मारकर स्त्री-विरोधियों को उसी शर्त पर शिखर लेना पड़ा। इस सभा में बैठने की चौकियाँ और पानी के घड़ों की भी व्यवस्था थी। सभा फाटकदार चहारदीवारी से घिरी थी। भीतर खुले मैदान में बालू बिछा था और बाहर ताड़ के पेड़ों की कतारें थीं।

एक दूसरे जातक[3] में इस बात का उल्लेख है कि अंग और मगध के वे नागरिक, जो एक राज्य से दूसरे राज्य में बराबर यात्रा करते थे, उन राज्यों के सीमान्त पर बनी हुई एक सभा में ठहरते थे। रात में मौज से शराब, कबाब और मछलियाँ उड़ाते थे तथा सवेरा होते ही वे अपनी गाड़ियाँ कसकर यात्रा के लिए निकल पड़ते थे। उपर्युक्त विवरण से यह पता लगता है कि सभा का रूप मुगल-युग की सराय-जैसा था।

जो यात्री शहरपनाह के फाटकों पर पहुँचते थे, वे शहर के भीतर नहीं घुसने पाते थे। उन्हें अपनी रात या तो द्वारपालों के साथ बितानी पड़ती थी या उन्हें किसी टूटे-फूटे भुतहे घर में

---

१. धम्मपद अट्ठकथा ३।१७०
२. जा०, १, २०१
३. जा० २, ९४८

आश्रय लेना पड़ता था।[1] पर ऐसा पता लगता है कि तक्षशिला के बाहर एक सभा थी जिसमें नगर के फाटकों के बंद हो जाने पर भी यात्री ठहर सकते थे।[2]

हम ऊपर देख चुके हैं कि यात्रियों के आराम के लिए सड़कों के किनारे कुँओं और तालाबों का प्रबन्ध रहता था। एक जातक[3] से पता चलता है कि काशी के महामार्ग पर एक गहरा कुँआ था जिसमें पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ नहीं थीं, फिर भी, पुण्यलाभ के लिए जो यात्री उस रास्ते से गुजरते थे, वे उस कुँए से पानी खींचकर पशुओं के लिए एक जलद्रोणी भर देते थे।

मार्गों के बीच में बहुत-सी नदियाँ आती थीं जिनपर यात्रियों को पार उतारने के लिए घाट चलते थे। एक जातक[4] में एक बेवकूफ माँझी की कहानी है जो बिना भाड़ा लिये यात्री को उस पार उतारकर फिर उससे भाड़ा माँगता था, जो उसे कभी नहीं मिलता था। बोधिसत्त्व ने उसे इस बात की सलाह दी थी कि वह पार उतारने के पहले ही भाड़ा माँग ले; क्योंकि घाट उतरनेवालों का नदी के इस पार कुछ और ही मन होता है और उस पार कुछ और ही।

जातकों में, नदियों पर पुलों का तो उल्लेख नहीं है, छिछले पानी में लोग बन्द से पार उतरते थे और गहरे पानी में पार उतरने के लिए (एकदोणि) नावें चलती थीं।[5] राजा बहुधा नावों के बेड़ों के साथ सफर करते थे। एक जगह कहा गया है कि काशिराज गंगा के ऊपर अपने बेड़े (बहुनावासंघात) के साथ सफर करते थे।[6]

यात्री या तो पैदल चलते थे अथवा सवारियाँ काम में लाते थे। गाड़ियों के पहियों पर अक्सर हालें चढ़ी रहती थीं।[7] रथों और सुखयानकों में आरामदेह गद्दियाँ लगी रहती थीं और उन्हें घोड़े खींचते थे।[8] राजकुमार और रईस अक्सर पालकियों पर चलते थे।[9]

प्राचीन काल में, जंगलों से गुजरते हुए रास्तों में डाकुओं, जंगली जानवरों और भूत-प्रेतों का भय रहता था तथा भुखमरी से लोग भयभीत रहते थे।[10] अंगुत्तरनिकाय के[11] अनुसार सड़कों पर डाकू यात्रियों की घात में बराबर लगे रहते थे। डाकुओं के सरदार मुश्किल रास्तों को अपना मित्र मानते थे। गहरी नदियाँ, अगम पहाड़ और घास से ढँके हुए मैदान उन्हें सहायता पहुँचाते थे। वे केवल राजकर्मचारियों को ही घूस नहीं देते थे, कभी-कभी तो राजे और मन्त्री भी अपने फायदे के लिए उनकी सहायता पहुँचाते थे। अपने विरुद्ध

---

१. जा० २, १२

२. धम्मपद अट्ठकथा २, ३१

३ जा० २, ७०

४. जा० ३, १२१

५. जा० २,४२३; ३,२३०; ४,२३४, ४,४२६; ५, १६३

६ जा० ३,३२६

७. जा० ४,३७८

८ जा० १,१७५, २०२; २,३३१

९ जा० ४,३१८; ६,५०० गाथा १७८७; ५१४ गाथा १६१२

१०. जा० १,९९

११ अंगुत्तरनिकाय भा० ३ पृ० ६८-९९

तहकीकात होने पर वे घूस से लोगों का मुंह भी बन्द कर देते थे। वे यात्रियों को पकड़कर उनके रिश्तेदारों और मित्रों से गहरी रकम वसूल करते थे। रकम वसूल करने के लिए वे पकड़े हुए लोगों में से आधे को तो पहले भेज देते थे और आधे को बाद में।[1] अगर डाकू बाप और बेटे को साथ पकड़ पाते थे तो वे बेटे को अपने पास रख लेते थे और बाप को, छोड़ने की रकम लाने के लिए, भेज देते थे। अगर उनके कैदी आचार्य और शिष्य हुए तो वे आचार्य को रोक रखते थे और शिष्यों को रकम लाने के लिए छोड़ देते थे।[2]

राज्य की ओर से डाकुओं के उपद्रव रोकने के लिए कोई खास प्रबन्ध नहीं था। ऐसा पता चलता है कि युगल-युग की तरह यात्रियों को अपनी रक्षा का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था। रात में पहरा देने के लिए सार्थ की ओर से पहरेदारों की व्यवस्था की जाती थी।[3] राज्य की ओर से सार्थ की रक्षा तथा मार्ग-दर्शन के लिए जंगलियों की व्यवस्था थी।[4] उन जंगलियों के साथ अच्छी नस्ल के कुत्ते होते थे। जंगली पीले कपड़े और लाल मालाएँ पहनते थे। उनके बाल फीते से बंधे होते थे। उनके धनुष के तीरों के फल पत्थर के होते थे।

कभी-कभी पकड़े जाने पर, डाकुओं को सख्त सजा मिलती थी। वे बांधकर कारागृह में बन्द कर दिये जाते थे।[5] वहाँ उन्हें यन्त्रणा दी जाती थी और बाद में नीम की बनी लकड़ी की सूली पर वे चढ़ा दिये जाते थे।[6] कभी-कभी उनके नाक-कान काट दिये जाते थे और इसके बाद वे किसी सुनसान गुफा अथवा नदी में फेंक दिये जाते थे।[7] वे वध के लिए कटीली चाबुक (कटककस) और फरसे लिये हुए चोरघातकों के सुपुर्द कर दिये जाते थे।[8] अपराधियों को जमीन पर लिटाकर उन्हें कँटीले कोड़े लगते थे। कभी-कभी उनका अंगविच्छेद भी कर दिया जाता था।

रास्तों पर जंगली जानवरों का भी बड़ा भय रहता था। कहा गया है कि बनारस से जानेवाले महापथ पर एक आदमखोर बाघ लगता था।[9] लोगों का यह भी विश्वास था कि जंगलों में चुड़ैलें लगती थीं जो यात्रियों को बहकाकर उन्हें चट कर जाती थीं।[10] रास्ते में खाना न मिलने से यात्रियों को खाने का सामान साथ में ले जाना पड़ता था। पका खाना गाड़ियों पर चलता था।[11] पैदल यात्री सत्तू पर ही गुजर करते थे। एक जगह कहा गया है कि[12] एक बूढ़े ब्राह्मण की जवान पत्नी ने एक चमड़े के झोले (चम्मपसिब्बक) में सत्तू भरकर अपने पति को दे दिया। एक जगह वह कुछ सत्तू खाने के बाद थैली खुली छोड़कर पानी पीने चला गया जिसके फलस्वरूप थैली में एक साँप घुस गया।

कभी-कभी अस्पृश्यता के कारण ब्राह्मण यात्रियों को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। कहानी है कि अछूत-कुल में पैदा हुए बोधिसत्व कुछ चावल लेकर एक बार यात्रा पर निकले। रास्ते में एक उत्तरी ब्राह्मण बिना सीधा-सामान के उनके साथ हो लिया। बोधिसत्व ने उसे कुछ

---

१. जा० १,२५३
२ जा० ४,७२
३. जा० १,२०७
४ जा० ४,११६
५. जा० २,१७
६. जा० २,३४
७. जा० ३,८१
८ जा० ३,४१
९ जा० १,२०४
१० जा० १,१३३ से
११. जा० २,८५
१२. जा० ३,२११

चावल देने चाहे पर उसने लेने से इनकार कर दिया। किन्तु बाद में, भूख को ज्वाला से विकल होकर उसी ने बोधिसत्व का जूठा बचा हुआ अन्न खाया। अन्त में अपने कर्म का प्रायश्चित्त करते हुए ब्राह्मण ने घने जंगल में घुसकर अपनी जान गवा दी।[1]

यात्री ही केवल व्यापार के लिए लम्बी यात्राएं नहीं करते थे। सड़कों पर ऋषि-मुनि, तीर्थयात्री, खेल-तमाशेवाले और विद्यार्थी बराबर चला करते थे। जातकों का कहना है कि अक्सर सोलह वर्ष की अवस्था में पढ़ाई के लिए राजकुमार तक्षशिला की यात्रा करते थे।[2] देश तथा उसके वासियों की जानकारी के लिए भी यात्राए की जाती थीं। दरीमुखजातक[3] में कहा गया है कि राजकुमार दरीमुख अपने मित्र पुरोहित-पुत्र के साथ तक्षशिला में अपनी शिक्षा समाप्त करके देश के रस्म-रिवाजों की जानकारी के लिए नगरों और ग्रामों में घूमते फिरे।

शास्त्रार्थ के लिए भी कभी-कभी यात्राएं की जाती थीं। एक जातक में इस सम्बन्ध की एक सुन्दर कहानी दी हुई है।[4] कहा गया है कि अपने पिता की मृत्यु के बाद चार बहनें अपने हाथों में जामुन की डालें लेकर शहरों में घूमकर शास्त्रार्थ करती हुई श्रावस्ती पहुंचीं। वहां उन्होंने शहर के फाटक के बाहर जामुन की डाल गाड़ दी और एलान कर दिया कि उस डाल के रौंदनेवाले को उनके साथ शास्त्रार्थ करना आवश्यक था।

उन कठिन दिनों की यात्रा में किसी साथी का मिल जाना बड़ा भाग्य समझा जाता था, पर इस साथी का चुस्त होना जरूरी था। धम्मपद[5] आलसी और बेवकूफों के साथ यात्रा करने को मना करता है। बुद्धिमान साथी न मिलने पर अकेले यात्रा करना ही श्रेयस्कर माना जाता था।

बौद्ध-साहित्य से पता चलता है कि घोड़े के व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे। उत्तरापथ से घोड़े के व्यापारी बराबर बनारस आया करते थे।[6] एक जातक में[7] घोड़े के एक व्यापारी की मजेदार कहानी है। वह व्यापारी एक बार पाच सौ घोड़ों के साथ उत्तरापथ से बनारस आया। बोधिसत्व जब राजा के कृपापात्र थे तब वे घोड़े बेचनेवालों को स्वयं घोड़ों का मूल्य लगाने की आज्ञा दे देते थे, पर उस बार लालची राजा ने अपना एक घोड़ा उन बिकी के घोड़ों के बीच भेज दिया। उस घोड़े ने दूसरे घोड़ों को काट लिया जिससे फलत मारकर व्यापारियों को उनके दाम घटाने पड़े।

फेरीवाले बहुधा लम्बी यात्राएँ भी करते थे। कहानी है कि एक बार बरतन भांडे के एक व्यापारी के साथ बोधिसत्व तेलवाहा नदी पार करके अन्धपुर (प्रतिष्ठान) पहुंचे। दोनों ने व्यापार के लिए नगर के हिस्से बांट लिये। वे आवाज लगाते थे—'ले घड़े!' कभी-कभी उन्हें बरतनों के बदले में सोने-चांदी के बरतन मिल जाते थे। व्यापारी अपने साथ बराबर तराजू,

---

१. जा० १, ९७-९८
२. जा० ?, २
३. जा० ३, १२६
४. जा० ३, १
५. धम्मपद, ५।६१
६. जा० १, १२४
७. जा० २, १२२

नगद रुपये और थैली रखते थे।[1] एक दूसरी जगह से हमें पता चलता है कि बनारस के एक कुम्हार अपने मिट्टी के बरतनों को एक खच्चर पर लादकर पास के शहरों में बेचा करता था। एक समय तो वह अपने बरतनों के साथ तक्षशिला तक धावा मार आया।[2]

अपनी जीविका की खोज में नाच-तमाशेवाले भी खूब यात्राएँ किया करते थे। एक जातक में[3] कहा गया है कि अपने यार—एक डाकू सरदार—के भाग जाने पर सामा नाम की एक गणिका ने नाचनेवालों को उसकी खोज में बाहर भेजा। एक दूसरी जगह एक नट की सुन्दर कहानी दी हुई है[4] जिसमें कहा गया है कि हर साल पाँच सौ नट राजगृह आते थे और राजा के सामने अपने खेल दिखलाते थे। इन तमाशों से उन्हें काफी माल मिलता था। एक दिन नटिन ने ऐसी कसरत दिखलाई कि एक सेठ का लड़का उसपर आशिक हो गया। बाद में नटिन ने उससे इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया कि वह स्वयं नट बनकर उसके साथ फिरे। उसने ऐसा ही किया और बाद में एक कुशल नट बन गया।

बौद्ध साहित्य में ऐसे यात्रियों का भी उल्लेख है जिनकी यात्रा का उद्देश्य केवल मौज उड़ाना था। रास्ते में साहसिक कार्य ही उनकी यात्रा के इनाम थे।

एक जातक में इस तरह के साहसिकों का बड़ा सुंदर वर्णन आया है।[5] गाथाएँ हैं—"वह फेरीदार बनकर कलिंग में घूमा तथा हाथ में लकड़ी लेकर उसने ऊबड़-खाबड़ रास्ता पार किया। कभी-कभी नटों के साथ वह दीख पड़ता है तो कभी-कभी निरपराध पशुओं को फँसाते हुए वह दीख पड़ता है। अक्सर जुआड़ियों के साथ उसने खेल खेले। कभी-कभी उसने चिड़ियाँ फँसाने के लिए जाल बिछाया तो कभी कभी भीड़ों में वह लाठी लेकर लड़ा-भिड़ा।"

२

यात्रा में अनेक तरह की कठिनाइयाँ होते हुए भी, अंतरदेशीय और अंतरराष्ट्रीय व्यापार चलाने का श्रेय सार्थवाहों को ही था। व केवल पैसा पैदा करने की मशीन ही न होकर भारतीय संस्कृति और साहस के सदेशवाहक भी थे। अक्सर हमें यह गलत आभास होता है कि भारत हमेशा अपने इतिहास में एक शान्त और धनी देश था। इतिहास से तो यह पता चलता है कि इस देश में भी वही कमजोरियाँ थीं जो दूसरे देशों में थीं। उस युग में भी आजकल की तरह डाके पड़ते रहते थे, जंगलों में जंगली जानवरों का भय बना रहता था और सार्थों को जंगलों में हमेशा रास्ता भूल जाने का डर रहता था। ऐसी अवस्था में कारवाँ की सही-सलामती सार्थवाह की बुद्धि और चुस्ती पर निर्भर रहती थी। कारवाँ की गति पर उसका पूरा अधिकार रहता था और वह अपने साथियों से अनुशासन की पूरी आशा रखता था। उसका यह कर्त्तव्य होता था कि वह सार्थ के भोजन-छाजन का प्रबन्ध करे और इस बात का भी खयाल रखे कि लोगों को भोजन समान रूप से मिले। वह

---

१ जा० १, १११ से
२. धम्मपद अट्ठकथा, १, २१९
३. जा० ३, ५१
४. धम्मपद अ०, ३,२२९-२३०
५. जा०, ३, ३२२

चतुर व्यापारी भी होता था। विपत्ति में वह कभी विचलित नहीं होता था और, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, इस गुण से वह अनेक बार सार्थ को विपत्तियों से बचाने में समर्थ होता था। आनेवाली विपत्तियों से सार्थ को बचाना भी उसका कर्तव्य होता था तथा अपने साथियों को वह उनसे बचने की तरकीबें भी बताता था। एक जातक[1] में कहा गया है कि जब सार्थ एक जंगल में घुसा तो सार्थवाह ने आदमियों को मनाही कर दी कि बिना उसकी आज्ञा के अनजानी पत्तियाँ, फल या फूल न खायँ। एक बार अनजाने फल-फूल खाकर लोग बीमार पड़ गये, पर सार्थवाह ने जुलाब देकर उनके प्राण बचाये।

एक जातक में[2] एक सार्थवाह बोधिसत्त्व की जो पाँच सौ गाड़ियों के साथ व्यापार करते थे, कहानी दी गई है। एक समय जब वे यात्रा की तैयारी कर रहे थे, एक दूसरा बेवकूफ व्यापारी भी अपना सार्थ ले चलने को तैयार हुआ। बोधिसत्त्व ने विचार किया कि एक साथ एक हजार गाड़ियों के चलने से सड़क की दुर्गति, पानी और लकड़ी की कमी और बैलों के लिए घास की कमी की सम्भावना है। इसलिए उन्होंने दूसरे सार्थवाह को पहले जाने दिया। उस बेवकूफ सार्थवाह ने सोचा, "अगर मैं पहले जाऊँगा तो मुझे बहुत-सी सहूलियतें मिलेंगी। मुझे बिना कटी-कुटी सड़क मिलेगी, मेरे बैलों को चुनी हुई घास मिलेगी और मेरे आदमियों को तरो-ताजा सब्जियाँ। मुझे व्यवस्थित ढंग से पानी भी मिलेगा तथा मैं अपने दाम पर माल का विनिमय भी कर सकूँगा।" बोधिसत्त्व ने बाद में जाने से अपनी सहूलियतों की बात सोची, "पहले जानेवाले सड़कों को बराबर कर देंगे, उनके बैल पुरानी घास चर लेंगे जिससे मेरे बैलों को पुरानी घास की जगह उगती हुई नई दूब मिलेगी, पुरानी वनस्पतियों के चुन लिये जाने पर मेरे आदमियों को नई वनस्पतियाँ मिलेंगी तथा पानी न मिलने पर पहला सार्थ जो कुँए खोदेगा उन कुँओं से हमें भी पानी मिलेगा। माल का दाम तय करना कठिन काम है। अगर मैं पहले सार्थ के पीछे चला तो उनके द्वारा निश्चित किये दाम पर मैं अपना माल आसानी से बेच सकूँगा।"

बेवकूफ सार्थवाह ने साठ योजन का रेगिस्तानी रास्ता पार करने के लिए अपनी गाड़ियों पर पानी के घड़े भर लिये। पर भूतों के इस बहकावे में आकर कि रास्ते में काफी पानी है, उसने घड़ों से पानी उँड़ेलवा दिया। उसकी बेवकूफियों का कोई अन्त नहीं था। जब-जब हवा उनके सामने चलती थी, वह और उसके साथी, नौकरों के साथ हवा से बचने के लिए अपनी गाड़ियों के सामने चलते थे; पर जब हवा उनके पीछे चलती थी तब वे कारवाँ के पीछे हो लेते थे। आखिर जैसा होना था, वही हुआ; वे गरमी से व्याकुल होकर बिना पानी के रेगिस्तान में तड़पकर मर गये।

बुद्धिमान सार्थवाह बोधिसत्त्व जब अपने कारवाँ के साथ रेगिस्तान के किनारे पहुँचे तब उन्होंने पानी के घड़ों को भर लेने की आज्ञा दी तथा यह हुक्म निकाला कि बिना उनकी आज्ञा के एक चुल्लू पानी भी काम में नहीं लाया जाय। रेगिस्तान में विषैले पेड़ों और फलों की बहुतायत होने से भी उन्होंने आज्ञा दी कि बिना उनके हुक्म के कोई जंगली फल नहीं खाय। रास्ते में भूतों ने उन्हें भी पानी फेंक देने के लिए बहकाया और कहा कि आगे पानी बरस रहा है। यह सुनकर बोधिसत्त्व ने अपने अनुयायियों से कुछ प्रश्न किये—"कुछ लोगों ने हमसे अभी कहा है

1. जा०, २, २९५
2. जा० १, पृ० ९८ से

कि आगे जंगल में पानी बरस रहा है; अब, बताओ कि बरसाती हवा का पता कितनी दूर तक चलता है?" साथियों ने जवाब दिया—"एक योजन।" बोधिसत्त्व ने पूछा,—"क्या बरसाती हवा यहाँ तक पहुँची है।" साथियों ने जवाब दिया—"नहीं।" बोधिसत्त्व ने कहा—"हम बरसाती बादलों की चोटी कितनी दूर से देख सकते हैं?" साथियों ने जवाब दिया—"एक योजन से।" बोधिसत्त्व ने कहा—"क्या किसी ने एक भी बरसाती बादल की चोटी देखी है?" साथियों ने कहा—"नहीं।" बोधिसत्त्व ने कहा—"बिजली की चमक कितनी दूर से देख पड़ती है?" साथियों ने जवाब दिया—"चार या पाँच योजन से।" बोधिसत्त्व ने कहा—"क्या किसी ने बिजली की एक भी चमक देखी है?" साथियों ने जवाब दिया—"नहीं।" बोधिसत्त्व ने कहा—"आदमी बादल की गरज कितनी दूर से सुन सकता है?" साथियों ने कहा—"दो या तीन योजन से।" बोधिसत्त्व ने कहा—"क्या किसी ने बादलों की एक भी गरज सुनी है?" लोगों ने कहा—"नहीं।" इस प्रश्नोत्तर के बाद बोधिसत्त्व ने अपने साथियों को बतलाया कि बरसात की बात गलत थी। इस तरह से सार्थ कुशलपूर्वक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया।

एक जातक[1] में कहा गया है कि बोधिसत्त्व बनारस के एक सार्थवाह-कुल में पैदा हुए थे। वे एक समय अपने सार्थ के साथ एक साठ योजन चौड़े रेगिस्तान में पहुँचे। उस रेगिस्तान की धूल इतनी महीन थी कि मुट्ठी में लेने से वह सरककर अंगुलियों के बीच से निकल जाती थी। जलते हुए रेगिस्तान में दिन की यात्रा कठिन थी। इसीलिए सार्थ अपने साथ ईंधन, पानी, तेल, चावल इत्यादि लेकर रात में यात्रा करते थे। प्रातःकाल वे अपनी गाड़ियों को एक वृत्त में सजाते थे और उसपर एक पाल तान देते थे। जल्दी से भोजन करने के बाद वे उसकी छाया में दिन भर बैठे रहते थे। सूर्यास्त होते ही, वे भोजन करके, और भूमि के जरा ठंढी होते ही, अपनी गाड़ियाँ जोतकर आगे बढ़ जाते थे। इस रेगिस्तान की यात्रा समुद्रयात्रा की तरह थी। एक स्थलनिर्यामक नक्षत्रों की मदद से काफिले का मार्ग प्रदर्शन करता था। रेगिस्तान पार करने में जब कुछ ही दूरी बाकी बच गई तब ईंधन और पानी फेंककर कारवाँ आगे बढ़ गया। स्थलनिर्यामक आगे की गाड़ी में बैठकर नक्षत्रों की गति विधि देखता हुआ चल रहा था। अभाग्यवश उसे नींद आ गई जिसके फलस्वरुप बैल पीछे फिर गये। स्थलनिर्यामक जब सवेरे उठा तब अपनी गलती जानकर उसने गाड़ियों को घुमाने की आज्ञा दी। पथभ्रष्ट लोगों में हाहाकार मच गया, पर बोधिसत्त्व ने अपना दिमाग ठंढा रखा। उन्हें एक कुशस्थली दीख पड़ी जिससे वहाँ पानी होने का अन्दाज लगता था। साठ हाथ खोदने के बाद एक चट्टान मिली जिससे लोग पानी के बारे में हताश हो गये, पर बोधिसत्त्व की आज्ञा से एक आदमी ने हथौड़े के साथ नीचे उतरकर चट्टान तोड़ डाली और पानी बह निकला। लोगों ने खूब पानी पिया और नहाये। गाड़ी की जोतें तथा चक्कर तोड़कर ईंधन बनाया गया। सबने चावल राँधकर खाया और बैलों को खिलाया। इसके बाद रेगिस्तान पार करके कारवाँ कुशलपूर्वक अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गया।

किसी भौगोलिक संकेत के न होने से उपर्युक्त रेगिस्तान की ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकती, पर यह बहुत सम्भव है कि यहाँ मारवाड़ अथवा सिन्ध के रेगिस्तान से मतलब हो। सिन्ध और कच्छ के बीच चलते हुए ऊँटों के कारवाँ अभी हाल-हाल तक, रात में नक्षत्रों के सहारे रेगिस्तान पार करते थे।

---

1. जा० १, १०८ से

४

समुद्री बन्दरों की उपयोगिता कई तरह की है। वे उन फाटक और खिड़कियों का काम करते हैं जिनपर बैठकर हम विदेशों की रंगीनियों का मजा ले सकते हैं। इन्हीं फाटकों से निकलकर भारत के व्यापारी विदेशियों से मिलते थे और इन्हीं फाटकों के रास्ते से विदेशी व्यापारी इस देश में आकर पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम जारी रखते थे। अपने देश का माल बाहर ले जानेवाले और दूसरे देशों का माल इस देश में लानेवाले भारतीय व्यापारी केवल व्यापारी न होकर एक तरह के प्रचारक थे जो अपने फायदे के लिए काम करते हुए भी सामाजिक दृष्टिकोण विशाल करके तथा भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर मनुष्य-समाज की उन्नति में सहायक होते थे।

बौद्ध व्यापारियों और नाविकों का यह अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव ब्राह्मणों के उस अन्तर-देशीय भाव से—जिसके अनुसार दुनिया की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में समुद्र, पश्चिम में सिन्धु और पूर्व में ब्रह्मपुत्र है—बिलकुल भिन्न था। ब्राह्मणों के लिए तो आर्यावर्त ही सब-कुछ था, उसके बाहर रहनेवाले घृणित अनार्य और म्लेच्छ थे। खाने-पीने तथा विवाह इत्यादि में जातिवाद की कठोरता ब्राह्मण-समाज का नियम था और इसीलिए छूआछूत के डर से समुद्रयात्रा वर्जित थी, गोकि प्राचीन भारत में इस नियम का कितने लोग पालन करते थे, इसका तो केवल अटकल ही लगाया जा सकता है। बौद्धों को इस जातिवाद के प्रपंच से विशेष मतलब नहीं था और इसीलिए हम प्राचीन बौद्ध-साहित्य में समुद्रयात्रा के अनेक विवरण पाते हैं जिनका ब्राह्मण साहित्य में पता नहीं चलता।

जातकों में समुद्रयात्राओं के अनेक उल्लेख हैं जिनसे उनकी कठिनाइयों का पता चलता है। बहुत-से व्यापारी सुवर्णद्वीप यानी मलय-एशिया और रत्नद्वीप अर्थात् सिंहल की यात्रा करते थे। बावेरुजातक (३३९) से हमें पता चलता है बनारस के कुछ व्यापारी अपने साथ एक दिशाकाक लेकर समुद्रयात्रा पर निकले। बावेरु यानी बाबुल में लोगों ने उस दिशाकाक को खरीद लिया। दूसरी यात्रा में भी इन्हीं यात्रियों ने वहाँ एक मोर बेचा। यह यात्रा अरबसागर और फारस की खाड़ी के रास्ते होती थी। सुप्पारकजातक (४६३) से हमें पता चलता है कि प्राचीन भारत के बहादुर नाविकों को खुरमाल (फारस की खाड़ी), अग्गिमाल (लालसागर), दधिमाल, नीलवण्ण कुसमाल, नलमाल और बलभामुख (भूमध्यसागर) का पता था। पर जैसा हमें इतिहास बतलाता है, ईसवी सन् के पहले, भारतीय नाविक बाबेल मंदेब के आगे नहीं जाते थे। उस जगह से भारतीयों के माल का भार अरब बिचवई ले लेते थे, और वे ही उसे मिस्र तक ले जाते थे। जातकों में अनेक बार सुवर्णद्वीप का उल्लेख होने से विद्वान् उन्हें बाद का समझते हैं; पर यहाँ जान लेना चाहिए कि कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी उसका उल्लेख है। यह संभव है कि भारतीयों को सुवर्णद्वीप का बहुत पहले से पता था और व्यापारी वहाँ सुगन्धित द्रव्यों और मसालों की तलाश में जाते थे। मलय-एशिया में भारतीयों की बस्ती शायद ईसा की आरम्भिक सदियों में बसनी शुरू हुई।

शंखजातक[1] में सुवर्णद्वीप की यात्रा का उल्लेख है। दान देने से अपनी सम्पत्ति का क्षय होता देखकर ब्राह्मण शंख ने सुवर्णद्वीप की यात्रा एक जहाज से की। उसने स्वयं अपना जहाज बनाया और उसपर माल लादा। अपने सगे-सम्बन्धियों से विदा लेकर, नौकरों के साथ वह बन्दर पर पहुँचा। दोपहर में उसका जहाज खुल गया।

---

1. जा०, ४, १०

उस प्राचीनकाल में समुद्रयात्रा में अनेक कठिनाइयाँ और भय थे। समुद्रयात्रा से लौटनेवाले भाग्यवान समझे जाते थे। ऐसी अवस्था में यात्रियों के सम्बन्धियों की चिन्ता का हम अन्दाजा लगा सकते हैं। यात्री की माता और पत्नी यात्री को समुद्रयात्रा से रोकने का प्रयत्न करती थीं; पर मध्यकाल की तरह प्राचीनकाल के भारतीय कोमल और भावुक नहीं थे। एक जगह कहा गया है कि बनारस के एक धनी व्यापारी ने जब एक जहाज खरीदकर समुद्रयात्रा की ठानी तब उसकी माता ने बहुत मना किया; पर उसे वह रोती-बिलखती हुई छोड़कर चला गया।[1]

प्राचीनकाल में लकड़ी के जहाजों को भँवर (वोहर) ले डूबते थे। उनकी सबसे बड़ी कमजोरी उनकी साधारण बनावट थी। उनके तख्ते पानी के दबाव को सहने में असमर्थ होते थे जिसकी वजह से सेंधों से जहाज में पानी भरने लगता था जिसे जहाजी उलीचते रहते थे।[2] जब जहाज डूबने लगता था तब व्यापारी अपने इष्टदेवताओं की याद करने लगते थे।[3] अपनी प्रार्थना का असर होते न देखकर वे तख्तों के सहारे बहते हुए अनजाने और कभी-कभी भयंकर स्थानों में आ लगते थे।[4] वलहस्सजातक[5] में कहा गया है कि सिंहल के पास एक जहाज के टूटने पर यात्री तैरकर किनारे लग गये। इस घटना की खबर जब यक्षिणियों को लगी तब वे सिंगार-पटार करके और काजी लेकर अपने बच्चों और चाकरों के साथ उन व्यापारियों के पास आईं और उनके साथ विवाह करने का बहाना करके उन्हें चट कर गईं।

टूटे हुए जहाज को छोड़ने के पहले यात्री घी-शक्कर से अपना पेट भर लेते थे। यह भोजन उन्हें कई दिनों तक जीता रख सकता था। शंखजातक में कहा गया है कि शंख की यात्रा के सातवें दिन जहाज में सेंध पड़ गई और नाविक पानी उलीचने में असमर्थ हो गये। डर के मारे यात्री शोर-गुल मचाने लगे, पर शंख ने एक नौकर अपने साथ लिया और अपने शरीर में तेल पोतकर और डटकर घी-शक्कर खाने के बाद मस्तूल पर चढ़कर वह समुद्र में कूद पड़ा और सात दिनों तक बहता रहा।[6]

महाजनकजातक (५३६) में एक डूबते हुए जहाज का आँखों-देखा वर्णन है। तेज गति से सुवर्णद्वीप की ओर बढ़ते हुए महाजनक के जहाज में सेंध पड़ गई और वह डूबने लगा। यात्री अपने भाग्य को कोसने और अपने देवताओं की आराधना करने लगे, पर महाजनक ने कुछ नहीं किया। जब जहाज पानी में धँसने लगा, तब तैरते हुए मस्तूल को उसने पकड़ लिया। समुद्र में तैरते हुए यात्रियों पर मछलियों और कछुओं ने धावा बोल दिया और उनके खून से समुद्र का पानी लाल हो गया। कुछ दूर तैरने के बाद महाजनक ने मस्तूल छोड़ दिया और किनारे तक पहुँचने के लिए तैरने लगा। अन्त में देवी मणिमेखला ने उसकी रक्षा की।

---

१. जा०, ४, २
२. जा०, ४, १६
३. जा०, ४, १४
४. जा०, १, ११० ; २, १११,१२८
५. जा० २, १२७ से
६. जा० ४, १०

हम ऊपर देख आये हैं कि विपत्ति के समय जहाजी अपने इष्टदेवों का स्मरण करते थे। शंख और महाजनकजातकों के अनुसार, समुद्र की अधिष्ठात्री देवी मणिमेखला समुद्र की रखवाली करती हुई धार्मिक यात्रियों की रक्षा करती थी। श्री सिलवाँ लेवी की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि नायिका और देवी, दोनों ही के रूप में, मणिमेखला का स्थानविशेष में प्रचलन था। देवी की तरह, उसका पीठ कावेरी के मुहाने पर स्थित पुहार में था तथा उसका एक मन्दिर काञ्ची में भी था। देवी की हैसियत से उसका प्रभाव कन्याकुमारी से लेकर निचले वर्मा तक था।[१]

जातकों से हमें पता चलता है कि जहाज लकड़ी के तख्तों (दारुफलकानि)[२] से बने होते थे। वे अनुकूल वायु (एरकवातयुत्त) में चलते थे।[३] जहाजों की बनावट के सम्बन्ध में हमें इतना और पता लगता है कि बाहरी पंजर के अलावा उनमें तीन मस्तूल (कूप, गुजराती कुँआथंभ), रस्सियाँ (योत्तं), पाल (सितं), तख्ते (पदराणि), डाँड और पतवार (फियारित्तानि) और लंगड़ (लंकरो) होते थे।[४] निर्यामक (नियामको) पतवार की मदद से जहाज चलाता था।[५]

नाविकों की अपनी श्रेणी होती थी। इस श्रेणी के चौधरी को 'निय्यामक जेट्ठ' कहते थे। कहा गया है कि सोलह वर्ष की अवस्था में सुप्पारक कुमार अपनी श्रेणी के चौधरी बन चुके थे और जहाजरानी की क्रिया (निय्यामकसुत्त) में कुशलता प्राप्त कर चुके थे।[६]

जहाजरानी में फणिकों और बाबुलियों की तरह भारतीय नाविक भी किनारे का पता लगाने के लिए दिशाकाक काम में लाते थे। ये दिशाकाक जहाजों से किनारे का पता लगाने के लिए छोड़ दिये जाते थे। दीघनिकाय के केवड्ढसुत्त में, बुद्ध के शब्दों में, "बहुत दिन पहले, समुद्र के व्यापारी जहाज पर एक दिशाकाक लेकर यात्रा करते थे। जब जहाज किनारे से ओझल हो जाता था तब वे दिशाकाक को छोड़ देते थे। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन तथा उपदिशाओं में उड़ता हुआ भूमि देखते ही वहाँ उतर पड़ता था, पर भूमि नहीं दिखने पर वह जहाज पर लौट आता था।"[७] हम ऊपर देख आये हैं कि बावेरुजातक में भी दिशाकाक का उल्लेख है। बावेरुजातक का कहना है कि पहले बाबुल में लोगों को दिशाकाक की जानकारी नहीं थी और इसीलिए उन्होंने भारतीय व्यापारियों से उसे खरीदा। पर बाबुली साहित्य से तो यह पता चलता है कि किनारा पानेवाले पक्षियों की उस देश में बहुत दिनों से जानकारी थी। गिलगमेश काव्य में कहा गया है कि जब उतनिपिश्तं का जहाज निस्तिर पर्वत पर पहुँचा तब एकदम स्थिर हो गया। पहले एक पंडुक और बाद में एक गौरैया किनारा पाने के लिए छोड़ी गई। अन्त में एक कौआ छोड़ा गया और जब वह नहीं लौटा तब पता चल गया कि किनारा पास ही में था।[८]

---

१. इंडियन हि० क्वार्टरली, ४, पृ० ६१२-१४
२ जा० २,११२ ; ४, २० – गाथा ३२
३. जा० १,२३९ ; २,११२
४. जा० २,११२ ; ३,१२६ ; ४,१७,२१
५ जा० २,११२ ; ४,१३७
६ जा० ४, ८७-८८
७. जे० आर० ए० एस०, १८९९ पृ० ४३२
८. देलापोर्त, मेसोपोटामिया, पृ० २०७

कभी-कभी जहाज पर मुसीबत आने पर उसका कारण किसी बदनसीब यात्री के सिर थोप दिया जाता था। उसका नाम चिट्ठी डालकर निकाला जाता था।[1] कहा गया है कि एक समय अभागा मित्तविन्दक गम्भीर के बन्दर पर पहुँचा और वहाँ यह पता लगने पर कि जहाज जानेवाला ही था, उसने उसपर नौकरी कर ली। छः दिनों तक तो कुछ नहीं हुआ, पर सातवें दिन जहाज एकाएक रुक गया। इस घटना के बाद यात्रियों ने चिट्ठी डालकर अभागे का नाम निकालने का निश्चय किया। चिट्ठी डालने पर मित्तविन्दक का नाम निकला। लोगों ने उसे जबरदस्ती एक बेड़े पर बैठाकर खुले समुद्र में छोड़ दिया।

बौद्ध-साहित्य में ऐसी कम सामग्री है जिससे पता चल सके कि जहाज पर यात्रियों का आमोद-प्रमोद क्या था। पर यह मान लिया जा सकता है कि जहाज पर मन बहलाने के लिए गाना-बजाना होता था। एक जातक[2] में एक गायक की मजेदार कहानी आई है, क्योंकि उसके गाने से जहाज ही डूबते-डूबते बचा। कहा गया है कि कुछ व्यापारियों ने सुवर्णद्वीप की यात्रा करते हुए अपने साथ सग्ग नामक एक गायक को ले लिया। जहाज पर लोगों ने उससे गाने के लिए कहा। पहले तो उसने स्वीकार नहीं किया, पर लोगों के आग्रह करने पर उसने उनकी बात मान ली। पर उसके संगीत ने समुद्री मछलियों में कुछ ऐसी गड़बड़ाहट पैदा कर दी कि उनकी खलबलाहट से जहाज डूबते-डूबते बचा।

जातक हमें बतलाते हैं कि भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर भरुकच्छ,[3] सुप्पारक[4] तथा सोवीर[5] मुख्य बन्दरगाह थे। और भारत के पूर्व-समुद्र-तट पर करम्बिय,[6] गम्भीर[7] और सेरिव[8] के बन्दर थे। बहुत-से रास्ते इन बन्दरगाहों को देश के भीतर के नगरों से मिलाते थे। समुद्री बन्दरगाहों का भी आपस में व्यापार चलता था।

भारत तथा उसके पूर्वी और पश्चिमी देशों में खूब व्यापार होता था। वलहस्स जातक[9] में इस देश का सिंहल के साथ व्यापार का उल्लेख है। बनारस,[10] चम्पा[11] और भरुकच्छ[12] का सुवर्णभूमि के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था तथा बावेरुजातक[13] में हम भारत और बाबुल के बीच व्यापारिक सम्बन्ध देखते हैं। सुप्पारकजातक[14] से हमें पता चलता है कि समुद्र के व्यापारी एक समय भरुकच्छ से जहाज द्वारा यात्रा के लिए निकले। अपनी इस यात्रा के बीच में उन्हें खुरमाल, अग्गिमाल, दधिमाल, नीलकुसमाल, नलमाल और बलभामुख नामक समुद्र

---

१. जा० ३, १२४
२ जा०, ३, १२४
३. जा०, ३, १२६-२७,११८,१८० गाथा ५७, ४,१३७ ४२
४. जा०, ४, १३८ से ४८
५ जा० ३, ४७०
६. जा० ५, ७५
७ जा० १, २३९
८. जा० १, १११
९ जा० २, १२७ से
१०. जा० ४, १५-१७
११. जा० ६, ३४
१२. जा० ३, १८८
१३. जा० ३, १२६ से
१४. जा० ४, १३८-१४२ गाथा १०५ से ११५

मिले। ये नाम गाथाओं में आने से काफी पुराने हैं। श्रीजायसवाल[1] ने खुरमाल की पहचान फारस के कुछ भागों से, यानी दक्षिण-पूर्वी अरब से की है। अग्गिमाल अदन के पास अरब का समुद्री किनारा और सुमालीलैंड के कुछ भागों का द्योतक है। दधिमाल लालसागर है तथा नीलकुसमाल अफ्रीका के उत्तर-पूर्व किनारे पर नूबिया का भाग है। नलमाल लालसागर और भूमध्यसागर को जोड़नेवाली नहर है। वलभामुख भूमध्यसागर का कुछ भाग है जिसमें आज दिन भी ज्वालामुखी पहाड़ है। अगर डा० जायसवाल की ये पहचानें ठीक हैं तो यह मान लेना पड़ेगा कि भारतीय निर्यामकों को भड़ौंच से लेकर भूमध्यसागर तक के समुद्री पथ का पूरा ज्ञान था। जो भी हो, बाद के यूनानी, लातिनी और भारतीय साहित्यों से जो पता लगता है कि भारतीय नाविक बाबेल मन्देब के आगे नहीं जाते थे तथा लालसागर और भूमध्यसागर के बीच का व्यापार अरबों के हाथ में था। इसके मानी यह नहीं होते कि भारतीय नाविकों को लालसागर और भूमध्यसागर के बीच के रास्ते का पता नहीं था। जैसा हम बाद में चलकर देखेंगे, इक्के-दुक्के भारतीय नाविक सिकन्दरिया पहुँचते थे, पर अधिकतर उनकी जहाजरानी सोकोत्रा तक ही सीमित रहती थी।

ऊपर हम भारतीय व्यापारियों की समुद्रयात्राओं के भिन्न-भिन्न पहलुओं की जाँच-पड़ताल कर चुके हैं। यहाँ हम बौद्ध-साहित्य के आधार पर उन यात्रियों के निज के अनुभवों का वर्णन करेंगे। इन कहानियों में ऐतिहासिक आधार है अथवा नहीं, इसे तो राम ही जाने; पर इसमें सन्देह नहीं कि ये कहानियाँ नाविकों तथा व्यापारियों के निजी अनुभवों के आधार पर ही लिखी गई थीं। जो भी हो, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि ये कहानियाँ हमें उन भारतीय नाविकों के साहसी जीवन की झलकें देती हैं जिन्होंने बिना काँटों की परवाह किये समुद्रों के पार जाकर विदेशों में अपनी मातृभूमि का गौरव बढ़ाया था।

हम ऊपर कह आये हैं कि हिन्द-महासागर में जहाजों के डूबने की घटना एक साधारण-सी बात थी। डूबे हुए जहाजों से बचे हुए यात्री बहुधा निर्जन द्वीपों पर पहुँच जाते थे और वे वहाँ तबतक पड़े रहते थे जबतक कि उनका वहाँ से उद्धार न हो। एक जातक में कहा गया है कि कस्सप बुद्ध के एक शिष्य ने एक नाई के साथ समुद्रयात्रा की। रास्ते में जहाज टूट गया और वह शिष्य अपने मित्र नाई के साथ एक तख्ते के सहारे बहता हुआ एक द्वीप में जा लगा। नाई ने वहाँ कुछ चिड़ियों को मारकर भोजन बनाया और अपने मित्र को देना चाहा। पर उसने उसे लेने से इनकार किया। जब वह ध्यान में मग्न था तब एक जहाज वहाँ पहुँचा। उस जहाज का निर्यामक एक प्रेत था। जहाज पर से वह चिल्लाया—"कोई भारत का यात्री है!" भिक्षु ने कहा,—"हाँ, हम वहाँ जाने के लिए बैठे हैं।" "तो जल्दी से चढ़ जाओ"—प्रेत ने कहा। इसपर अपने मित्र के साथ वह जहाज पर चढ़ गया। ऐसा पता लगता है कि इस तरह की अलौकिक कहानियाँ समुद्री यात्रियों में प्रचलित थीं जो कष्ट के समय उनको बल देती थीं।

कुछ लोग बिना व्यापार के ही समुद्रयात्रा करते थे। समुद्दवाणिज जातक में[3] कहा गया है कि एक समय कुछ बढ़इयों ने लोगों से साज बनाने के लिए रकम उधार ली; पर समय पर

---

1. जे० बी० ओ० आर० ए० एस० ६, पृ० ११५
2. जा० २, ७८-७९
3. जा० ४, ९९-१०१

वे साज न बना सके। ग्राहकों ने इसपर उन्हें बहुत तंग किया और उन्होंने दुखी होकर विदेश में बस जाने की ठान ली। उन्होंने एक बहुत बड़ा जहाज बनाया और उसपर सवार होकर वे समुद्र की ओर चल पड़े। हवा के रुख में चलता हुआ उनका जहाज एक द्वीप में पहुंचा जहाँ तरह-तरह के पेड़-पौधे, चावल, ईख, केले, आम, जामुन, कटहल, नारियल इत्यादि उग रहे थे। उनके आने के पहले से ही एक टूटे जहाज का यात्री आनन्द से उस द्वीप में रह रहा था और खुशी की उमंग में गाता रहता था,—"वे दूसरे हैं जो बोते और हल चलाते हुए अपनी मिहनत के पसीने की कमाई खाते हैं। मेरे राज्य में उनकी जरूरत नहीं। भारत ? नहीं, यह स्थान उससे भी कहीं अच्छा है।" पहले तो बढ़इयों ने उसे एक भूत समझा, पर बाद में, उसने उन्हें अपना पता दिया और उस द्वीप की पैदावार की प्रशंसा की।

ऊपर की समुद्री कहानियों में यथार्थवाद तथा अलौकिकता का अपूर्व सम्मिश्रण है। उस प्राचीनकाल में मनुष्यों में वैज्ञानिक छान-बीन की कमी थी और इसलिए जब भी वे विपत्ति में पड़ते थे तब वे उसके कारणों की छानबीन किये बिना उसे देवताओं का प्रकोप समझते थे। पर इन सब बातों के होते हुए भी बौद्ध-साहित्य में समुद्री कहानियां वास्तविक घटनाओं पर अवलम्बित थीं। हमें पता है कि ये समुद्री व्यापारी अनेक विपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करते हुए भी विदेशों के साथ व्यापार करते थे। उनके छोटे जहाज तूफान के चपेटों को सहन करने में असमर्थ थे जिसके फलस्वरूप वे टूट जाते थे और यात्रियों को अपनी जानें गँवानी पड़ती थीं। उनमें से जो कुछ बच जाते थे उनकी रक्षा दूसरे जहाजवाले कर लेते थे। समुद्र में छिपी हुई चट्टानें भी जहाजों के लिए बड़ी घातक सिद्ध होती थीं। इन यात्राओं की सफलता का बहुत-कुछ श्रेय निर्यामकों को होता था। वे अधिकतर कुशल नाविक होते थे और अपने व्यवसाय का उन्हें पूरा ज्ञान होता था। उन्हें समुद्री जीवों और तरह-तरह की हवाओं का पता होता था। व्यापार का भी उन्हें ज्ञान रहता था और अक्सर वे इस बारे में व्यापारियों को सलाह-मशविरा भी देते रहते थे।

५

हम ऊपर देख आये हैं कि जल और थल में यात्रा करने का मुख्य कारण व्यापार था। अभाग्यवश बौद्ध-साहित्य में सार्थ के संगठन और क्रय-विक्रय की वस्तुओं के बहुत कम उल्लेख हैं। शायद इस व्यापार में सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े, चन्दन, हाथीदाँत, रत्न इत्यादि होते थे। महाभारत के सभापर्व में भारत के भिन्न-भिन्न भागों की पैदाइशें दी हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन्हीं वस्तुओं का व्यापार चलता रहा होगा। महाभारत के इस भाग का समय निश्चित करना तो मुश्किल है, पर अनेक कारणों से वह ई० पू० दूसरी सदी के बाद का नहीं हो सकता। इसमें वर्णित भौगोलिक और आर्थिक बातें तो इस समय के बहुत पहले की भी हो सकती हैं।

जातकों से हमें पता चलता है कि व्यापारी और कारीगर दोनों ही के लिए श्रेणीबद्ध होना आवश्यक था। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आधारों को लेकर श्रेणियों का संगठन बहुत प्राचीनकाल में हुआ होगा। स्मृतियों में हम श्रेणी का विकास देखते हैं। जातकों में हम व्यापारियों की श्रेणियों के रूप का आरम्भ देखते हैं जो बाद की श्रेणियों में अपने संगठन, कानून और कर्मचारियों के लिए प्रसिद्ध हुआ।

जातकों से यह पता चलता है कि श्रेणियाँ स्थायी न होकर अस्थायी थीं, गोकि पुश्तैनी अधिकार और चौधरी का होना इनका खास अंग था[1]। फेरी करनेवाले मामूली व्यापारी अपना व्यापार अकेले चलाते थे, उन्हें आपस में बैठकर किसी नियमविशेष के पालन करने की आवश्यकता नहीं होती थी। पर व्यापारियों को मिलजुलकर काम करने की आवश्यकता पड़ती थी और इसीलिए वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए श्रेणियाँ बनाते थे।

जातकों में हम बराबर पाँच सौ गाड़ियोंवाले सार्थ का उल्लेख पाते हैं। सार्थवाह के ओहदे से ऐसा पता लगता है कि उसमें किसी तरह के संगठन की भावना थी। उसका स्थान पुश्तैनी होता था[2]। रास्ते की कठिनाइयाँ और दूरी, व्यापारियों को इसके लिए बाध्य करती थीं कि वे एक नायक (जेट्ठक) के अधिकार में साथ-साथ चलें। इसके ये मानी होते हैं कि व्यापारी पड़ाव, जल-डाकुओं के विरुद्ध सतर्कता, विपत्ति से भरे रास्ते और घाट इत्यादि के बारे में उसकी राय मानकर चलते थे। पर इतना सब होते हुए भी उनमें कोई नियमबद्ध संगठन था, यह नहीं कहा जा सकता। जहाज पहुँचते ही माल के लिए सैकड़ों व्यापारियों का शोर मचाना सहकारिता का परिचायक नहीं है[3]।

जहाज पर व्यापारियों का आपस में किसी तरह के इकरारनामे का पता नहीं चलता, सिवाय इसके कि जहाज किराया करने में सब एक साथ होते थे। जो भी हो, इतना भी सहकार धर्मशास्त्रों और कौटिल्य के सम्भूय समुत्थान की ओर इशारा करता है[4]।

एक जातक[5] में कहा गया है कि जनपद में पाँच सौ गाड़ियाँ ले जानेवाले दो व्यापारियों में साझा था। एक दूसरे जातक[6] में कई व्यापारियों के बीच साझेदारी का उल्लेख है। उत्तरापथ के घोड़े के व्यापारी भी अपना व्यापार साझे में चलाते थे। यह सम्भव है कि इतना भी सहकार चढ़ा-ऊपरी रोकने के लिए और उचित दाम मिलने के लिए जरूरी था।

व्यापारियों का आपस में इकरारनामे का कोई उल्लेख नहीं मिलता; पर कूटवणिज-जातक[7] के अनुसार, साझेदारों का आपस में कोई समझौता रहता था। इस जातक में एक चतुर और दूसरे अत्यन्त चतुर साझेदार का झगड़ा दिया गया है। अत्यन्त चतुर फायदे में अपने साझे का अनुपात एक : दो में रखना चाहता था, गोकि दोनों साझेदारों की पूँजी बराबर लगती थी। पर चतुर अपनी बात पर अड़ा रहा और झख मारकर अत्यन्त चतुर को उसकी बात माननी पड़ी।

इस युग में महाजनों के चौधरी को श्रेष्ठि कहते थे। इसका नगर में वही स्थान होता था जो मुगल-काल में नगर-सेठ का। राजदरबार में और उसके बाहर उसका बड़ा मान था। वह व्यापारियों का प्रतिनिधि होता था और, जैसा कि अनेक जातकों में[8] कहा गया है, उसका पद

---

१. मेहता, प्रीबुधिस्ट इंडिया, पृ० २१६
२. जा० १, ६८, १०७, १९४
३. जा० १, १२२
४. मेहता, वही
५. जा० १, ४०४
६. जा० ४, ३५०
७. जा० १, ४०४ से
८. जा० १, १११, २३१

पुश्तैनी होता था। अपने सरकारी ओहदे मे वह नित्य राजदरबार में हाजिर होता था।[1] भिक्षु बनते समय अथवा अपना धन दूसरों को बाँटते समय उसे राजा की आज्ञा लेनी पड़ती थी। इतना सब होते हुए भी राजदरबार में मेहमान की अपेक्षा व्यापारी-समुदाय में उसका पद कहीं ऊँचा होता था। महाजन बहुधा रईस होते थे और उनके अधिकार में दास, घर और गोपालक होते थे।[2] सेठ के सहायक को अनुसेट्ठि कहते थे।[3]

जातक-कथाओं से हमें आयात और निर्यात की वस्तुओं का पता नहीं चलता, गोकि इनके बारे में हम अपना कयास दौड़ा सकते हैं। अन्तरदेशी और विदेशी व्यापार में सूती कपड़े का एक विशेष स्थान था। सूती कपड़े के लिए बनारस[4] एक प्रसिद्ध जगह थी। बनारस के व्यापारी इसी कपड़े का व्यापार करते थे। जातकों में गन्धार के लाल कम्बलों[5] की तारीफ की गई है। उड्डीयान[6] तथा शिवि[7] के शाल बड़े बेशकीमत होते थे। पठानकोट के इलाके में कोटुम्बर[8] नाम का एक तरह का ऊनी कपड़ा बनता था। उत्तरी भारत ऊनी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था, पर जैसा हम देख चुके हैं, काशी अपने सूती कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था। इन कपड़ों को कासी कुत्तम[9] और कासीय[10] कहते थे। बनारस की मलमल इतनी अच्छी होती थी कि वह मलमल तेल नहीं सोख सकती थी। बुद्ध का मृत शरीर इसी मलमल में लपेटा गया था।[11] बनारस में क्षौम और रेशमी कपड़े भी बनते थे।[12] वहाँ की सूईकारी का काम भी प्रसिद्ध था।[13]

हमें इस बात का पता नहीं है कि भारत के बाहर से भी यहाँ कपड़ा आता था अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में हम बौद्ध-साहित्य में आये गोणक[14] शब्द की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। वहाँ इसकी व्याख्या लम्बे बालोंवाले बकरे के चमड़े से बनी हुई कालीन की गई है। सम्भव है कि यह शब्द ईरानी भाषा का हो। प्राचीन सुमेरु में, तहमत के लिए कौनकेस शब्द का व्यवहार हुआ है जिसका सम्बन्ध गोणक से मालूम पड़ता है। यह गोणक एकबातना[15] में बनता था। सम्भव है कि कौनकेस स्थलमार्ग से भारत में पहुँचता था। उसी तरह से, लगता है, कोजव जो

---

१ जा० १, १२०, २११, ३४६
२. जा० ३५१
३ जा० ५, २८४
४. जा० ६, ४७, ३, २८६
५. जा० ६, ४७, महावग्ग ८, १, ३६
६ जा० ४, ३५२
७. जा० ४, ४०१
८. जा० ४, ४०१
९. जा० ६, ४७, १५१
१० जा० ६, ५००
११. महापरिनिब्बाणसुत्त, ५।१६
१२ जा० ६, ७७
१३ जा० ६, १४४, १४५, १५४
१४. डाइलाग्स ऑफ दी बुद्ध, पृ० ११ से
१५. देलापोर्त, मेसोपोटामिया, पृ० १३४

एक विशेष तरह का कम्बल होता था, मध्य-एशिया से आता था; क्योंकि इसका अनेक बार उल्लेख मध्य-एशिया में मिले शकीय कागज-पत्रों में हुआ है।

अन्तरदेशी और विदेशी व्यापार में चन्दन का भी एक विशेष स्थान था। बनारस चन्दन के लिए प्रसिद्ध था।[1] चन्दनचूर्ण और तेल की काफी माँग थी।[2] अगरु, तगर तथा कालीयक का भी व्यापार में स्थान था।[3]

सिंहल और दूसरे देशों से बहुत किस्म के रत्न आते थे जिनमें नीलम, ज्योतिरस (जेस्पर), सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, मानिक, बिल्लौर, हीरे और यशब आते थे।[4] हाथीदाँत का व्यापार खूब चलता था।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, महाभारत से तत्कालीन व्यापार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजसूययज्ञ के अवसर पर बहुत-से राजे और गणतन्त्र के प्रतिनिधि अपने देशों की अच्छी-से-अच्छी वस्तुएं युधिष्ठिर को भेंट देने लाये थे। इन वस्तुओं के अध्ययन से हम मध्य-एशिया से लेकर भारत तक के विभिन्न प्रदेशों की व्यापारिक वस्तुओं का अच्छा चित्र खींच सकते हैं।

महाभारत के अनुसार, दक्षिण-सागर के द्वीपों से चन्दन, अगर, रत्न, मुक्ता, सोना, चाँदी, हीरे और मूँगे आते थे।[5] इनमें से चन्दन, अगर, सोना और चाँदी तो शायद बर्मा और मध्यएशिया से आते थे, मोती और रत्न सिंहल से और मूँगे भूमध्यसागर से। हीरे शायद बोर्नियो से आते थे।

अपनी उत्तर की दिग्विजय में अर्जुन को हाटक[6] (पश्चिमी तिब्बत) से और ऋषिकों (यू ची)[7] से घोड़े मिले तथा उत्तरकुरु से खालें और समूर। उपर्युक्त बातों से यह बात साफ हो जाती है कि उत्तरापथ के व्यापार में घोड़े, खालें और समूर प्रधान थे।

कम्बोज (ताजकिस्तान) अपने तेज घोड़ों,[8] खच्चरों, ऊँटों,[9] कारचोबी कपड़ों, पशमीनों तथा समूरों और खालों के लिए प्रसिद्ध था।[10]

कपिश या काबुल प्रदेश से शराब आती थी।[11] बलूचिस्तान से अच्छी नस्ल के बकरे, ऊँट और खच्चर तथा फल की शराब और शालें आती थीं।[12]

---

१. जा० २, ६३१, ४, ३०३, गा० ४०

२. जा० १, १२६, २६८; २, २७३

३. महावग्ग, ६।११।१

४. चुल्लवग्ग, ६।१।३

५. महाभारत, २।२७।२५-२६

६. म० भा०, २।२४।५-६

७. म० भा०, २।२४।२६

८. म० भा०, २।४७।४

९. म० भा०, २।४५।२०; ४७।४

१०. म० भा०, २।४७।३; २।४५।३

११. पाणिनि, ४।२।६६

१२. म० भा०, २।४७।१०—११

हेरात के रहनेवाले हारहूर[1] शराब भेजते थे तथा खारान के रमठ हींग भेजते थे। स्वात इत्यादि के रहनेवाले अच्छी नस्ल के खच्चर पैदा करते थे।[2] बलख और चीन से ऊनी, रेशमी कपड़ों, पश्मीनों और नमदों का व्यापार होता था।[3] उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से अच्छे हथियार, मुश्क और शराब आती थी।[4]

खसों और तंगणों द्वारा लाया गया मध्यएशिया का सोना व्यापार में एक खास स्थान रखता था। सोना लानेवाले पिपीलकों की ठीक-ठीक पहचान अभीतक नहीं हो सकी है, पर शायद वे मंगोल या तिब्बती थे।[5]

पूर्वी भारत में आसाम से घोड़े, यशब और हाथीदाँत की मूठें आती थीं।[6] यशब शायद बर्मा से आता था। मगध से पच्चीकारी के साज, चारपाइयाँ, रथ और यान, मूल और नीर के फल आते थे।[7] तिब्बत-बर्मा किरात लोग सीमान्तप्रदेश से सोना, अगर, रत्न, चन्दन, कालीयक और दूसरे सुगन्धित द्रव्य लाते थे।[8] वे गुलामों तथा कीमती चिड़ियों और पशुओं का व्यापार करते थे। बंगाल और उड़ीसा क्रमश: कपड़ों और अच्छे हाथियों के लिए मशहूर थे।[9]

---

१. म० भा०, २।४७।१३, मोतीचन्द्र, जियोग्रोफिकल एंड एकनोमिक स्टडीज फ्रॉम दी उपायनपर्व, पृ० ६५
२, म० भा०, २।४७।११
३. म० भा०, २।४७।२६-२७
४. मोतीचन्द्र, वही, पृ० ६८-७१
५. वही, पृ० ८१-८३
६. म० भा०, २।४७।१२-१४
७. मोतीचन्द्र, वही, पृ० ७३-७४
८ वही, पृ० ८५
९. वही, पृ० ११२-११३

चौथा अध्याय

भारतीय पथों पर विजेता और यात्री

(मौर्ययुग)

ई० पू० चौथी सदी से ई० पू० पहली सदी तक भारतीय महापथ ने बहुत-से उलट-फेर देखे। ई० पू० चौथी सदी में मगध-साम्राज्य का विकास तथा संगठन और अधिक बढ़ा। बिम्बसार द्वारा अंगविजय (करीब ५०० ई० पू०) से मगध-साम्राज्य के विस्तार का आरम्भ होता है। अजातशत्रु ने उसके बाद काशी, कोशल और विदेह पर अपना अधिकार जमाया। मगध-साम्राज्य इतना बढ़ चुका था कि उसकी राजधानी राजगृह से हटाकर गंगा और शोन के संगम पर स्थित सामरिक महत्त्ववाले पाटलिपुत्र में लानी पड़ी। नन्दों ने शायद अस्थायी तौर से कलिंग पर भी अधिकार जमा लिया था। पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपना साम्राज्य भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त तक बढ़ाया। अशोक ने कलिंग पर धावा बोलकर उसे जीता। ई० पू० दूसरी सदी में भारतीय यवनों ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की। उनके बाद शक और पह्लव महापथ से भारत में घुसे।

सिकन्दर के भारत पर चढ़ाई करने के सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि कबीलों की बगावत की वजह से ई० पू० पाँचवीं सदी के हखामनी साम्राज्य की पूर्वी सीमा सिकुड़ गई थी और सिन्ध तथा पंजाब के गणतंत्र स्वतन्त्र हो गये थे। स्त्राबो का यह बयान कि भारत और ईरान की सीमा सिन्धु नदी पर थी, ठीक नहीं; क्योंकि एरियन के अनुसार ईरानी क्षत्रपों का अधिकार लगमान और नगरहार के आगे नहीं था।[1] श्री फूशे की राय है कि सिकन्दर के साथियों का यह बयान कि वह सिन्धु नदी के आगे बढ़ा, जान-बूझकर झूठ है। उनकी राय में ई० पू० ३२६ के वसन्त के पहले जब सिकन्दर तक्षशिला पहुंचा उसके पहले उसने हखामनी साम्राज्य की सारी जमीन जीत ली थी। व्यास नदी पर मकदूनी सिपाहियों की बगावत, श्री फूशे की राय में, इस कारण से थी कि वे हखामनी साम्राज्य के लेने के बाद आगे नहीं बढ़ना चाहते थे। सिन्धु नदी के रास्ते से उनके तुरत लौटने के लिए तैयार होने से पता चलता है कि हखामनी साम्राज्य का कुछ भाग जीतने से बाकी बच गया था। ई० पू० ३२५ के वसन्त में सिकन्दर जब सिन्ध के साथ पाँच नदियों के संगम पर पहुँचा तो वह बेहिस्तान-अभिलेख के अनुसार गन्धार का पुनर्गठन कर चुका था।[2] सिन्धु और असिक्नि के संगम तक फैली भूमि में क्षत्रपों की नियुक्ति के बाद दारा का हिन्दु-सिन्धु-सिन्ध का सूबा कायम हो गया।[3]

---

१. फूशे, वही, भा० २, पृ० १९९

२. वही, २, पृ० १९९-२००

३. वही, २, पृ०, २०१

उपर्युक्त राय को स्वीकार करने में लालच तो होती है, पर उसमें ऐतिहासिकता बहुत कम है। इसका बिलकुल प्रमाण नहीं है कि हखामनी व्यास तक पहुँच गये थे। पौराणिक आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि म्लेच्छ सिन्धु के पश्चिम तक ही सीमित थे। एरियन भी इसी बात को मानता है। पर यह बात सत्य हो सकती है कि सिकन्दर अपनी विजयों से हखामनी क्षत्रपियों का पुनरुद्धार कर रहा था। पजाब और सिन्ध में हखामनी अवशेषों की नगण्यता भी इस बात को सिद्ध करती है कि दारा प्रथम की सिन्ध-विजय थोड़े दिनों तक ही कायम रही।

सिकन्दर ने अपनी विजययात्रा खोरासान लेने के बाद ३३० ई० पू० में आरम्भ की। हमें पता है कि दारा तृतीय किस तरह भागा और सिकन्दर ने कैसे उसका पीछा किया। अपनी इस यात्रा में उसने दो सिकन्दरिया—एक एरिया में और दूसरी दंगियाना में—स्थापित कीं। अरखोसिया में पहुँचकर उसने तीसरी सिकन्दरिया बसाई और चौथी सिकन्दरिया की नींव उसने हिंदुकुश के बाद में डाली। इन बातों से यह मतलब निकलता है कि उसने अफगानी पहाड़ का पूरा चक्कर दे डाला और साथ-ही-साथ मार्गों की किलेबंदी भी कर डाली।

सिकन्दर के समय हेरात में रहनेवाले कबीले हिरोडोटस के समय वहाँ रहनेवाले कबीलों से भिन्न थे। एरियन के अनुसार सरंगी लोग जरा अथवा हेलमंद के दलदलों में रहते थे। अरिआस्पी शायद शकस्तान में रहते थे। जो भी हो, सिकन्दर को कन्धारियों से कोई तकलीफ नहीं मिली। उसने उनके देश से उत्तरी रास्ता पकड़ा जिसकी अभी खोज नहीं हुई है। इस रास्ते पर बर्बर कबीले रहते थे जिन्हें एरियन भारतीय कहता है। श्री फूशे के अनुसार ये हिरोडोटस के सत्तवाद अथवा आधुनिक हजारा रहे होंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, सिकन्दर के रास्ते के पड़ावों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। हमें यह पता है कि आज दिन काबुल-हेरात का रास्ता गजनी, कन्धार और फारा होकर चलता है, पर यह कहना मुश्किल है कि सिकन्दर भी उन्हीं पड़ावों से गुजरा। अर्तकोन और अरिय की सिकन्दरिया हेरात के आस-पास रही होगी। पर द्रागिकों की प्राचीन राजधानी दक्खिन की ओर जरंग की तरफ थी। इससे यह पता चलता है कि प्राचीन पथ हेलमन्द नदी को गिरिश्क में न पार करके प्लिनी के बेस्तई अथवा अरबों के बुस्त जिसे अब हेलमन्द और अरगन्दाब के ऊपर गालेबिन्त कहते हैं, पार करता था। यहाँ अरखोसिया शुरू होकर हेलमन्द और उसकी सहायक नदियों की निचली घाटियों उसमें आ जाती थीं। इसकी प्राचीन राजधानी और सिकन्दरिया शायद हेलमन्द के दायें किनारे पर थी, गोकि आधुनिक कन्धार उसके बायें किनारे पर है जिससे होकर मुस्लिम-युग में बड़ा रास्ता काबुल को चलता था। पर युवानच्वाङ् का कहना है कि अरखोसिया और कपिश के बीच का रास्ता अरगन्दाब के साथ-साथ चलता था। जागुड में पुरातत्त्व के निशान मिलने से उस बात की पुष्टि होती है। अनेक प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण यह रास्ता बन्द हो गया।

यहाँ यह कयास किया जा सकता है कि अफगानिस्तान के मध्यपर्वत को पार करने के लिए उसने पूरब की ओर कदम बढ़ाये। तथाकथित कोहकाफ पहुँचकर उसने एक और सिकन्दरिया की नींव डाली जो शायद परवान में स्थित थी[1] और जहाँ से बाद में उसने बलख और भारत जाने के लिए सैनिक बेस बनाया।

---

१. फूशे, वही, भाग २, पृ० २०२

सिकन्दर ने ई० पू० ३२६ के वसन्त में अपनी चढ़ाई शुरू की। बाम्यान का रास्ता वह नहीं ले सकता था; क्योंकि दुश्मन ने उसपर की सब रसद नष्ट कर दी थी। इसीलिए उसे खावक का रास्ता पकड़ना पड़ा। सम्भव है कि पंजशीर घाटी का रास्ता छोड़कर उसने सालंग और काओशान का पासवाला रास्ता लिया। जो भी हो, उसे दोनों रास्तों से अन्दर पहुँचना जरूरी था। यहाँ से सिकन्दर उत्तर-पश्चिमी रास्ता लेकर हैवाक के रास्ते खुल्म पहुँचा जहाँ से ताशकुरगन होता हुआ वह बलख पहुँचा। लेकिन मजारशरीफ के दक्खिन में एक पगडंडी है जो खुल्म नदी के तोड़ों से भीतर घुसती हुई बलख पहुँचती है। यह रास्ता लेने का कारण भी दिया जा सकता है। हमें पता है कि अद्रास्प के बाद बलख के रास्ते सिकन्दर ने ओरनोस (Aornos) जिसका अर्थ शायद एक प्राकृतिक किला होना है, जीता।[1] इस जगह की पहचान बलख आन पर काफिर किले से की जा सकती है। हमें पता है कि सिकन्दर बिना किसी लड़ाई-झगड़े के बलख पहुँचा और वहाँ उसे जबर्दस्ती वंक्षु की ओर जाना पड़ा। दो बरस बाद अर्थात् ३२७ ई० पू० के वसन्त में उसने सुग्ध पर चढ़ाई की। चढ़ाई करने के बाद वह बलख लौटा। उसे पूरे तौर से खत्म करने के बाद उसने भारत का रास्ता पकड़ा और लम्बी मंजिलें मारकर बाम्यान के दर्रे से दस दिनों में हिन्दूकुश पार कर लिया।

एरियन हमें बतलाता है कि कोहकाफ के नीचे सिकन्दरिया से सिकन्दर उपरिशयेन के सूबे की पूर्वी सीमा पर चला गया। वहाँ से महापथ के रास्ते वह तीन या चार पड़ावों के बाद लम्पक अथवा लमगान पहुँचा। यहाँ वह कुछ दिनों तक ठहरा और यहीं उसकी मुलाकात तक्षशिला के राजा तथा दूसरे भारतीय राजाओं से हुई। सिकन्दर ने अपनी सेना को यहाँ चार असमान भागों में बाँट दिया। एक दल को उसने काबुल नदी के उत्तरी किनारे पर के पहाड़ों में भेजा। सेना का अधिकतर भाग, पेरिडिक्कास की अधीनता में, काबुल नदी के दाहिने किनारे से होता हुआ पुष्करावती और सिन्धु नदी की ओर बढ़ा। उसी समय सिकन्दर ने अथेना देवी को बलि भेंट दी और निकिया नाम का नगर बसाया जिसके भग्नावशेष की खोज हमें मन्डरावर और चारबाग को अलग करनेवाले रास्ते पर करनी चाहिए।[2]

सेना का प्रधान भाग काबुल नदी का उत्तर किनारा पार करके तथा नगरहार में कुछ और सेना लेकर एक किले पर टूट पड़ा जहाँ राजा हस्ति ने उसे रोकने का वृथा प्रयत्न किया। यहाँ काबुल और स्वाट नदियों के झूमर में एक स्थान प्राग है जहाँ चारसद्दा के भीटों में प्राचीन पुष्करावती के अवशेष छिपे हैं। इस नगरी को परास्त करने में कुछ महीने लगे। सिकन्दर भी अपनी सेना से वहाँ आ मिला था। पुष्करावती को परा-उपरिशयेन (लमगान और सिन्धु के बीच ईरानी गन्धार) के कुछ भागों से जोड़कर एक नई क्षत्रपी का संगठन किया गया। वहाँ से, महापथ होकर वह सिन्धु नदी पर पहुँचा, पर कारणवश, उसने नदी को उद्भाण्ड पर पार नहीं किया। उसने अपने सेनापतियों को पुल बनाने की आज्ञा दी, पर वसन्त की बाढ़ के कारण पुल न बन सका। जब यह सब बखेड़ा हो रहा था उसी समय सिकन्दर औनोंस में छिपे कबीलों से भिड़ रहा था। ऐसा करने के लिए उसे ऊपर बुनेर की ओर जाना पड़ा। इसी बीच में सिकन्दर के सेनापतियों ने उण्ड और अम्ब के बीच पुल बना लिया। यहाँ से तक्षशिला तीन पड़ावों का रास्ता था।

---

१ वही पृ० २०३
२. वही पृ० २०५

सिकन्दर को उड्डीयान (कुनार, स्वात, बुनेर) के काफिरों के साथ खूनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं जिनमें उसे एक बरस लग गया। पर कुनार पार करते ही वह बाजौर के अस्पसों, पंजकोरा के गौरैयनों तथा स्वात के अस्सकेनों पर टूट पड़ा। सिकन्दर की इन लड़ाइयों में दो जगहें प्रसिद्ध हैं, एक है न्यासा, जहाँ से उसने दायोनिसस की नकल की, और दूसरी ओर्नोस, जहाँ उसने हेराक्लस को भी मात कर दिया। ओर्नोस को पहचानने का बहुत-से विद्वानों ने प्रयत्न किया है। सर ऑरेल स्टाइन इसे सिन्ध से स्वात को अलग करनेवाली चट्टान मानते हैं।

सिन्ध पार करके सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा जहाँ आंभि ने उसका स्वागत किया। इसके बाद वहाँ उसका दरबार हुआ। पर झेलम के पूरब में पौरवराज इस आगन्तुक विपत्ति से शंकित था और उसने सिकन्दर का सामना करने की तैयारी की। उसके आह्वान को स्वीकार करके सिकन्दर फौज के साथ झेलम पार करने के लिए आगे बढ़ा। ई० पू० ३२६ के वसंत में आधुनिक झेलम नगर के कहीं आस-पास पौरव-सेना इकट्ठी हुई। सिकन्दर के बेड़े ने पुरुराज के कमजोर बिन्दुओं पर धावा बोल दिया। आखिरी लड़ाई हुई जिसमें पुरु हार गया। पर उसकी वीरता से प्रसन्न होकर सिकन्दर ने उसका राज्य उसे वापस कर दिया।

पौरव-सेना की हार के बाद महापथ से सिकन्दर आगे बढ़ा। चेनाब के ग्लौचकायनों ने तथा अभिसार के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अधिक फौज आ जाने पर उसने चेनाब पार किया और एक दूसरे पौरव राजा को हराया। इसके बाद वह रावी की ओर बढ़ा तथा चेनाब और रावी के बीच का विजित प्रदेश अपने मित्र पुरु को सौंप दिया। अपने इस बढ़ाव में मकदूनी सेना हिमालय के पाद-पर्वतों के साथ-साथ चली। रावी के पूर्व में रहनेवाले अद्रष्टों ने तो आत्मसमर्पण कर दिया, पर कठों ने लड़ाई ठान दी। वे एक नीची पहाड़ी के नीचे शकटव्यूह बनाकर खड़े हो गये। इस व्यूह की रचना गाड़ियों की तीन कतारों से की गई थी जो पहाड़ी को तीन कतारों से घेरकर शिविर की रक्षा करती थी।[1] इतना सब करके भी बेचारे हार गये। अमृतसर के पास के सौभ प्रदेश के स्वामी सुभूति ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके बाद पूरब की ओर चलती हुई सिकन्दर की सेना व्यास नदी पर पहुँची। इसके बाद गंगा के मैदान में पहुँचने के लिए केवल सतलज नदी पार करना बाकी रह गया। व्यास पर पड़ाव डाले हुए सिकन्दर ने भगलराज से मगध-साम्राज्य की प्रशंसा सुनी और उससे लड़ना चाहा। पर इसी बीच में गुरदासपुर के आस-पास उसकी सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया और बेबस होकर सिकन्दर को उसे लौटने की आज्ञा देनी पड़ी। सेना महामार्ग से झेलम पहुँची, पर सिकन्दर ने सिन्धु नदी से यात्रा करने की ठानी और अरबसागर से काबुल पहुँचने का निश्चय किया। हेमन्त बेड़ा तैयार करने में गुजरा। यह बेड़ा नियर्कस के अधीन कर दिया गया और यह निश्चय किया गया कि बेड़े की रक्षा के लिए झेलम के दोनों किनारों पर फौजें कूच करें। सब-कुछ तैयारी हो जाने पर सिकन्दर ने सिन्ध, झेलम और चेनाब नदियों तथा अपने देवताओं को बलि दी और बेड़ा खोल देने का हुक्म दिया। एरियन के अनुसार[2] बेड़े की सफलता के लिए गाते-बजाते हुए भारतीय नदी के दोनों किनारों पर दौड़ रहे थे। दस दिनों के बाद बेड़ा झेलम और चेनाब के संगम पर पहुँचा। वहाँ चर्मधारी शिबियों ने सिकन्दर की मातहती स्वीकार कर ली। पर कुछ और नीचे जाने पर क्षुद्रक-मालवों ने लड़ाई छेड़ दी। उन्हें हराने के लिए सिकन्दर ने सेना के साथ उनका पीछा किया और शायद मुलतान में उन्हें हराया, गोकि ऐसा करने में वह अपनी जान ही खो चुका था।

1. आनाबेसिस, ५।२२ 2 आनाबेसिस, ६।३।५

क्षुद्रकमालव-विजय के बाद मकदूनी बेड़ा और सेना आगे बढ़ी। रास्ते में उनसे अंबष्ठ (Abastane), क्षत्रिय (Xathri) और वसाति (Ossadoi) से भेंट हुई जिन्हें सिकन्दर ने अपनी चतुराई अथव युद्ध से हराया। अन्त में फौज चेनाब और झेलम के संगम पर पहुँची। ई० पू० ३२५ के आरम्भ में बेड़ा यहाँ ठहरा। संगम के नीचे ब्राह्मणों का गणतन्त्र था। अपने जोर से आगे बढ़कर सिकन्दर सोग्दि की राजधानी में पहुँचा और वहाँ भी एक सिकन्दरिया की नींव डाली। इस क्षेत्र को शायद सिकन्दर ने सिन्ध की क्षत्रपी बना दिया। सिन्धु-चेनाब-संगम और डेल्टा के बीच मूषिक (Musicanos) रहते थे जिनकी राजधानी शायद अलोर थी। सिकन्दर ने उन्हें हराया। मूषिकों के शत्रु शम्बुकों (Sambos) की उनके बाद बारी आई और वे अपनी राजधानी सिन्दिमान में हराये गये। ब्राह्मणों ने सिकन्दर के साथ घोर युद्ध किया जिससे क्रोधित होकर सिकन्दर ने कत्ले-आम का हुक्म दे दिया।

पाताल (Pattala) जहां सिन्ध की दो धाराएँ हो जाती थीं, पहुँचने के पहले सिकन्दर ने अपनी सेना के एक तिहाई भाग को कन्धार और सेस्तान के रास्ते स्वदेश लौट जाने की आज्ञा दी। स्वयं आगे बढ़ते हुए उसने पाताल (शायद ब्रह्मनाबाद) को दखल कर लिया। बाद में उसने नदी की पश्चिमी शाखा की स्वयं जाँच-पड़ताल करनी चाही। बेड़ा चलाने की कुछ गड़बड़ी के बाद उस ऊजड़ प्रदेश के निवासियों ने मकदूनियों को समुद्र तक पहुँचा दिया। समुद्र और अपने पितरों की पूजा के बाद सिकन्दर पाताल लौट आया और वहाँ अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए नदी पर डाक और गोदियाँ बनवाने की आज्ञा दी।

सिकन्दर ने मकरान के रास्ते स्वदेश लौटने का निश्चय किया और अपने बेड़े को सिन्धु के मुहाने व फारस की खाड़ी होते हुए लौटने का हुक्म दिया। अपनी स्थलसेना के साथ वह हब नदी की ओर चल पड़ा। वहाँ उसे पता लगा कि वहाँ के बाशिन्दे आरब (Arbitae) उसके डर से भाग गये थे। नदी पार करने के बाद उसकी ओरित (Oritae) लोगों से भेंट हुई और उसने उनकी राजधानी रंबकिया (Rhambakia) पर जिसकी पहचान शायद महाभारत के वैरामक से की जा सकती है, दखल जमा लिया। इसके बाद वह गेड्रोसिया (बलूचिस्तान) में घुसा। वह बराबर समुद्री किनारे के साथ-साथ चलकर उस प्रदेश में अपने बेड़े के लिए खाने के डीपो और पानी के लिए कुँओं का प्रबन्ध करता रहा। इस भयंकर रेगिस्तान को पार करने के बाद सिकन्दर भारतीय इतिहास से ओझल हो जाता है।

पहले के बन्दोबस्त के अनुसार, नियर्कस सिन्ध के पूर्वी मुहाने से ई० पू० ३२५ के अक्टूबर में अपने जहाजी बेड़े के साथ रवाना होनेवाला था, पर सिन्ध के पूरब में बसनेवाले कबीलों के डर से वह मन्सूबा पूरा नहीं हुआ। नई व्यवस्था के अनुसार, बेड़ा सिन्ध की पश्चिमी शाखा में लाया गया, पर वहाँ भी सिकन्दर के चले आने पर उसे मुसीबतों का सामना करना पड़ा जिनसे तंग आकर उसने सितम्बर के अन्त में ही अपने बेड़े का लंगर उठा दिया।[1] बेड़ा 'काछनगर' से कूच करके शायद कराची पहुँचा और वहां अनुकूल वायु के लिए पचीस दिनों तक ठहरा रहा। वहाँ से चलकर बेड़ा हब नदी के मुहाने पर आया। हिंगोल नदी के मुहाने पर लोगों ने उसका मुकाबला किया, पर वे मार दिये गये। वहाँ पाँच दिन ठहरने के बाद बेड़ा रास मलन होता हुआ भारत की सीमा के बाहर चला गया।

---

1. स्ट्राबो, १५। सी। ७२१

भारत पर सिकन्दर का धावा भारतीय इतिहास की क्षणिक घटना थी। उसके लौट जाने के बीस बरस के अन्दर ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब की ओर अपना रुख फेरा, जिसके फलस्वरूप सिकन्दर की छत्रपियों के टुकड़े-टुकड़े हो गये। केवल इतना ही नहीं, भारतीय इतिहास में शायद सर्वप्रथम, सिल्यूकस के अधिकृत प्रदेश, पूर्वी अफगानिस्तान में भारतीय सेना घुस गई। करीब ई० पू० ३०५ के, अपने साम्राज्य की यात्रा करते हुए सिल्यूकस महापथ से सिन्धु नदी पर आया और वहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य से उसकी भेंट हुई। हम उस भेंट का इतना ही नतीजा मालूम है कि सिल्यूकस अपने राज्य का कुछ भाग मौर्यों को देने के लिए तैयार हो गया। स्त्राबो और बड़े प्लिनी के अनुसार, सिल्यूकस ने अरखोसिया और गेद्रोसिया की छत्रपियाँ तथा अरिय के चार जिले चन्द्रगुप्त को दे दिये।[1] श्री फूशे की राय है कि ५०० हाथियों के बदले इस पहाड़ी प्रदेश के देने में सिल्यूकस ने कोई आत्मत्याग नहीं दिखलाया, क्योंकि उसने अरिय का सबसे अच्छा भाग अपने लिए रख छोड़ा। सेलूकियों का मौर्यों के साथ अच्छा सम्बन्ध था जिसके फलस्वरूप मेगास्थनीज, डायामेकस, दायोनिसस दूत बनकर महापथ से पाटलिपुत्र पहुँचे।

पर ऐसी अवस्था बहुत दिनों तक नहीं चली। अशोक की मृत्यु (ई० पू० करीब २३६) के बाद मौर्य-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। सेलूकियों की भी वही हालत हुई। दायोडोट ने बलख में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और अरसक (Arsaces) ने ईरान में। अन्तियोक (Antiochus) ने इन बगावतों को दबाने का वृथा प्रयत्न करते हुए बलख पर धावा बोल दिया, पर वहाँ यूथीदम (Euthydemus) ने अपने को बलख के किले में बंद कर लिया। दो बरस तक घेरा डालने के बाद बर्बर जातियों के हमलों के आगत भय से घबराकर दोनों में सुलह हो गई। इसके बाद अन्तिओक ने भारत की यात्रा की जहाँ गन्धार, उपरिशयेन और अरखोसिया के अधिराज सुभगसेन से उसकी मुलाकात हुई। यह सुभगसेन शायद मौर्यों का प्रादेशिक था जो मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद स्वतन्त्र हो गया था।

जब भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में ये घटनाएँ घट रही थीं उसी समय, जैन-अनुश्रुति के अनुसार, अशोक का पोता सम्प्रति मध्यदेश, गुजरात, दक्खिन और मैसूर में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। ऐसी अनुश्रुति है कि उसने २५½ राज्यों को जैन साधुओं के लिए सुगम्य बना दिया।[3] उसने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अपने सैनिकों को जैन साधुओं के वेष में आन्ध्र, द्राविड़, महाराष्ट्र, कुड्डुक (कुर्ग) तथा सुराष्ट्र-जैसे सीमाप्रान्तों को भेजे।[4] उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि अशोक के बाद ही शायद महाराष्ट्र, सुराष्ट्र और मैसूर मौर्य-साम्राज्य से अलग हो गये थे जिससे सम्प्रति को उन्हें फिर से जीतने की आवश्यकता पड़ी। आन्ध्र तथा द्राविड़ में सेना भेजकर उसने दक्षिण में अपना साम्राज्य बढ़ाया।

---

१. कैंब्रिज हिस्ट्री, भा० १, पृ० ४३१

२ फूशे, वही, भा० २, पृ० २०८-२०९

३. जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन एंशेंट इंडिया ऐजस डिपिक्टेड इन द जैन केनन्स, पृ० २२०, बम्बई १९४७

४. वही, पृ० २९१

उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि शायद जैन-साहित्य के २५½ राज्य मौर्य-साम्राज्य की भुक्तियाँ थीं।[1] इन देशों की तालिका निम्नलिखित है।

राज्य अथवा भुक्ति	राजधानी
१ मगध	राजगृह
२ अंग	चम्पा
३ वंग	तामलित्ति (ताम्रलिप्ति)
४ कलिंग	कंचणपुर
५ काशी	वाणारसि (बनारस)
६ कोसल	साकेत
७ कुरु	गयपुर अथवा हस्तिनापुर
८ कुसट्टा	सोरिय
९ पंचाल	कंपिल्लपुर
१० जंगल	अहिछत्ता
११ सुराष्ट्र	बारवइ, द्वारका
१२ विदेह	मिहिला, मिथिला
१३ वच्छ (वत्स)	कोसम्बी
१४ संडिल्ल	नंदिपुर
१५ मलय	भद्दिलपुर
१६ व (म) च्छ	वेराड
१७ वरणा	अच्छा
१८ दशरणा (दशार्ण)	मत्तियावई (मृत्तिकावती)
१९ चेदि	सुत्तिवई
२० सिन्धु-सोवीर	वीइभय (वीतिभय)
२१ सूरसेन	महुरा (मथुरा)
२२ भंगि	पावा
२३ पुरिवट्टा	मासपुरी
२४ कुणाला	सावत्थी (श्रावस्ती)
२५ लाट	कोडिवरिस (कोटिवर्ष)
२५½ केगइ अद्ध	सेयविया

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि मौर्य-युग में बहुत-से प्राचीन नगर नष्ट हो चुके थे और उनकी जगह नये शहर बस गये थे। कपिलवस्तु का इस तालिका में नाम नहीं मिलता। यह भी बताना मुश्किल है कि मगध की मौर्यकालीन राजधानी पाटलिपुत्र की जगह प्राचीन राजधानी राजगृह का नाम क्यों आया है। शायद इसका यह कारण हो सकता है कि मौर्य-युग में भी राजगृह का धार्मिक और राजनीतिक महत्व बना था। अंग की राजधानी चम्पा ही बनी रही; पर वंग की राजधानी ताम्रलिप्ति इसलिए हो गई कि वहीं महापथ समाप्त होता था और उसका

---

१. बृह० कल्पसूत्र भाष्य, ३२६३ से

बन्दरगाह अंतर्देशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। अशोक द्वारा विजित कलिंग की राजधानी कंचनपुर का पता नहीं चलता; पर यह एक बन्दरगाह था जिसके साथ लंका का व्यापार चलता था।[१] बहुत सम्भव है कि यहाँ कलिंग की राजधानी दंतपुर से तात्पर्य हो जिसे टाल्मी ने पलुर कहा है, जो श्री लेवी के अनुसार, दन्तपुर का तामिल रूपान्तरमात्र है। काशी की राजधानी बनारस ही बनी रही। लगता है, प्राचीन कोसल तीन भुक्तियों में बाँट दिया गया था। खास कोसल की राजधानी साकेत थी, कुणाला की राजधानी श्रावस्ती थी और साडिल्ल (शायद संडीला, लखनऊ के पास) की राजधानी नन्दिपुर थी। कुरुदेश की राजधानी पहले की तरह हस्तिनापुर में बनी रही। कुशावर्त यानी कान्यकुब्ज की राजधानी सोरिय यानी आधुनिक सोरों में थी। दक्षिण पंचाल की राजधानी कम्पिल्लपुर यानी आधुनिक कम्पिल में थी। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिछत्रा थी। प्राचीन सुराष्ट्र की राजधानी द्वारावती भी ज्यों-की-त्यों बनी रही। विदेह की राजधानी मिथिला यानी जनकपुर थी। वैशाली का उल्लेख नहीं आता। वत्सों की राजधानी कौशाम्बी भी ज्यों-की-त्यों बनी रही। मत्स्यों की राजधानी वेराड में थी जिसकी पहचान जयपुर में स्थित वैराट से, जहाँ अशोक का एक शिलालेख मिला है, की जाती है। वरणा यानी आधुनिक बुलन्दशहर की राजधानी को अच्छा कहा गया है जिसका पता नहीं चलता। पूर्वी मालवा यानी दशार्ण की राजधानी मृत्तिकावती थी। पश्चिमी मालवा की राजधानी उज्जयिनी का न जाने क्यों उल्लेख नहीं है। बुन्देलखण्ड के चेदियों की राजधानी शुक्तिमती शायद बान्दा के पास थी। सिन्धु-सोवीर की राजधानी वीतिभयपत्तन (शायद भेरा) में थी। मथुरा सूरसेनप्रदेश की राजधानी थी। अंगदेश (हजारीबाग और मानभूम) की राजधानी पावा थी तथा लाटदेश (हुगली, हवड़ा, वर्दवान और मिदनापुर का पूर्वी भाग) की राजधानी कोटिवर्ष में थी। केकयअर्द्ध की राजधानी शायद श्रावस्ती और कपिलवस्तु के मध्य में नेपालगंज के पास थी।

उपर्युक्त राजधानियों की जाच-पड़ताल से पता चलता है कि महाजनपथ वैसे ही चलता था, जैसे बुद्ध के समय में। कुरुक्षेत्र से उत्तर-उत्तर होकर जानेवाले रास्ते पर हस्तिनापुर, अहिछत्रा, कुणाला, सेतव्या, श्रावस्ती, मिथिला, चंपा और ताम्रलिप्ति पड़ते थे। गंगा के मैदान के दक्खिनी रास्ते पर मथुरा, कम्पिल्ल, सोरेय्य, साकेत, कोशाम्बी और बनारस पड़ते थे। बाकी राजधानियों के नाम से भी मालवा, राजस्थान, पंजाब तथा सुराष्ट्र के पथों की ओर इशारा है।

२

ऊपर हमने मौर्य-युग में प्राचीन जनपथों के इतिहास की ओर दृष्टिपात किया है। भाग्यवश कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राचीन महापथ और समुद्री मार्गों के बारे में कुछ ऐसी बातें बच गई हैं जिनका उल्लेख दूसरी जगहों में नहीं होता। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि अन्तर-देशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की सफलता का अधिक श्रेय सार्थवाहों की कुशलता पर निर्भर रहता था, पर सार्थवाह भी अपनी मनमानी नहीं कर सकते थे। राज्य ने उनके लिए कुछ ऐसे नियम बना दिये थे जिनकी अवहेलना करने पर उन्हें दण्ड का भागी होना पड़ता था।

१. जैन, वही, पृ० २६१

अन्तरदेशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कुशलतापूर्वक चलने के लिए चुस्त राजकर्म, सेना का आसानी के साथ संचालन और सड़कें आवश्यक थीं। रथ-पथ (रथ्या), बन्दरों को जानेवाले राजपथ (द्रोणमुख), सूबों की राजधानियों को जानेवाले पथ (स्थानीय), पड़ोसी राष्ट्रों में जानेवाले पथ (राष्ट्र) और चरागाहों में जानेवाले पथ (विवीतपथ) चार दण्ड, यानी २४ फुट चौड़े होते थे। सयोनीय (?), फौजी कैम्प (व्यूह), श्मशान और गाँव की सड़कें आठ दण्ड, यानी, ४८ फुट चौड़ी होती थीं। सेतु और जंगलों को जानेवाली सड़कें २४ फुट चौड़ी होती थीं। सुरक्षित हाथीवाले जंगलों की सड़कें दो दण्ड यानी १२ फुट चौड़ी होती थीं। रथपथ ७½ फुट चौड़े होते थे। पशुपथ केवल ३ फुट चौड़े होते थे।[1]

अर्थशास्त्र से यह भी पता चलता है कि किले में बहुत-सी सड़कें और गलियाँ होती थीं। किले के बनने के पहले उत्तर से दक्खिन और पूरब से पश्चिम जानेवाली तीन-तीन सड़कों के स्थान निर्धारित कर दिये जाते थे।

अर्थशास्त्र में एक जगह[2] स्थल और जलमार्गों की आपेक्षिक तुलना की गई है। प्राचीन आचार्यों का उदाहरण देते हुए कौटिल्य का कहना है कि उनके अनुसार स्थलमार्गों की अपेक्षा समुद्र और नदियों के रास्ते अच्छे होते थे। उनकी अच्छाई माल ढोने में कम खर्च होने से ज्यादा फायदा होने की वजह से थी। पर कौटिल्य इस मत से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार जलमार्गों में स्थायित्व नहीं होता था तथा उनमें बहुत-सी अड़चनें और भय थे। इनकी तुलना में स्थलमार्ग सरल थे। समुद्री मार्गों की कठिनाइयाँ दिखाते हुए कौटिल्य का कहना है कि दूर समुद्र के रास्ते की अपेक्षा किनारे का रास्ता अच्छा था; क्योंकि उसपर बहुत-से माल बेचने-खरीदनेवाले बन्दर (पण्यपत्तन) होते थे। उसी क्रम से, नदी के रास्ते समुद्र की कठिनाइयों के न होने से सरल थे तथा कठिनाइयाँ आने पर भी आसानी से उनसे छुटकारा पाया जा सकता था। प्राचीन आचार्यों के अनुसार, हैमवतमार्ग अथवा बलख से हिन्दूकुश होकर भारत का मार्ग दक्षिणपथ, यानी, कौशाम्बी-उज्जैन-प्रतिष्ठान, के रास्ते से अच्छा था। पर कौटिल्य इस मत से भी सहमत नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार हैमवतमार्ग पर सिवाय घोड़ों, ऊनी कपड़ों और खालों को छोड़कर दूसरा व्यापार नहीं था, पर दक्षिणपथ पर हमेशा शंख, हीरे, रत्न, मोती और सोने का व्यापार चलता रहता था। दक्षिणपथ में भी वह रास्ता अच्छा समझा जाता था, जो खानवाले जिलों को जाता था, और इसलिए व्यापारी उसका बराबर व्यवहार करते रहते थे। यह रास्ता कम खतरेवाला और कमखर्च था तथा उसपर माल आसानी से खरीदा जा सकता था। कौटिल्य बैलगाड़ी के रास्ते (चक्रपथ) और पगडंडी (पादपथ) में चक्रपथ को इसलिए बेहतर मानते थे कि इसपर भारी बोझ आसानी से ढोये जा सकते थे। अन्त में कौटिल्य इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सब देशों और सब मौसिमों के लिए वे सड़कें अच्छी हैं जिनपर ऊँट और खच्चर आसानी से चल सकें।

मार्गों के बारे में ऊपर की बहस से पता चलता है कि बलख और पाटलिपुत्र के बीच और पाटलिपुत्र और दक्षिण यानी प्रतिष्ठान, के बीच राजमार्ग थे जिनपर होकर देश का अधिक व्यापार चलता था। शायद कट्टर ब्राह्मण होने की वजह से कौटिल्य को समुद्रयात्रा रुचिकर नहीं थी, पर अर्थशास्त्र की मर्यादा मानकर उन्होंने समुद्रयात्रा के विरुद्ध धार्मिक प्रमाण न देकर केवल उसमें आनेवाली विपत्तियों की ओर ही संकेत किया है।

---

१. अर्थशास्त्र, शामा शास्त्री का अनुवाद, पृ० ५६, मैसूर १९१९

२. वही, पृ० ३२८

भारतीय सड़कों के बारे में यूनानी लेखकों ने भी थोड़ा-बहुत कहा है। चन्द्रगुप्त के दरबार में सिल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज ने उत्तर भारत की पथ-पद्धति के बारे में कहीं-कहीं कुछ कहा है। एक जगह उसका कहना है कि भारतीय सड़कें बनाने में बड़े कुशल थे। सड़कें बनाने के बाद हर दो मील पर स्तम्भ लगाकर वे दूरी और उपमार्गों की ओर संकेत करते थे।[1] एक दूसरी जगह उसका कहना है कि राजमार्ग पर पड़नेवाले पड़ावों का प्रामाणिक खाता रखा जाता था।[2] रास्ते में यात्रियों के आराम का प्रबन्ध होता था। अशोक के एक अभिलेख से पता चलता है कि यात्रियों के आराम के लिए राजा ने रास्तों पर कुँए खुदवाये थे और पेड़ लगवाये थे।[3]

पाटलिपुत्र में नगर के छः प्रबन्धक बोर्डों में दूसरा बोर्ड विदेशियों की खातिरदारी का प्रबन्ध करता था। उनके लिए वह ठहरने की जगह की व्यवस्था करता था और विदेशियों के नौकरों की मारफत उनकी चाल-चलन पर बराबर निगाह रखता था। जब वे देश छोड़ते थे तब बोर्ड उनको पहुँचवाने का प्रबन्ध करता था और अभाग्यवश यदि उनमें से किसी की मृत्यु हो गई तो उसके माल को उसके रिश्तेदारों के पास भिजवाने का प्रबन्ध करता था। बीमार यात्रियों की सेवा-टहल का भी वह प्रबन्ध करता था और मृत्यु हो जाने पर उनकी अन्तिम क्रिया की व्यवस्था का भार भी उसपर था।[4]

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि मौर्य-युग में भारत का भिन्न-भिन्न देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, थनेर के साथ पाटलिपुत्र का व्यापारिक सम्बन्ध था। बहुत-से दूसरे रास्ते भी पाटलिपुत्र का सम्बन्ध दूसरी राजधानियों और बन्दरगाहों से जोड़ते थे। समुद्र के किनारे के रास्तों से भी भारतीय बन्दरगाहों में काफी व्यापार चलता था। पूर्वी समुद्रतट पर ताम्रलिप्ति और पश्चिमी समुद्रतट पर भरुकच्छ के बन्दरों से लंका और स्वर्णभूमि के साथ व्यापार होता था। हमें इस बात का पता नहीं कि इस युग में जहाजों से भारतीय फारस की खाड़ी में कहाँ तक पहुँचते थे। पर इस बात की पूरी सम्भावना है कि उनका इस रास्ते से होकर बाबुल के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। अर्थशास्त्र में सिकन्दरिया से आये हुए मूँगे के लिए अलसन्दक शब्द का व्यवहार हुआ है, पर शायद यह शब्द बाद में अर्थशास्त्र में घुस गया। इस बात में बहुत कम सन्देह है कि भारतीयों को लालसागर के बन्दरगाहों का पता था, गोकि वे अरबों की वजह से, जिनके हाथ में उस प्रदेश का पूरा व्यापार था, बहुत कम जाते थे। स्त्राबो[5] इस सम्बन्ध में एक विचित्र घटना का उल्लेख करता है जो मौर्य-युग के कुछ ही काल बाद घटी। उसके अनुसार, मिस्र के राजा यूगेंटिस द्वितीय के राज्यकाल में, सिजीकस के निवासी यूडोक्सस ने नील नदी की छान-बीन के लिए एक यात्रा की। उसी समय यह घटना घटी कि अरब की खाड़ी के किनारों के रक्षक यूगेंटिस के सामने एक भारतीय नाविक को लाये और बतलाया कि उन्होंने उसे एक जहाज पर अधमरा पाया था। उसके बारे में अथवा उसके देश के बारे में उन्हें कुछ पता

---

1. जे० डब्लू० मेक्क्रिंडल, एंशेंट इण्डिया एण्ड डिस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज एण्ड एरियन, फ्रेगमेंट ३४, पृ० ८६, लंदन १८७७
2. वही, फ्रेगमेंट, ३, एरियन, इण्डिका, २।१।६, पृ० ५०
3. भांडारकर, अशोक, पृ० २७६
4. मेक्क्रिंडल, वही, फ्रेग० ३४०, पृ० ८७
5. स्त्राबो, २।३।८

नहीं था, क्योंकि सिवाय अपनी भाषा के वह दूसरी कोई भाषा नहीं बोल सकता था। राजा का उस नाविक के प्रति आकर्षण बढ़ा और उसने उसे यूनानी पढ़ाने का बन्दोबस्त कर दिया। यूनानी भाषा में कुछ प्रगति कर लेने के बाद उस नाविक ने बतलाया कि उसका जहाज भारतीय समुद्री किनारे से चला था, पर रास्ता भूलकर वह मिस्र की ओर आ पड़ा। रास्ते में उसके और साथी भूख-प्यास से मर गये। इस शर्त पर कि उसे अपने देश लौट जाने की आज्ञा दे दी जायगी, उसने यूनानियों को भारत का रास्ता दिखला देने का वादा किया। मिस्र से जो लोग भारत भेजे गये उनमें यूडॉक्सस भी था। कुछ दिनों के बाद वह दल सकुशल अपनी यात्रा समाप्त करके बहुमूल्य रत्नों और गन्ध द्रव्यों के साथ मिस्र लौट आया।

अर्थशास्त्र[1] के अध्ययन से यह पता लगता है कि राज्य को देश के जलमार्गों का पूरा ध्यान रहता था और उनकी व्यवस्था के लिए ही नौकाध्यक्ष की नियुक्ति होती थी।[2] इस कर्मचारी के जिम्मे समुद्र में चलनेवाले जहाजों (समुद्रसंयान) तथा नदी के मुहानों, झीलों इत्यादि में चलनेवाली नावों का खाना होता था। बन्दरगाहों से चलने के पहले समुद्री यात्री राजा का शुल्कभाग अदा कर देते थे। राजा के निज के जहाजों पर चलनेवाले यात्रियों को महसूल (यात्रावेतन) भरना पड़ता था। जो लोग राजा का जहाज शंख और मोती निकालने के लिए व्यवहार करते थे वे भी नाव का भाड़ा (नौकाहाटक) अदा करते थे। उनके ऐसा न करने पर उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता थी कि वे अपनी नावें काम में ले आवें। नौकाध्यक्ष बड़ी सख्ती के साथ पण्यपत्तनों में चलनेवाले रीत-रवाजों (चरित) का पालन करता था और बन्दरगाहों के कर्मचारियों की निगरानी करता था। जब तूफान से टूटा-फूटा (मूढ़वाताहत) जहाज बन्दर में घुसता था तो नौकाध्यक्ष का यह कर्त्तव्य होता था कि वह यात्रियों और नाविकों के प्रति पैत्रिक स्नेह दिखलाये। समुद्र के पानी से खराब हुए माल के ढोनेवाले जहाजों पर या तो कोई शुल्क नहीं लगता था और अगर लगता भी था तो आधा। इस बात का ख्याल रखा जाता था कि वे जहाज फिर मौसम में ही अपनी यात्रा कर सकें। समुद्र के किनारे के बन्दरों को छूनेवाले जहाजों को भी वहाँ के शुल्क अदा करने पड़ते थे। नौकाध्यक्ष को इस बात का अधिकार था कि वह डाकेमार (हिंस्रिका) जहाजों को नष्ट कर दे और उन जहाजों को भी, जो बन्दरगाह के आचारों और नियमों का पालन नहीं करते थे।

मशहूर व्यापारियों और उन विदेशी यात्रियों को, जो अक्सर अपने व्यापार के लिए इस देश में आते थे, नौकाध्यक्ष बिना किसी विघ्न-बाधा के उतरने देता था, लेकिन जिनके बारे में औरत के भगाने का सन्देह होता था, डाकू, डरे-घबराये हुए आदमी, बिना असबाब के यात्री, छद्मवेश में यात्रा करनेवाले नये-नये संन्यासी, बीमारी का बहाना करनेवाले, बिना खबर दिये कीमती माल ले जानेवाले, छिपाकर विष ले जानेवाले तथा बिना मुद्रा (अर्थात् पासपोर्ट) के यात्रा करनेवाले, गिरफ्तार करवा दिये जाते थे।

गर्मी और सर्दी में, बड़ी-बड़ी नदियों में, बड़ी-बड़ी नावें एक कप्तान (शासक) के अधीन, निर्यामक, खेनेवाले (दात्रग्राहक), गुनरखे (रश्मिग्राहक) और पानी उलीचनेवाले (उत्सेचक) के अधिकार में रख दी जाती थीं। बरसात में, बढ़ी हुई नदियों में, छोटी-छोटी नावें चलती थीं।

बिना आज्ञा के बाट उतरना अपराध समझा जाता था और उसके लिए जुर्माने की व्यवस्था थी। पार उतरनेवालों से महसूल वसूल किया जाता था। मछुए, माली, घसकटे,

---

1. अर्थशास्त्र, पृ० १३६ से १४१

ग्वाले, डाक ले जानेवाले, सेना के लिए माल-असबाब ढोनेवाले, दलदल के गाँवों में बीज इत्यादि ढोनेवाले तथा अपनी नावें चलानेवाले लोगों को पार उतरने का भाड़ा नहीं देना पड़ता था। ब्राह्मणों, परिव्राजकों, बच्चों और बूढ़ों को भी पार उतरने के लिए कुछ नहीं देना पड़ता था।

पार उतरने के लिए महसूल की निम्नलिखित दरें थीं। छोटे चौपायों और बोझ ढोनेवालों के लिए एक माष, सिर और कन्धों पर बोझ ढोनेवालों, गायों और घोड़ों के लिए दो माष, ऊँटों और भैंसों के लिए चार माष, छोटी गाड़ी के लिए पाँच माष, मझली बैलगाड़ी के लिए छः माष, सग्गड़ के लिए सात माष, और माल के एक बोझ के लिए चौथाई माष।

दल-दल के पास बसे हुए गाँववालों को घाट उतारनेवाले माँझी उनसे खाना-पीना और वेतन पाते थे। माँझी लोग शुल्क, गाड़ी का महसूल (आतिवाहिक) और सड़क का भाड़ा (वर्तनी) सीमा पर वसूल कर लेते थे। उनको इस बात का भी अधिकार था कि वे बिना मुद्रा (पासपोर्ट) के चलनेवालों का माल-असबाब जब्त कर लें।

नौकाध्यक्ष को नावों की मरम्मत करके उन्हें अच्छी हालत में रखना पड़ता था। अधिक भार से, बे-मौसम चलने से, बिना माँझियों के और बिना मरम्मत के नावों के डूब जाने पर नौकाध्यक्ष को हरजाना भरना पड़ता था। आषाढ़ तथा कार्तिक महीने के पहले सात दिनों में नई नावें नदी में उतारी जाती थीं।

घाट उतारनेवाले माँझियों के हिसाब-किताब की कड़ी निगरानी होती थी और उन्हें प्रतिदिन की आमदनी का ब्योरा समझाना पड़ता था।

मौर्य-युग से लेकर मुगल-युग तक बिना मुद्रा (यानी पासपोर्ट) के कोई यात्रा नहीं करता था। मुद्रा देने का अधिकार मुद्राध्यक्ष[1] का था। लोगों को मुद्रा देने के लिए वह उनसे प्रतिमुद्रा एक माष वसूल करता था। समुद्र अथवा जनपदों में जाते-आते—दोनों समय—मुद्रा लेनी पड़ती थी जिसके सहारे लोग बे-खटके यात्रा कर सकते थे। जनपद अथवा समुद्र, दोनों ही में, बिना मुद्रा यात्रा करने पर, १२ पण दण्ड लगता था। नकली मुद्रा से सफर करनेवालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड विदेशियों के लिए तो और कठोर होता था। मुद्रा की जाँच-पड़ताल रास्ते में विवीताध्यक्ष (यानी चरागाह का अफसर) करता था। जाँच की ये चौकियाँ ऐसी जगहों में होती थीं जहाँ से होकर यात्रियों को जाना अनिवार्य होता था।

मुद्रा देने कि सिवाय मुद्राध्यक्ष का यह भी कर्तव्य होता था कि वह सड़कों को जंगली हाथियों, जानवरों और चोर-डाकुओं से रहित रखे। निर्जल प्रदेश में कुँए खुदवाना, बाँध बँधवाना, रहने की जगह तैयार करवाना तथा फल-फूल की बाड़ियाँ लगवाना उसके मुख्य कर्तव्य थे।

वन की रक्षा के लिए कुत्तों के साथ शिकारियों की नियुक्ति होती थी। जैसे ही वे दुश्मन अथवा डाकुओं के आवागमन की सूचना पाते थे, वैसे ही पेड़ों अथवा पहाड़ों में छिप जाते थे जिससे उनका पता शत्रुओं को नहीं हो। इन जगहों से वे नगाड़ों की चोट से अथवा शंख फूककर आगन्तुक विपत्ति की सूचना देते थे। शत्रु के संचरण की सूचना पाते ही वे राजा के पालतू कबूतर (गृहकपोत) के गले में मुद्रा बाँधकर समाचार भेज देते थे अथवा थोड़ी-थोड़ी दूर पर धूआँ करके भावी विपत्ति की ओर इशारा कर देते थे।

१, वही, पृ० १२७९-९८

शुल्काध्यक्ष उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त जंगलों तथा हाथियों के सुरक्षित स्थानों की रक्षा करता था, सड़कों की मरम्मत करता था, चोरों को गिरफ्तार करता था, व्यापारियों को बचाता था, गायों की रक्षा करना था तथा सार्थों के लेन-देन की निगरानी करता था।

मौर्य-युग में अधिक व्यापार चलने से राज्य को शुल्क से बड़ी आमदनी थी। शुल्काध्यक्ष बड़ी कड़ाई से चुंगी वसूल करता था। ध्वजाएं फहराती हुई शुल्कशालाएं नगर के उत्तरी और पूर्वी द्वारों पर बनी होती थीं। जैसे ही व्यापारी नगरद्वार पर पहुंचते थे, वैसे ही, शुल्क वसूल करनेवाले चार-पांच कर्मचारी उनसे उनके नाम, पते, माल की नाप और किस्म तथा अभिज्ञान-मुद्रा पहले कहाँ लगी आदि का पता पूछते थे। अमुदित वस्तुओं पर दुगुनी चुंगी लगती थी तथा नकली मुहर लगाने पर चुंगी का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था। टूटी अथवा मिटी हुई मुहरों के लिए व्यापारियों को चौबीस घण्टे हवालात में बन्द रखा जाता था। राजमुद्रा अथवा नाममुद्रा के बदलने पर, प्रति बोझ सवा पण के हिसाब से दण्ड लगता था।

इन सब जाँच-पड़तालों के बाद व्यापारी अपना माल शुल्कशाला की पताका के पास रख देते थे और उसकी तायदाद और दाम बताकर उसे ग्राहकों के हाथ बेचने का एलान करते थे। अगर निश्चित मूल्य के ऊपर दाम चढ़ता था तो बढ़े दाम पर लगा शुल्क राजा के खजाने में चला जाता था। गहरे महसूल के डर से माल का दाम कम कहने पर और उसका पता चल जाने पर व्यापारी को शुल्क का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था। इतना ही दण्ड माल की मिकदार कम बतलाने अथवा कीमती माल को घटिया माल की तह से छिपाने पर लगता था। माल का दाम बढ़ाकर कहने पर उचित मूल्य से अधिक की रकम ले ली जाती थी अथवा मामूली शुल्क का अठगुना दण्ड लगता था। माल न बेचने पर, अनबेचे माल पर की चुंगी का तिगुना दण्ड खुद शुल्काध्यक्ष को भरना पड़ता था। ठीक ठीक तौलने, नापने और आकने के बाद माल बेचा जा सकता था। शुल्क बिना भरे अगर व्यापारी आगे बढ़ जाता था तो उसे मामूली चुंगी का अठगुना दण्ड लगता था। विवाह अथवा दूसरे धार्मिक उत्सवों के सामान पर चुंगी नहीं लगती थी। जो लोग चोरी से माल ले जाते थे अथवा बयान से अधिक माल, पेटी की मुहर तोड़कर और उसमें अधिक माल लाकर, ले जाने की कोशिश करते पकड़े जाते थे, उनका न केवल माल ही जब्त कर लिया जाता था, बल्कि उन्हें गहरा जुर्माना भी किया जाता था।

अगर कोई आदमी अविहित वस्तुएं जैसे हथियार, धातुएं, रथ, रत्न, अन्न और पशु लाने की कोशिश करता था तो उसका माल जब्त करके सरे-आम नीलाम कर दिया जाता था। लगता है, उपर्युक्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय का अधिकार राज्य को था और इसलिए उनके आयात की आज्ञा नहीं थी।

शुल्क के अलावा भी व्यापारियों को बहुत-से छोटे-मोटे कर और दान भरने पड़ते थे। सीमा का अधिकारी अन्तःपाल प्रति बोझ के लिए सवा पण सड़क का कर वसूल करता था। पशुओं के ऊपर कर आधे से चौथाई पण तक होता था। इन करों के बदले में अन्तःपाल के भी कुछ कर्त्तव्य होते थे। उदाहरण के लिए अगर किसी व्यापारी का माल उसके प्रदेश में लुट जाता तो उसे उसका हरजाना भरना पड़ता था। अन्तःपाल विदेशी मालों का मुआयना करने के बाद और उनपर अपनी मुहरें लगाकर शुल्काध्यक्ष के पास चलान कर देता था। व्यापारी के छद्मवेष में एक

---

१. वही, पृ० १२१-१२३

गुप्तचर द्वारा माल की किस्म और मिकदार के बारे में राजा को भी खबर भेज दी जाती थी। अपनी सर्वज्ञता जताने के लिए राजा यह खबर शुल्काध्यक्ष के पास भेज देता था और वह व्यापारियों के पास यह समाचार भेज देता था। यह व्यवस्था इसलिए की जाती थी कि व्यापारी झूठे बयान न दे सकें। इस सावधानी के बाद भी अगर चोरियाँ पकड़ी जाती थीं तो साधारण माल पर शुल्क का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था और अच्छा माल तो जब्त ही कर लिया जाता था। नुकसान पहुँचानेवाली वस्तुओं के आयात की मनाही थी। पर ऐसी उपयोगी वस्तुएँ, जैसे बीज, जिनका किसी प्रदेश में मिलना कठिन था, बिना किसी शुल्क के लाई जा सकती थीं।

सब माल पर—जैसे बाहरी (बाह्य, जिलों में उत्पन्न), आन्तरिक (अभ्यन्तर, नगरों मे बने) और विदेशी (आतिथ्य)—आयात-निर्यात के समय शुल्क लगता था। फल-फूल और सूखे गोश्त पर उनके मूल्य का छठा भाग शुल्क में देना पड़ता था। शंख, हीरा, मोती, मूँगा, रत्न तथा हारों पर विशेषज्ञों की राय से शुल्क निर्धारित किया जाता था। क्षौम, हरताल, मैनसिल, सिन्दूर, धातुएँ, वर्णधातु, चन्दन, अगरु, कटुक, खमीर (किण्व), आवरण, शराब, हाथीदाँत, खालें, सूती और रेशेदार कपड़े बनाने के लिए कच्चे माल, आस्तरण, परदे (प्रावरण) किरिमदाना (कृमियात) तथा भेड़ और बकरे के ऊन और बाल पर शुल्क उनके दामों का $\frac{१}{१०}$ से $\frac{१}{१५}$ तक होता था। उसी तरह कपड़ों, चौपायों, कपास, गन्ध-द्रव्य, दवाओं, काठ, बाँस, वल्कल, चमड़ों, मिट्टी के बरतनों, अनाज, तेल, नमक, क्षार तथा भुंजिया चावल पर शुल्क उनके मूल्य का $\frac{१}{२०}$ से $\frac{१}{२५}$ तक होता था।

उपर्युक्त शुल्कों के अतिरिक्त व्यापारियों को शुल्क का पाँचवाँ भाग द्वारकर के रूप में भरना पड़ता था, पर यह कर माफ भी किया जा सकता था।

मौर्य-युग के व्यापार में व्यापार के अध्यक्ष (पण्याध्यक्ष)[१] का भी एक विशेष स्थान था। पण्याध्यक्ष का व्यापारियों के साथ घना सम्बन्ध होता था। उसका यह कर्तव्य होता था कि जल और स्थल के मार्गों से आनेवाले माल की माँग और खपत का विचार करे। वह माल के दामों की घटती-बढ़ती का विचार करके उनके बेचने, खरीदने, बाँटने और रखने की स्थितियों का निश्चय करता था। दूर-दूर तक बटे हुए माल का वह संग्रह करता था और उनकी कीमत निश्चित करता था। राजा के कारखानों में बने माल को वह एक जगह रखता था; पर आयात में आई हुई वस्तुओं को वह भिन्न-भिन्न बाजारों में बाँट देता था। ये सब माल लोगों को सहूलियत के दामों पर मिल सकते थे। व्यापारियों को गहरे मुनाफे की मनाही थी। साधारण व्यवहार की चीजों की एकस्विता (monopoly) की मनाही थी।

विदेशी माल मँगानेवालों को पण्याध्यक्ष उत्साह देता था। नावों पर माल लादनेवालों (नाविकों) और विदेशी माल लानेवालों के कर माफ कर दिये जाते थे जिससे उन्हें अपने माल पर कुछ फायदा मिल सके। विदेशी व्यापारियों पर अदालत में कर्ज के लिए दावे नहीं हो सकते थे, पर किसी श्रेणी का सदस्य होने पर उनपर दावे हो सकते थे।

ऐसा मालूम पड़ता है कि राजा के कारखानों में बने माल विदेश भेजे जाते थे। ऐसे माल पर का लाभ खर्च, चुंगी, सड़क-महसूल (वर्तनी), गाड़ी का कर (अतिवाहिक), फौजी पड़ावों का कर (गुल्मदेय), घाट उतारने का महसूल (तरदेय), व्यापारियों और उसके साथियों के भत्ते (भक्त)

---

१ वही, पृ० १०४—१०६

तथा विदेशी राजा को उपहारस्वरूप देय माल का एक भाग इन सबकी गणना करके निश्चय किया जाता था।

अगर विदेशों में नगद दाम पर देशी माल बिकने पर फायदे की संभावना नहीं होती थी तो पण्याध्यक्ष को इस बात का निश्चय करना पड़ता था कि वस्तु-विनिमय से अधिक फायदे की संभावना है कि नहीं। वस्तु-विनिमय के निश्चय कर लेने पर कीमती माल का एक चौथाई हिस्सा स्थल-मार्ग से विदेशों को रवाना कर दिया जाता था। माल पर ज्यादा फायदे के लिए विदेशों में गये हुए व्यापारियों का यह कर्त्तव्य होता था कि वे विदेशों में जंगल के रक्षकों और जिलेदारों के साथ दोस्ती बढ़ावें। अपनी तथा माल की सुरक्षा के लिए ऐसा आवश्यक था। अगर वे इच्छित बाजार तक नहीं पहुँच सकते थे तो किसी बाजार में, बिना किसी कर के (सर्वदेय-विशुद्ध) अपना माल बेच दे सकते थे। नदी-मार्ग से भी वे माल ले जा सकते थे, पर नदी का रास्ता लेने के पहले उन्हें ढुलाई का खर्च (यानभागक), रास्ते के भत्ते (पथ-दान), विनिमय में मिलनेवाले विदेशी माल का दाम, नाव का यात्रा-काल तथा बाजारी शहरों (पण्यपत्तन) के व्यवहार (चरित्र) की जाँच-पड़ताल कर लेनी होती थी। नदियों पर बसे व्यापारी शहरों के बाजार-भाव दरियाफ्त करने के बाद अपना माल उस बाजार में बेच सकते थे, जिसमें अधिक लाभ मिलने की संभावना होती थी।

राजा के कारखानों में बने माल की मिकदार और किस्म की जाँच के लिए व्यापारियों के वेष में गुप्तचरों की नियुक्ति होती थी।[1] ये गुप्तचर राजा के कारखानों, खेतों और खदानों से निकले हुए माल की पूरे तौर से जाँच-पड़ताल करते थे। वे विदेशों में लगनेवाले शुल्क की दरों, तरह-तरह के सड़क-करों, भत्तों, घाट उतरने के महसूलों, माल ढोने की दरों (पण्ययान) इत्यादि की जाँच-पड़ताल करते थे जिससे राजा के एजेंट उसे धोखा न दे सकें। राजा के माल बेचने में इतनी चौकसी से यह पता चल जाता है कि मौर्य-काल में राजा पूरा बनिया होता था और उसे ठग लेना, कोई मामूली बात नहीं थी।

शहर में यात्रियों के ठहरने के लिए, कौटिल्य के अनुसार धर्मावसथ—धर्मशालाएँ होती थीं।[2] इन धर्मशालाओं के प्रबन्धकों के लिए यह आवश्यक था कि वे नगर के अधिकारी को व्यापारियों और पाखण्डियों के आने की सूचना दें। यन्त्रकार (कारुकार) और कारीगर अपनी कर्मशालाओं में केवल अपने रिश्तेदारों को ठहरा सकते थे। उसी तरह व्यापारी भी अपनी दुकानों और कोठियों में विश्वासपात्र लोगों को ही ठहरा सकते थे। फिर भी, नगर के अधिकारी को इसकी सूचना देना आवश्यक था। यह तन्देही इसलिए आवश्यक थी कि व्यापारी अपना माल असमय में और निश्चित जगह के बाहर न बेच सकें, न अविहित वस्तुओं का व्यापार कर सकें।

मौर्य-युग में व्यापारियों के अतिरिक्त यात्रियों को भी अपनी जवाबदेही का पूरा ज्ञान होता था।[3] नगर, मन्दिर, यात्रास्थल, वन, श्मशान, जहाँ कहीं भी वे घायल, शस्त्रों से सुसज्जित, भार ढोने से थके, सोते अथवा देश न जानेवाले लोगों को देखते थे, उनका कर्त्तव्य होता था कि वे उन्हें राजकर्मचारियों के सुपुर्द कर दें।

---

१ वही, पृ० १२१ से

२ वही, पृ० १६१

३ वही, पृ० १६१

हम पहले देख आये हैं कि, बुद्ध के पूर्व, भारत में भी श्रेणियाँ थीं; पर उनमें सहकार की भावना अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्य-युग में श्रेणियाँ पूरी तरह से विकसित हो चुकी थीं। व्यापारी और काम करनेवाले, दोनों ही श्रेणीबद्ध (संघभृता) हो चुके थे। काम और वेतन-सम्बन्धी कुछ नियम थे जिन्हें न माननेवालों को कड़ी सजा दी जाती थी।[1]

कारबार चलाने के लिए कर्ज की अच्छी व्यवस्था थी, पर सूद की दर बहुत ऊँची थी।[2] साधारणतः १५ प्रतिशत सूद की दर विहित थी, पर कभी-कभी वह ६० प्रतिशत तक भी पहुँच जाती थी। जंगलों में सफर करनेवाले व्यापारियों को १२० प्रतिशत सूद भरना पड़ता था। समुद्री व्यापारियों के लिए तो सूद की दर २४० प्रतिशत तक पहुँच जाती थी। लगता है, उस समय के महाजनों का मूलमन्त्र था 'गहरा जोखिम, गहरा मुनाफा।'

राज्य के कल्याण के लिए महाजन (धनिक) और असामी (धारणिक) का सम्बन्ध निश्चित कर दिया गया था। अनाज पर सूद की रकम ५० प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती थी। प्रक्षेपों अर्थात् रेहन की चीजों पर का सूद साल के अन्त में मुनाफे का आधा होता था। इन नियमों को न माननेवाले दण्ड के भागी होते थे।

लोग महाजनों के यहाँ धन जमा करते थे। जमा की हुई रकम को उपनिधि कहते थे। इस रकम पर के सूद की दर भी साधारण व्यवसाय के सूद की दर की तरह होती थी। जंगलियों, पशुओं, शत्रु-सेना, बाढ़, आग और जहाज डूबने से व्यापारियों को क्षति पहुँचने पर वे कर्ज से बेबाक समझे जाते थे और अदालत में उसके लिए उनपर कोई दावा नहीं कर सकता था।[3]

रेहन रखे माल की सुरक्षा के लिए और भी बहुत-से कानून थे। अपने फायदे के लिए महाजन रेहन का माल बेच नहीं सकता था। ऐसा करने पर उसे हरजाना भरना पड़ता था और उसे जुर्माना भी होता था। पर महाजन के स्वयं आर्थिक कष्ट में होने पर उसपर रेहन के माल के लिए दावा दायर नहीं हो सकता था; किन्तु गिरवी माल के बेचने, खोने अथवा दूसरे के यहाँ रेहन रख देने पर महाजन को उस माल के दाम का पँचगुना दण्ड भरना पड़ता था।

व्यापारियों द्वारा रात में अथवा जंगल में चुपके-चुपके किया हुआ इकरारनामा कानून की नजर में मान्य नहीं होता था। पर जिन व्यापारियों का अधिक समय जंगलों में ही बीतता था, उनके इकरारनामे मान्य समझे जाते थे। श्रेणि के सभ्य, अकेले में भी, आपस में इकरारनामे कर सकते थे।[4] अगर कोई व्यापारी दूत के हाथ कोई माल भेजता था तो उस माल के लुट जाने पर, अथवा दूत की मृत्यु हो जाने पर, वह व्यापारी हरजाना पाने का अधिकारी नहीं होता था।[5]

---

१ वही, पृ० २०१-२१०
२ वही, पृ० १९७
३ वही, पृ० २०१ से, मनुस्मृति, ८।१८१
४ वही, पृ० १९८
५ वही, पृ० २०३

बूढ़े अथवा बीमार व्यापारी घने जंगलों में अथवा जहाजों पर यात्रा करते समय अपने माल पर मुहर लगाकर और उसे किसी व्यापारी को सुपुर्द करके शान्ति लाभ करते थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर ये व्यापारी, जिनके पास उनकी धरोहर होती थी, उनके बेटों अथवा भाइयों को खबर भिजवा देते थे और वे उनसे मुद्रित धरोहर ले लेते थे।[1] धरोहर न लौटाने पर उनकी साख जाती रहती थी, उन्हें चोरी के अपराध में राजदण्ड मिलता था और तब, झख मारकर, धरोहर भी लौटानी पड़ती थी।

व्यापारियों को माल के क्रय-विक्रय-सम्बन्धी कुछ नियमों का भी पालन करना पड़ता था[2]। बेचे हुए माल की पहुँच न देने पर बेचनेवाले को बारह पण दण्ड में भरना पड़ता था। बेचने और पहुँच के बीच में माल के खराब होने पर उसे कोई दण्ड नहीं लगता था। माल के बनाने की खराबी को पण्यदोष कहते थे। राजा द्वारा जब्त तथा आग अथवा पूर से खराब माल, रद्दी माल और बीमार मजदूरों द्वारा बनाये गये माल की बिक्री की मनाही थी।

माल की पहुँच देने का समय साधारण व्यापारियों के लिए चौबीस घंटे, किसानों के लिए तीन दिन, गोपालकों के लिए पाँच दिन, और कीमती माल के लिए सात दिन होता था। खराब होनेवाली वस्तुओं की बिक्री के लिए, उसी तरह की खराब न होनेवाली वस्तुओं की बिक्री रोक दी जाती थी। इस नियम को न माननेवाले दण्ड के भागी होते थे। बिक्री किया हुआ कोई माल, सिवाय इसके कि उसमें खराबी हो, नहीं लौटाया जा सकता था।

व्यापार की उन्नति के लिए कारीगरों और व्यापारियों का नियमन आवश्यक था। ऐसा पता चलता है कि कारीगरों की श्रेणियाँ कुछ रकम अपना भला चाहनेवालों और नक्काशों के पास जमा कर देती थीं ताकि वह रकम जरूरत पड़ने पर उन्हें लौटाई जा सके। कारीगरों को अपने इकरारनामों की शर्तों के अनुसार काम करना पड़ता था। शर्तें पूरी न करने पर उनके वेतन का एक चौथाई भाग काट लिया जाता था और वेतन का दुगुना उन्हें दण्ड भरना पड़ता था। कारीगरों के विपत्ति में पड़ जाने पर यह नियम लागू नहीं होता था। मालिक की आज्ञा बिना माल तैयार करने पर भी उन्हें दण्ड लगता था।[3]

व्यापारियों की चालबाजियों से लोगों को बचाने के लिए भी नियम थे।[4] पण्याध्यक्ष जाँच-पड़ताल के बाद ही पुराना माल बेचने की आज्ञा देता था। तौल और नाप ठीक न होने पर व्यापारियों को दण्ड मिलता था। अच्छे माल की जगह खराब माल गिरों रखने पर अथवा माल बदल देने पर गहरी सजा मिलती थी। वे व्यापारी, जो अपने फायदे के लिए कारीगरों द्वारा लाये गये माल का दाम कम कूतते थे अथवा उनकी बिक्री में बाधा डालते थे, सजा के भागी होते थे। जो व्यापारी दल बाँधकर माल की खरीद-बिक्री में बाधा डालते थे अथवा नियत दाम से अधिक माँगते थे, उन्हें भी सजा मिलती थी।

दलालों की दलाली की रकम उनके द्वारा बिके हुए माल को देखकर निर्धारित की जाती थी। बेचने अथवा खरीदनेवालों को ठगने पर दलालों को सजा मिलती थी।

---

१ वही, पृ० २०४
२ वही, पृ० २११
३ वही, पृ० २२७-२२८
४ वही, पृ० २१२ से

नियत मूल्य पर माल न विकने पर पण्याध्यक्ष उसकी कीमत बदल सकता था। माल की खपत पर रोक होने पर भी दाम बदले जा सकते थे। कभी माल भर जाने पर आपस में चढ़ा-ऊपरी रोकने के लिए पण्याध्यक्ष उसे एक ही जगह से वेचने का प्रबन्ध करता था। खर्च देखकर ही माल का मूल्य निर्धारित किया जाता था।

संकट के समय राजा नये-नये कर लगाता था जिसका अधिक भार व्यापारियों पर पड़ता था। उस समय सोना, चाँदी, हीरा, मोती, मूँगा, घोड़े और हाथी के व्यापारियों में से प्रत्येक को ५०० पण देना पड़ता था। सूत, कपड़ा, धातु, चन्दन तथा शराब के व्यापारियों में से प्रत्येक को ४०० पण देना पड़ता था। चना, तेल, लोहा और गाड़ी के व्यापारियों को ३०० पण भरना पड़ता था। काँच वेचनेवालों और पहले दर्जे के कारीगरों में से प्रत्येक को १०० पण भरना पड़ता था। वेचारी वेश्याओं और नटों को तो अपनी आधी आमदनी ही निकालनी पड़ती थी। पर सबसे अधिक आफत सोनारों के सिर पड़ती थी। काले वाजार का उन्हें सबसे बड़ा धनिक समझकर, उनकी पूरी जायदाद ही जब्त कर ली जाती थी।[१]

उपर्युक्त कर तो कानून से जायज थे, पर राजा कभी-कभी खजाना भरने के लिए अवैध उपायों का भी आश्रय लेता था। कभी-कभी वह व्यापारी के छद्मवेश में अपने गुप्तचर को किसी व्यापारी का भागीदार बनाता था। काफी माल जमा करने के बाद वह गुप्तचर अपने लुट जाने की खबर उड़ा देता था। और इस तरह जासूस भागीदार की रकम राजा के खजाने में पहुँच जाती थी। कभी-कभी गुप्तचर अपने को एक रईस व्यापारी कहकर दूसरों का सोना, चाँदी और कीमती माल इकट्ठा करता, फिर वहाना करके, ले-देकर चम्पत हो जाता था।[२] व्यापारियों का वेष धरकर राजा अपने गुप्तचरों द्वारा और भी बहुत-से गन्दे काम करवाता था। वह उन्हें अपनी फौज को कूच के पहले डेरे में भेज देता था। वहाँ वे, जितने माल की दरकार होती थी उसका दूना, राजा का माल वेचकर और बाद में दाम वसूलने का वादा करते थे। इस तरह जरूरत से अधिक राजा का माल निकल जाता था।[३]

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि मौर्ययुग में व्यापार की क्या हालत थी। व्यापार केवल व्यापारियों के हाथ में नहीं था, राजा भी उसमें हाथ बटाता था। राजकर्मचारियों का यह कर्तव्य होता था कि उनके मालिक का अधिक-से-अधिक फायदा हो। घोड़े, हाथी, खालें, समूर, कपड़े, गन्ध-द्रव्य, रत्न इत्यादि उस समय के व्यापार में मुख्य थे।

अर्थशास्त्र में चमड़े और समूरों की एक लम्बी तालिका दी हुई है।[४] ये चमड़े और समूर अधिकतर उत्तर-पश्चिमी भारत, पूर्वी अफगानिस्तान और मध्य-एशिया से आते थे। इनमें से बहुत-से नाम स्थानवाची हैं, पर उनकी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकती। कान्तानाव, अरोह (रोह, काबुल के पास), वलख और चीन से ही मुख्य करके चमड़े और समूर आते थे।

तरह-तरह की विनकारी और सुईकारी के कामवाली शालें शायद कश्मीर अथवा पंजाब से आती थीं। नेपाल से ऊनी कपड़े आते थे।

---

१ वही, पृ० २७२

२ वही, पृ० २७५

३ वही, पृ० २७८

४ वही, पृ० ८१ से

बंगाल, पौंड्र और सुवर्णकुड्या दुकूल के लिए मशहूर थे, तो काशी और पौंड्र क्षौम के लिए। मगध, पौंड्र और सुवर्णभूमि की पटोरें (पत्रोर्ण) बहुत अच्छी होती थीं।

चीन से काफी रेशमी कपड़े आते थे। सूती कपड़ों के मुख्य केन्द्र मथुरा, काशी, अपरान्त (कोंकण), कलिंग, बंगाल, वंश (कौशाम्बी) और माहिष्मती (महेसर, मध्यभारत, खण्डवा के पास) थे।[१]

अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्ययुग में रत्नों का व्यापार खूब चलता था। बहुत-से रत्न और उपरत्न भारत के कोने-कोने से आते थे और बहुत-से विदेशों से। मोती सिंहल, पाण्ड्य, पाश (शायद ईरान), कुल और चूर्ण (शायद मुरचिपत्तन के पास) तथा बर्बर के समुद्रतट से आते थे।[२] उपर्युक्त देशों की तालिका से पता चलता है कि मोती मनार की खाड़ी, फारस की खाड़ी और सोमाली देश के समुद्रतट से आते थे। मुरचि के उल्लेख से यह पता चलता है कि मुरचि का प्राचीन बन्दरगाह भी मोती के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

कीमती रत्न कूट, मूल (बलूचिस्तान में मूला दर्रा) और पार-समुद्र जिनसे शायद सिंहल का मतलब है, आते थे।[३] मूला के आस-पास कोई रत्न नहीं मिलता, पर शायद प्राचीनकाल में बलूचिस्तान से होकर ईरानी रत्नों के भारत आने के कारण मूला भी रत्नों के लिए प्रसिद्ध माना जाने लगा था। सिंहल तो रत्नों का घर है ही।

मानिक और लाल का नाम भी अर्थशास्त्र में है,[४] पर उनके उद्गमस्थानों का अर्थशास्त्र में उल्लेख नहीं है। शायद ये रत्न पूर्वी अफगानिस्तान, सिंहल और बर्मा से आते थे।

बिल्लौर विन्ध्यपर्वत और मालाबार से आता था।[५] अर्थशास्त्र में उसके कई भेद दिये गये हैं जिनकी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकती। नीलम और जमुनियाँ लंका से आते थे।[६]

अच्छे हीरे सभाराष्ट्र (बरार), मध्यमराष्ट्र (मध्यप्रदेश, दक्षिणकोसल), काश्मक (अश्मक—शायद यहाँ गोलकुण्डा की हीरे की खदान से मतलब है) और कलिंग से आते थे।[७]

आलकन्दक नामक मूँगा सिकन्दरिया से आता था। सम्भव है कि यह नाम, जिसका प्रयोग बाद के समय का द्योतक है, अर्थशास्त्र में बाद में आया हो। पर हम श्री सिलवाँ लेवी[८] की यह राय, कि इस शब्द के आने से ही अर्थशास्त्र बाद का सिद्ध होता है, मानने में असमर्थ हैं।

अर्थशास्त्र से हमको यह भी पता चलता है कि इस देश में, मौर्य-युग में गन्ध-द्रव्यों की बड़ी माँग थी। चन्दन की अनेक किस्में दक्षिण-भारत, जावा, सुमात्रा, तिमोर और मलयएशिया

---

१ वही, पृ० ८३
२ वही, पृ० ७५-७६
३ वही, पृ० ७७
४ वही, पृ० ७७
५ वही, पृ० ७७
६ वही, पृ० ७८
७ वही, पृ० ७८
८ मेमोरियल सिलवाँ लेवी, पृ० ११६ से

तथा आसाम से आती थीं।[1] अगर की लकड़ी आसाम, मलयएशिया, हिन्द-चीन और जावा से आती थी।[2]

मौर्ययुग में भारत और उत्तरापथ से घोड़ों का बहुत बड़ा व्यापार चलता था। मध्यदेश में आनेवाले घोड़ों में कंबोज, (ताजकिस्तान), सिन्धु (मिआँवाली, पंजाब), वनायुज (वाना), बल्ख और सौवीर यानी सिन्ध के घोड़े प्रसिद्ध थे।[3]

---

१ जे० आई० एस० ओ० ए०, ८ (१८४०) पृ० ८६-८७

२ वही पृ० ८१

३ अर्थशास्त्र, पृ० १४८

पाँचवाँ अध्याय

महापथ पर व्यापारी, विजेता और बर्बर

(ई० पू० दूसरी सदी से ई० तीसरी सदी तक)

ई० पू० दूसरी सदी में महापथ पर फिर एक बड़ी घटना घटी और वह थी बलख के यूनानियों का पाटलिपुत्र पर धावा। जैसा हम कह चुके हैं, सिकन्दर के भारत से प्रस्थान करने के बाद मौर्यों का अभ्युदय हुआ। चन्द्रगुप्त से लेकर अशोक तक मौर्य भारत के अधिकांश भागों के राजा थे। उस युग में यूनानियों का भारतवर्ष के साथ सम्पर्क था। पर अशोक के बाद ही साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और देश कई भागों में बँट गया। देश की इस अवस्था से लाभ उठाकर बलख के राजा दिमित्र ने हिन्दूकुश को पार करके भारतवर्ष पर चढ़ाई कर दी। दिमित्र की चढ़ाई सिकन्दर की चढ़ाई से भिन्न थी। सिकन्दर ने तो केवल पच्छिमी पंजाब तक ही अपनी चढ़ाइयों को सीमित रखा, पर बलख के यूनानी तो भारत के हृदय में घुसते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गये। इस चढ़ाई का ठीक-ठीक समय तो निश्चित नहीं किया जा सकता, पर श्री टार्न की राय में, शायद यह चढ़ाई करीब ईसा-पूर्व १७५ में हुई होगी।[1]

हिन्दुस्तान की चढ़ाई में दिमित्र के साथ उसका प्रसिद्ध सेनापति मिलिन्द था। बलख से चलकर वह तक्षशिला पहुँचा और गन्धार को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रदेश में उसने पुष्करावती को अपनी राजधानी बनाया। आगे बढ़ने के पहले शायद उसने अपने पुत्र दिमित्र द्वितीय को उपरिशयेन और गन्धार का शासक नियुक्त किया, और उसने कापिशी में अपनी राजधानी बनाई। तक्षशिला को अधिकार में करने के बाद शायद दिमित्र की सेनाएँ दो रास्तों से आगे बढ़ीं। एक रास्ता तो वही था जो पंजाब से दिल्ली होकर पटना चला जाता था और दूसरा रास्ता सिन्धु नदी के साथ-साथ चलता हुआ उसके मुहाने तक जानेवाला रास्ता था। इन्हीं रास्तों का उपयोग करके दिमित्र, अपोलोडोटस और मिलिन्द ने पूरे उत्तर-भारत के विजय की ठान ली। श्री टार्न की राय में, एक रास्ते से मिलिन्द आगे बढ़ा और दूसरे रास्ते से अपोलोडोटस और दिमित्र आगे बढ़े। शायद दिमित्र ने सिन्धु नदी के रास्ते से आगे बढ़कर सिन्ध को फतह किया और वहाँ दत्तामित्री नाम की एक नगरी बसाई जो शायद ब्रह्मनाबाद के आस-पास कहीं रही होगी। लगता है, इसके आगे दिमित्र नहीं बढ़ा और सिन्ध का शासन अपोलोडोटस के हाथ में सुपुर्द करके वह बलख की ओर लौट गया।

मिलिन्द के दक्षिण-पश्चिम रास्ते से आगे बढ़ने का सबूत यूनानी और भारतीय साहित्य में मिलता है। मिलिन्द ने सबसे पहले साकल को दखल किया। वहाँ से, युगपुराण के अनुसार, यवनसेना मथुरा पहुँची और वहाँ से साकेत, प्रयाग और बनारस होते हुए वह पाटलिपुत्र पहुँच

---

1. डबल्यू डबल्यू टार्न, दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, पृ० १३३, केम्ब्रिज, १९३८

गई। यवनसेना का इस रास्ते से गुजरने का सबसे बड़ा सबूत हमें बनारस में राजघाट की खुदाइयों से मिली हुई कुछ मिट्टी की मुद्राओं से मिलता है। इन मुद्राओं पर यूनानी देवी-देवताओं और राजा के चेहरों की छापें हैं, कुछ मुद्राओं पर तो बलखी ऊँटों के भी चित्र हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि शायद मिलिन्द की सेना बनारस में ठहरी थी और यहीं से वह पाटलिपुत्र की ओर बढ़ी और उसे हस्तगत कर लिया।

अब हम मिलिन्द को पाटलिपुत्र में छोड़कर यह देखेंगे कि सिन्ध में अपोलोडोटस क्या कर रहा था। टार्न का अनुमान है कि सिन्ध से, जलमार्ग के द्वारा, अपोलोडोटस ने कच्छ और सुराष्ट्र पर अधिकार जमाया। पेरिप्लस के अनुसार, शायद अपोलोडोटस का राज्य भरुकच्छ तक पहुँच गया था। कम-से-कम ईसा की पहली शताब्दी तक, मिलिन्द के सिक्के वहाँ चलते थे। भरुकच्छ दखल कर लेने से उसे दो लाभ हुए एक तो भारत का एक बहुत बड़ा बन्दरगाह, जिसका पश्चिम के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, उसके हाथ में आ गया और दूसरा यह कि उसी जगह से वह उज्जैन, विदिशा, कौशाम्बी और पाटलिपुत्रवाली सड़क पर भी आरूढ़ हो गया। इसी रास्ते को पकड़कर उसने दक्षिण राजपूताने में मध्यमिका अथवा नगरी पर जो उज्जैन से ८० मील दूर पड़ती है, आक्रमण किया। यह भी सम्भव है कि उसने उज्जैन को भी दखल कर लिया हो।[1]

इस तरह हम देख सकते हैं कि दिमित्र ने तक्षशिला भरुकच्छ, उज्जैन और पाटलिपुत्र दखल करके प्राय उत्तर और पश्चिम भारत की सम्पूर्ण पथ-पद्धति पर अधिकार कर लिया। श्री टार्न[1] का अनुमान है कि शायद वह तक्षशिला में बैठकर अपोलोडोटस और मिलिन्द को उज्जैन और पाटलिपुत्र का शासक बनाकर सारे भारतवर्ष पर शासन करना चाहता था। पर मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। दिमित्र कुछ ही वर्षों तक सीर दरिया से खम्भात की खाड़ी तक और ईरानी रेगिस्तान से पाटलिपुत्र तक का राजा बना रह सका। उसके राज्य में अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पूरा रूसी तुर्किस्तान तथा भारत में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, दक्खिनी कश्मीर के साथ पंजाब, युक्तप्रदेश का अधिक भाग, बिहार का कुछ भाग, सिन्ध, कच्छ, काठियावाड़, उत्तरी गुजरात तथा मालवा और दक्खिन राजपूताने के कुछ भाग थे। पर यह विशाल साम्राज्य शायद दस बरस भी टिक नहीं सका और बलख में युकातीद के आक्रमण के कारण वह करीब १६७ ई० पू० में नष्ट हो गया। फिर भी बलख और पंजाब में यूनानियों का प्रभाव ई० पू० तीस तक जारी रहा।

अभाग्यवश, हम भारतीय यूनानियों के बारे में, सिवाय उनके सिक्कों के बहुत कम जानते हैं। हम केवल यही सोच सकते हैं कि महापथ के उत्तर-पश्चिमी भाग में निम्नलिखित राज्य थे—मर्ग और बदख्शाँ के साथ बलख, हिन्दूकुश के दक्षिण में स्थित कपिश, उपरिशयेन से अलग किया हुआ नीचा मैदान, जो पहले सिकन्दर द्वारा नगरहार और पुष्करावती के जिलों से जोड़ दिया गया था। बाद में अरखोसिया से सिन्ध की दाईं ओर तक्षशिला और साकल दो बड़ी-बड़ी राजधानियाँ थीं। मुद्राशास्त्रियों का यह कर्तव्य है कि वे भारतीय यूनानी सिक्कों के लक्षणों, प्राप्ति के स्थानों इत्यादि का अध्ययन करके यह निश्चय करें कि कौन-सा यूनानी राजा किस प्रदेश में राज्य करता था।

---

[1] वही, पृष्ठ १४२

ई० पू० दूसरी सदी में, स्त्राबो[1] के अनुसार, हेरात से भारतीय सीमा के लिए तीन रास्ते चलते थे। एक रास्ता दाहिनी ओर जाता हुआ बलख पहुँचता था और वहाँ से हिन्दूकुश होता हुआ उपरिशयेन में ओर्तोस्पन में पहुँचता था जहाँ बलख से आनेवाले रास्ते की दूसरी शाखाएँ मिलती थीं। दूसरा रास्ता हेरात के दक्खिन जाते हुए द्रंग में प्रोफथासिया की ओर जाता था और तीसरा रास्ता पहाड़ों में होकर भारत और सिन्धु नदी की ओर जाता था। अगर टॉल्मी के ओर्तोस्पन (संस्कृत ऊर्ध्वस्थानम्) की पहचान काबुल प्रदेश से ठीक है तो यह रास्ता कोहिस्तान को जाता था। श्री फूशे[2] की राय है कि कबुर और ओर्तोस्पन दोनों ही काबुल के नाम थे और शायद ओर्तोस्पन काबुल के अगल-बगल कहीं बसा था।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं, दिमित्र की मृत्यु के बाद ही भारत पर बलख का आधिपत्य समाप्त हो गया, पर भारत में उसके बाद भी उसका प्रसिद्ध सेनापति मिलिन्द बच गया था। इसके राज्य के बारे में हमें उसके सिक्कों से तथा मिलिन्द-प्रश्न से कुछ पता लगता है। शायद उसकी मृत्यु १५० और १४५ ई० पू० के बीच हुई।

प्राय यह माना जाता है कि मिलिन्द का साम्राज्य मथुरा से भरुकच्छ तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र छोड़ने के साथ ही उसे दोआब छोड़ देना पड़ा। उसके हटते ही पाटलिपुत्र और साकेत पर शुंगों का अधिकार हो गया। लगता है, मथुरा के दक्खिन, चम्बल नदी पर मिलिन्द की राज्य - सीमा थी। उत्तर में मिलिन्द के अधिकार में उपरिशयेन था। गन्धार भी उसके अधिकार में था। दक्खिन-पश्चिम में उसका अधिकार भरुकच्छ तक पहुँचता था।

श्री टार्न[3] ने, टॉल्मी के आधार पर, भारत में यूनानियों के सूबों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। सिन्धप्रदेश में पाताल नाम का सूबा था (७।१।५५)। पाताल के उत्तर में अबीरिया, यानी आभीरदेश पड़ता था और उसके दक्खिन में सुराष्ट्र। शायद सुराष्ट्र में उस काल में गुजरात का भी कुछ भाग शामिल था। पाताल और सुराष्ट्र के बीच में कच्छ पड़ता था। शायद उस समय कच्छ के साथ सिन्ध का भी कुछ भाग आ जाता था। टॉल्मी का आभीर-प्रदेश मध्य-सिन्ध का द्योतक था। उत्तरी सिन्ध का नाम शायद, प्लिनी के अनुसार (६,७१), प्रसियेन था। इस तरह हम देख सकते हैं कि पंजाब के दक्खिन में यूनानियों के पाँच सूबे थे जिनकी सीमाएँ आधुनिक सीमाओं से बहुत-कुछ मिलती थीं। उत्तर से दक्खिन तक उनके नाम इस तरह थे—प्रसियेन (Prasiane), अबीरिया (Abiria), पातालेन (Patalene), कच्छ और सुराष्ट्रेन (Surastrene)।

एक दूसरे टुकड़े में (८।१।४२) गंधार के दो सूबों—सुआस्तेन (Souastene) और गोरुऐया (Goruaia)—के नाम हैं। सुआस्तेन से शायद निचले अथवा मध्य स्वात का मतलब है। गोरुऐया निचले स्वात और कुनार के बीच का प्रदेश रहा होगा जिसे हम बाजौर कहते हैं। पुष्कलावती जिसे एरियन (इंडिका, १।८) पिउकेलाइटिस (Peucelaitis) कहता था, गन्धार का एक तीसरा सूबा था। बुनेर और पेशावर के सूबों का नाम नहीं मिलता, पर शायद इनमें एक का नाम गान्दराइट्स (Gandarits) था।

---

१. स्त्राबो, १२।१।८—९

२. फूशे, वही, भा० २, पृ० २१३—१४

३. टार्न, वही, पृ० २३२ से

परिसिन्धु के पूर्व के यूनानी सूबों के बारे में कम पता चलता है। एक जगह टल्मी (७।४२) झेलम के पूरब दो सूबों का नाम देता है—कस्पाइरिया (Kaspeiria) जिसकी पहचान दक्षिण कश्मीर से की जाती है, और कुलिंद्रैन (Kulindrene) जिसका शायद शिवालिक से तात्पर्य है। इसके बाद के यूनानी सूबों का पता नहीं लगता। उस काल के गणराज्यों में औदुम्बरों का जो गुरदासपुर और होशियारपुर के रहनेवाले थे और जिनका केन्द्र-बिन्दु शायद पठानकोट था, एक विशेष स्थान था। उनके दक्खिन में, जलन्धर में त्रिगर्त रहते थे और उनके पूरब में सतलज और यमुना के बीच कहीं कुणिन्द रहते थे। पूर्वी पंजाब में यौधेय रहते थे तथा दिल्ली और आगरे के बीच में शायद आर्जुनायन।

मिलिन्द के बाद ही, यूनानियों का राज्य भारत से बहुत-कुछ हट गया। उनके राज्य को दूसरा धक्का लगने का कारण वे बर्बर जातियाँ भी थीं जो बहुत प्राचीन काल से बलख के उत्तर के प्रदेश में अपना अधिकार जमाये हुई थीं और जो समय-समय पर अपने रईस पड़ोसियों पर धावे मारा करती थीं। अपोलोडोटस[1] से हमें पता लगता है कि, भारतीय यूनानियों द्वारा भारत पर आक्रमण होने के पहले भी, वे अपने पड़ोसी बर्बर जातियों को रोकने के लिए उनपर आक्रमण किया करते थे। इस बात में वे अपने पड़ोसी हखामनियों के पीछे चलनेवाले थे। ये हखामनी उत्तर और दक्खिन में अपने राज्य की रक्षा के लिए पामीर और कैस्पियन समुद्र के बीच में रहनेवाले बर्बरों को अपने वश में रखते थे। पर यह बन्दोबस्त बहुत दिनों तक शकों, तुषारों, हूणों, श्वेतहूणों और मंगोलों के रोकने में समर्थ नहीं हुआ। इन बर्बर जातियों के सिक्के पाये गये हैं, लेकिन, उनके इतिहास के लिए हमें चीनी इतिहास का सहारा लेना पड़ता है।

भारतीय साहित्य में शक और पह्लवों के नाम साथ-साथ आते हैं, क्योंकि उनके देश सटे थे और दोनों ही ईरानी नस्ल के थे, दोनों का धर्म भी एक ही था। ई० पू० १३५ के करीब, जब यू-ची शकों को बलख की ओर दबा रहे थे, वहाँ का राजा हेलिओकल (Heliocle) जो पह्लवों से तंग किया जा रहा था, अपने को बचाने के लिए वहाँ से हट गया। हटते हुए बलखी यूनानियों ने अपने पीछे के हिन्दूकुश-दर्रे को बन्द करा दिया और इस तरह वे कपिश और उत्तर-पश्चिमी भारत में एक सदी तक और बचे रह गये। इस दशा में आक्रमणकारियों को दक्खिन-पश्चिम का रास्ता पकड़कर हेरात की ओर जाना पड़ा जहाँ मित्रदाता द्वितीय (Mithradata II) की पह्ल-फौजों से उनकी मुठभेड़ हो गई।

इस घटना के पहले का इतिहास जानने के लिए हमें यू-ची और शकों की गति-विधि पर नजर डालना आवश्यक है। यू-ची पहले गोबी के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में कोंसू के दक्षिण-पश्चिम में रहते थे। ई० पू० दूसरी सदी के प्रथम पाद में, १७७-१७६ के बीच, उन्हें हूण राजा माओ-तुन से हार खानी पड़ी। हूणराज लाओ शाग के साथ (करीब १७४-१६० ई० पू०) लड़ाई में यू-चियों के राजा को अपनी जान भी गँवानी पड़ी। इस हार के कारण उन्हें अपनी मातृभूमि छोड़ देनी पड़ी। उनमें से कुछ तो एक दल में उत्तर-पूर्व की ओर रेक्टोफेन पर्वत (Richtofen Range) में चले गये और बाद में छोटे यू-ची कहलाये, पर यू-चियों का बड़ा दल पश्चिम की ओर बढ़ा और सई (शक) लोगों को तियेन-शान पर्वत के उत्तर में

---

1. स्त्राबो, ११।२।१६

हराया। उनसे हारकर कुछ शक तो दक्षिण की ओर चले गये और बाकी यू-ची लोगों में मिल जुल गये। पर इस विजय के बाद ही ता-यू-ची लोगों को वू-सुन कबीले से हारकर फिर आगे बढ़ना पड़ा और इस तरह वे बलख के पास पहुँच गये और उसके मालिक बन गये। पर शक दक्षिण की ओर बढ़ते गये और कि-पिन के मालिक बन बैठे। बलख की विजय का समय ई० पू० १२६ माना जाता है।

ता-युची के लोगों के आगे बढने का यह आधार हमें चीनी तथा यूनानी ऐतिहासिकों से मिलता है, पर भाग्यवश महाभारत के सभापर्व में कुछ ऐसे उल्लेख बच गये हैं जिनसे पता लगता है कि मध्य-एशिया की इस उथल-पुथल का भारतीयों को भी पता था। हम यहाँ पाठकों का ध्यान अर्जुन की दिग्विजय की ओर दिलाना चाहते हैं।[1] यहाँ उस दिग्विजय के उस भाग से हमारा सम्बन्ध है जहाँ वह दरदों के साथ काम्बोजों को जीतकर[2] उत्तर की ओर बढा और वहाँ बसनेवाले दस्युओं को जीतने के बाद लोह, परमकाम्बोज, उत्तर के ऋषिक और परम-ऋषिकों के साथ उसका घोर युद्ध हुआ। परम-ऋषिकों को जीतने के बाद उसे आठ बढ़िया घोड़े मिले। इसके बाद उसने हरे-भरे श्वेतपर्वत में आकर विश्राम किया।[3]

उपर्युक्त वर्णनों में हमें ऋषिकों और परम-ऋषिकों की भौगोलिक स्थिति के बारे में अच्छा पता मिलता है। पर उसकी जानकारी के लिए हमें अर्जुन के रास्ते की जाँच करनी होगी। बाह्लीकों (म० भा० २।२३।२१) के जीतने के बाद उसने दरदों और काम्बोजों को जीता। यहाँ काम्बोजों से तात्पर्य ताजकिस्तान की गलचा बोलनेवाली जातियों से है, और जैसा कि हमने एक दूसरी जगह बताने का प्रयत्न किया है,[4] यहाँ कम्बोज से मतलब ताजकिस्तान से है। उसकी राजधानी द्वारका थी जिसका पता हमें आधुनिक दरवाज से लगता है। बलख तक अर्जुन महापथ से गया होगा। बलख पार करके उसकी लड़ाई लोह, परम-काम्बोज, उत्तर-ऋषिक अथवा बड़े ऋषिक लोगों से हुई। श्री जयचन्द्र के अनुसार परम-काम्बोज जरफशाँ नदी के उद्गम पर रहनेवाले यागनोबी थे।[5] उन्हीं की खोजों के अनुसार, यहाँ ऋषिकों से तात्पर्य यू-ची लोगों से है।

ऋषिकों का यू-ची लोगों से सम्बन्ध दिखलाने का यह पहला प्रयत्न नहीं है। मध्य-एशिया के शकों की भाषा आर्षी थी और इसलिए उसका सम्बन्ध ऋषिकों से माना जा सकता है, पर इस मत से पेलियो[6] सहमत नहीं है। किन्तु हम आगे चलकर देखेंगे कि ऋषिक से आर्षी की व्युत्पत्ति यों ही नहीं टाली जा सकती।

---

१ जे० ई० फान लायसन, द लब्यू (Van Lohuz en-de Leew), दि 'सीदियन पीरियड', पृ० २३, लाइडेन, १९४९

२ महाभारत, २।२३।२५

३ म० भा० २।२४।२२-२७

४ मोतीचन्द्र, जियोग्राफिकल ऐण्ड एकनामिक स्टडीज इन महाभारत : उपायनपर्व, पृ० ४० से

५ जयचन्द्र, भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० ३११, वि० सं० १९८७

६ जूर्नाल आसियातीक, १९३४, पृ० २३

अपोलोडोरस के अनुसार (स्त्राबो, ११, ५११) बक्त्र जीननेवाली चार जातियाँ— असाइ (Asii), पसिआनि (Pasiani), तोखारि (Tochari) और सकरौली (Sacarauli)—थीं। ट्रोगस के अनुसार (ट्रोगस, प्रोलोग० ४१), वे जातियाँ केवल असिय.नि (Asiani) और सकरौची (Sacaraucae) थीं। इन शब्दों में श्री टार्न[1] असियाई को ही यू-ची का बोधक मानते हैं। प्लिनी को[2] आपा लोगों का पता था। असियानी असियाई का विशेषण रूप है।

इसी सम्बन्ध में हमें परम ऋषिकों का यूनानी पसियानी से सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। जिस तरह से असियाई का रूप असियानी था, उसी तरह पसियानी पसाइ (Pasii) अथवा पसि (Pasi) शब्द का विशेषण रूप होगा। यूनानी भौगोलिकों को प्रसाइ (Prasii) नामक जाति का पता भी था।

अब हमें देखना चाहिए कि महाभारत में ऋषिकों के बारे में क्या कहा गया है। आदिपर्व (म० भा०, १। ६१। ३०) में ऋषिकराज को चन्द्र और दिनि की सन्तान माना गया है। यहाँ हम प्रो० शार्पान्तियेर[3] की उस राय की ओर ध्यान दिला देना चाहते हैं जिसके अनुसार यू ची शब्द का अनुवाद 'चन्द्र कबीले' से हो सकता है। उद्योगपर्व (म० भा० ५।४।१५) में ऋषिकों का उल्लेख शक, पह्लव और कम्बोजों के साथ हुआ है। यह उल्लेखनीय बात है कि महाभारत के भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटवाले संस्करण में ऋषिक शब्द का प्राकृत रूप इषिक और इषी दिया हुआ है। एक दूसरी जगह (म० भा० २।२४।२५) परमार्षिक शब्द भी आया है। इससे पता चलता है कि महाभारत को संस्कृत ऋषिक, आर्षिक; प्राकृत इषिक और इषीक तथा संस्कृत परम ऋषिक और परमार्षिक का पता था।

हम ऊपर देख आये हैं कि यूनानियों को असियाई, असियानी तथा अर्षि का पता था। अब इस बात के मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि प्राकृत इषिक-इषीक ही यूनानी असियाई के पर्याय हैं तथा यूनानी अर्षि संस्कृत आर्षिक का रूप है। परम-ऋषिकों का इसी तरह यूनानी प्रसई और पसियानी से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। शायद ये यू-चियों के कोई कबीले रहे होंगे। उत्तर-ऋषिक से चीनी इतिहास के ता-युची का भास होता है।

सभापर्व (अध्याय ४७—४८) में शक, तुखार, कंक, चीन और हूण लोगों के नाम उसी तरतीब से आये हैं जिस तरतीब से चीनी इतिहासकारों ने उनके नाम दिये हैं। एक श्लोक (म० भा० २। ४७।१६) में चीन, हूण, शक और ओड्र आये हैं, एक दूसरे श्लोक (म० भा० २।४७।२६) में शक, तुखार और कंक साथ आये हैं तथा एक तीसरे श्लोक, (म० भा० २।४८।१२) में शौंडिक, कुक्कुर और शक एक साथ आये हैं।

हम ऊपर देख आये हैं कि यू-ची लोगों से खदेड़े जाकर शक किस तरह आगे बढ़ते हुए कि-पिन पहुँचे। इस कि-पिन की पहचान के बारे में काफी मतभेद है। श्री शावान के अनुसार, यह रास्ता यासीन की घाटी होकर कश्मीर पहुँचता था। श्री स्टेन कोनो के अनुसार (सी० आर०

---

१ टार्न, वही पृ० २८४

२ टार्न, वही, पृ० २८५

३ जेड० डी० एम० जी०, ७१, १९१७, पृ० ३६५

आई २, पृ० २३), कि पिन प्रदेश का यहां स्वात की घाटी से अभिप्राय है जो पश्चिम की ओर अरखोसिया तक बढ़ी हुई थी। जो भी हो, ऐसा लगता है कि यवनों द्वारा गतिरोध होने पर शकों ने हेरात का रास्ता पकड़ा। यही उस प्रदेश का प्राकृतिक मार्ग था और उसे छोड़कर उनका बोनोवाला रास्ता पकड़ना ठीक नहीं मालूम पड़ता।

तुखार भी, ऐसा लगता है, यू-ची की एक शाखा थे। कंक (म० भा० २। ४७। २६) की पहचान सुग्ध में रहनेवाले कांग्न्यू लोगों से की जा सकती है। उनपर, दक्षिण में, यू-ची लोगों का और पूर्व में, हूणों का प्रभाव था।

तायुयान (फरगना) में बसे शकों और कंकों के स्थान निश्चित हो जाते हैं; क्योंकि उनके प्रदेश सटे थे। तुखार शायद उनके दक्खिन में थे। इन बातों से यह निश्चित हो जाता है कि, सभापर्व में शक, तुखार और कंकों को साथ रखने से, भारतीयों को ई० पू० सदी में उनके ठीक-ठीक स्थान का पता था।

हम ऊपर कह आये हैं कि किस तरह मित्रदात द्वितीय (ई० पू० १२३-२८) और शकों की मुठभेड़ हो रही थी। गोकि वह शकों के रोकने में असमर्थ था, फिर भी, उसने उन्हें उत्तर-पूर्व में जाने से रोककर उन्हें द्रंग और सेइस्तान की तरफ जाने को मजबूर किया। वहाँ से कन्धार के रास्ते शक सिन्ध में पहुंचे। सिन्धु नदी के रास्ते से ऊपर बढ़कर उन्होंने गन्धार और तक्षशिला को जीत लिया और कुछ ही दिनों में भारत से यवनराज्य को उखाड़ फेंका।

शकों का सेईस्तान से होकर भारत आने का उल्लेख कालकाचार्य-कथानक में हुआ है। उस कहानी के अनुसार, उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल के अत्याचार से दुखी होकर कालकाचार्य शकस्थान पहुंचे। सिन्ध से वे शकों के साथ सुराष्ट्र पहुँचे और वहां से उज्जैन जाकर गर्दभिल्ल को हराया। भारतीय गणना के अनुसार, ई० पू० ५७ में विक्रमादित्य ने शकों को उज्जैन से निकाल-बाहर किया।

पश्चिम-भारत के एक भाग पर, ई० पू० पहली सदी में, शायद नहपान का राज्य था जिसे गौतमीपुत्र शातकर्णी ने हराया। पर ई० पू० ५७ के पहले शक मथुरा जीत चुके थे। मथुरा के शकों के उन्मूलन के दो कारण विदित होते हैं एक तो, पूर्व से भारतीयों की चढ़ाई, और दूसरे, पश्चिम में पह्लवों की चढ़ाई। वे उज्जैन तथा मथुरा से तथा कुछ दिनों बाद, सिन्ध से निकाल-बाहर कर दिये गये। पर यह कहना कठिन है कि ये घटनाएँ साथ ही घटीं अथवा अन्तर से।

जब भारत में उपर्युक्त घटनाएँ घट रही थीं, उस समय भी भारतीय यवन कपिश में थे जहाँ से सुग्ध और बलख की विजय कर लेने के बाद वे कुषाणों की निगाह में पड़े। सिक्कों से यह पता चलता है कि अन्तिम यवन हर्मियोस और कुजूल कदफिस ने मिलकर अपने उभय-सम-शत्रु शक-पह्लवों का सामना किया। इस असमान युद्ध में पह्लवों ने दक्षिण के रास्ते से आकर यवनों का खातमा कर दिया। शकों के विरुद्ध युद्ध करते हुए मित्रदात द्वितीय ने अरखोसिया ले लिया। उसके सामन्त सीरेन ने रोमनों के साथ युद्ध में अपने मालिक को फँसा देखकर बगावत कर दी और स्वतन्त्र हो गया। पर कुछ ही दिनों बाद उस प्रदेश में एक दूसरे पह्लव राजा वोनोनेज का उदय हुआ। उसने अरगन्दाब के रास्ते से कपिश पर चढ़ाई कर दी। सिक्कों और अभिलेखों से यह पता चलता है कि ईस्वी सदी के कुछ ही पहले हिन्दूकुश से मथुरा तक का प्रदेश

पहलव अथवा शक-पह्लव राजाओं अथवा उनके क्षत्रपों के अधिकार में था। पेरिप्लस के अनुसार, शक-पह्लवों का अधिकार सिन्धु नदी की घाटी और गुजरात के समुद्री किनारे पर भी था। ऐसा मालूम पड़ता है कि मउ (Maues) और वोनोनेज (Vonones) के देशों के एक होने के बाद गोन्दोफर्न (Gondophaines) ने पह्लवों की प्रभुता भारत के सीमान्तप्रदेश से लेकर ईरान, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान तक बढ़ाई।

शक-पह्लवों के बाद, उत्तर-पश्चिमी भारत कुषाणों के अधिकार में आ गया। उनकी पहचान चीनी इतिहास के ता-यूची और भारतीय पुराणों के तुखारों से की जाती है। मध्य एशिया में घूमने के बाद वे तुखारिस्तान (सुग्ध का कुछ भाग और बलख) में बस गये। जैसा हम पहले देख आये हैं, शायद तुखार ऋषिकों की एक शाखा थी जो शायद ऋषिकों के आगे बढ़ने पर नान-शान पर्वत में ठहर गई थी और जिन्हें चीनी इतिहासकार ता-यूची के नाम से जानते थे।

कुषाणों की गति-विधि एक दूसरे शक-आक्रमण के रूप में थी। कुजूलकदफिस द्वारा हिन्दूकुशवाला रास्ता पकड़ने के ये कारण हैं कि उस रास्ते में कोई रोक नहीं बच गई थी, यवनराज्य का पतन हो चुका था, केवल आपस में लड़ते-भिड़ते शक-पह्लव-राज्य बच गये थे। कुजूलकदफिस ने अपनी तलवार के जरिये या भारतीय शकों की मदद से कपिश और अरखोसिया को जीत लिया। अभिलेखों से पता चलता है कि ई० पू० २६ में कुजूल राजकुमार था और ई० पू० ७ में वह पंजतर का मालिक था। इसके मानी यह हुए कि इस समय तक कुषाणों ने पह्लवों से सिन्ध के पूर्व का प्रदेश ले लिया था। ईस्वी ७ में तक्षशिला उसके अधिकार में था। पर शायद कुषाणों की यह विजय पक्की नहीं थी, क्योंकि विम कदफिस के द्वारा पुन भारत-विजय का उल्लेख चीनी इतिहास में मिलता है। शायद कुजूल का राज्यकाल ई० पू० २५ में आरम्भ हुआ और ईसवी सन् के प्रथम पाद में समाप्त हो गया।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, विम कदफिस ने जिसका मध्य एशिया में राज्य था, सिन्धु प्रदेश जीत लिया, और जैसा श्री टॉमस का कहना है,[२] उसके बाद मथुरा उसके अधिकार में आ गया। सिक्कों के आधार पर तो विम का राज्य शायद पाटलिपुत्र तक फैला हुआ था।

विम कदफिस के बाद कुषाणों का दूसरा वंश शुरू होता है। इस वंश का सबसे प्रतापशाली राजा कनिष्क था। कनिष्क केवल एक विजेता ही नहीं था, बौद्धधर्म का बहुत बड़ा सेवक भी था। उसके समय में बौद्धधर्म की जितनी उन्नति और प्रचार हुआ उतना अशोक के बाद और कभी नहीं हुआ। श्री गिर्शमान[३] के अनुसार, उत्तरभारत में उसका राज्य पटना तक था। उज्जैन पर भी उसका अधिकार था। पश्चिमभारत में भरुकच्छ तक उसका राज्य फैला था। उत्तर-पश्चिम में पंजाब और कापिशी उसके अधिकार में थे। हिन्दूकुश के उत्तर में भी उसका राज्य बहुत दूर तक फैला था।

तारीम की दून में भी कनिष्क ने अपना अधिकार जमाया, और यह जरूरी भी था, क्योंकि इसी प्रदेश में वे दोनों मार्ग थे जो चीन को पश्चिम से जोड़ते थे और जिनपर होकर व्यापारी और उपदेशक बराबर चला करते थे। इस मार्ग पर फैले हुए छोटे-छोटे राजा अपने को कभी

---

१ फॉन लवो, वही, पृ० ३६१ से

२ न्यू इंडियन एंटिक्वेरी, ७, नं० ५६, १९४४

३ आरगिर्शमान, कुषान्स, पृ० १४५, पारी १९४६

संगठित नहीं कर पाते थे और आपस में बराबर लड़ा करते। कनिष्क के समय, इस प्रदेश पर दो शक्तियाँ आँख गड़ाये हुई थीं—पश्चिम में कुषाण और पूरब में चीन। उस समय चीन कमजोर पड़ रहा था और उसकी कमजोरी का लाभ उठाकर, कुषाण-सेना पूरब में पामीर के दर्रों पर आ पहुँची। उस युग में कनिष्क ने वहाँ भारतीय उपनिवेश बसाये और इस तरह, भारत के मालिक की हैसियत से, वे दोनों कौशेयपथों पर कब्जा कर बैठे।

अब यहाँ उस उत्तर प्रदेश की खोज करनी चाहिए जिसके लेने के लिए कनिष्क को बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। श्री गिर्शमान की राय में यह प्रदेश सुग्ध है जिसमें मध्यकाल तक कुषाणों की याद बच गई थी। काशगर से चलनेवाले उत्तरी कौशेयमार्ग पर सुग्ध तक कुषाणों ने बहुत-से वैसे ही उपनिवेश बनाये जैसे उन्होंने दक्षिनी रास्ते पर बनाये थे। सुग्ध में बौद्धधर्म भी शायद कनिष्क के पहले ही पहुच चुका था और उसका प्रचार मज्दी धर्म के साथ ही-साथ बेखटके हो रहा था। सुग्ध लोगों की सहनशीलता का परिचय हमें इसी बात से मिलता है कि उनके प्रदेश में व्यापार करनेवालों में सभी धर्म के माननेवाले थे, जैसे जर्थुस्त्री, बौद्ध, मनीखी, ईसाई इत्यादि। मज्दधर्म के पालन करनेवालों की इस सहनशीलता से उसमें बौद्धधर्म का भी समावेश हो गया।

सुग्ध में बौद्धधर्म के प्रवेश होने पर वहाँ की कला पर भी भारतीय कला का बड़ा असर पड़ा। तिरमिज़ के पास रूसियों द्वारा खुदाई करने से कई बौद्ध विहारों का पता लगा है जिनमें से कुछ पर मथुरा की कला का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। वहाँ खरोष्ठी लिपि का भी काफी प्रचार था।

ऐसा मालूम पड़ता है कि बहुत कोशिशों के बाद कनिष्क ने इस प्रदेश को भी जीत लिया और एक ऐसे साम्राज्य का मालिक बन बैठा जो उत्तर में पेशावर से लेकर बुखारा, समरकन्द और ताशकन्द तक फैला हुआ था। मर्व से खोतान और सारनाथ तक उसकी सीमा थी तथा वह सीर दरिया से ओमान के समुद्र तक फैला हुआ था। इतना बड़ा साम्राज्य प्राचीन काल में फिर देखने को नहीं मिला।

उस युग में कुषाणों और रोमन-साम्राज्य का सम्बन्ध काफी दृढ़ हुआ। कुषाणों के अधिकृत राजमार्गों से चलते हुए चीनी बर्तन, चीन के बने रेशमी कपड़े, हाथीदाँत, कीमती रत्न, मसाले तथा सूती कपड़े रोम को जाने लगे और रोमन-साम्राज्य का सोना कुषाण-साम्राज्य में आने लगा। कनिष्क के समय, भारत के धन का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कनिष्क से अधिक और किसी के सोने के सिक्के आज दिन भी भारत में नहीं मिलते।

ऐसा लगता है कि कनिष्क की शौकीन प्रजा रोमन माल की भी शौकीन थी। बेग्राम में हैकेँ की खुदाई से यह पता लगता है कि रोम से भी कुछ माल भारत और चीन को जाता था। कुषाण-अधिकृत सड़कों से रोम को जानेवाले माल का इतना अधिक दाम था कि रोम ने चीन से सीधा सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया। चीनी स्रोतों से ऐसा पता लगता है कि रोम के बादशाह मारकस औरेलियस ने दूसरी सदी के अन्त में समुद्री मार्ग से एक दूत को चीन भेजा। हम आगे चलकर देखेंगे कि भारत और रोम का व्यापार इस कुषाण-युग में कितना उन्नत हो चुका था।

कुषाणों का संचलन बहुत तरतीब से होता था। अपनी चढ़ाइयों में वे विजितों से उपायन लेकर भी उन्हें छोड़ देते थे। गुन्दुफर के राज्य के वे स्वामी बने, पर ऐसा पता लगता है कि विजित राज्य के क्षत्रपों और महाक्षत्रपों को उन्होंने ज्यों-का-त्यों रहने दिया, केवल राजा

में भी चलते थे। चोलमंडल में उपर्युक्त सिक्कों तथा रोमन सिक्कों के मिलने से इस बात का पता चलता है कि उस समय भारत का रोम के साथ कितना गहरा व्यापार चलता था।

यहाँ हमें सातवाहनकुल के बाद के इतिहास से मतलब नहीं है, पर ऐसा पता लगता है कि श्रीयज्ञ सातकर्णि के बाद सातवाहन-साम्राज्य बँट गया। तीसरी सदी के मध्य तक तो उसका अन्त हो गया तथा उसी से माइसोर के कदंब, महाराष्ट्र के आभीर और आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकुकुल निकले।

गुण्टूर जिले के पालनाड तालुक में कृष्णा नदी के दाहिने किनारे पर नागार्जुनी कोण्ड की पहाड़ियों पर बहुत-से प्राचीन अवशेष पाये गये हैं जिनसे पूर्व समुद्रतट पर इक्ष्वाकुकुल के दूसरी-तीसरी सदी के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। अभाग्यवश वहाँ से मिले अभिलेख तीन राजाओं यानी माढरिपुत सिरि-विरपुरिसदात, उनके पिता वासिठिपुत चातमूल और वीरपुरिसदात के पुत्र एहुवुल चातमूल के ही हैं। पर यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि अयोध्या के इक्ष्वाकुओं से सम्बन्ध जोड़ता हुआ एक राजवंश अपने स्थान से इतनी दूर आकर राज्य करता था। ऐसा पता चलता है कि आन्ध्रदेश के इन इक्ष्वाकुराजाओं की कुछ हस्ती थी; क्योंकि उनके विवाह-सम्बन्ध उत्तर कनारा के वनवास-राजकुल और उज्जयिनी के क्षत्रप-कुल में हुए थे।[1] ये राजे सहिष्णु थे, क्योंकि उनके स्वयं ब्राह्मण धर्म के अनुयायी होते हुए भी उनके घरों की स्त्रियाँ बौद्ध थीं।

माढरिपुत के चौदहवें वर्ष के एक लेख में सिंहलद्वीप के बौद्ध भिक्षुओं को एक चैत्य भेंट करने का उल्लेख है। लेख में यह भी कहा गया है कि सिंहल के इन बौद्ध भिक्षुओं ने कश्मीर, गंधार, चीन, चिलात (किरात), तोसलि, अवरन्त (अपरान्त), वंग, वनवासी, यवन, दमिल, (प)लुर और तम्बपंणि को बौद्धधर्म का अनुयायी बनाया। इनमें से कुछ देश, जैसे कश्मीर, गन्धार, वनवासी, अपरान्तक और योन तो तीसरी बौद्ध संगीति के बाद ही बौद्ध हो चुके थे। देशों की उपर्युक्त तालिका की तुलना हम मिलिन्दप्रश्न की वैसी ही दो तालिकाओं से कर सकते हैं।[2]

अभिलेख के चिलात—जिनका उल्लेख पेरिप्लस के लेखक और टालमी ने किया है—पेरिप्लस के अनुसार, उत्तर के वासी थे। टालमी उन्हें बंगाल की खाड़ी पर बताता है। महाभारत के अनुसार (म० भा० २।४८।८), उनका स्थान हिमालय की ढाल—समुद्र पर स्थित वारिष (वारीसाल) और ब्रह्मपुत्र—बतलाया गया है। इसके यह मानी हुए कि महाभारत में किरातों से तिब्बती-बरमी जाति से मतलब है। वे खाल पहनते थे तथा कन्द और फल पर गुजारा करते थे। युधिष्ठिर को उन्होंने उपायन में चमड़े, सोना, रत्न, चन्दन, अगर और दूसरे गन्ध-द्रव्य भेंट में दिये।

तोसलि कलिंग यानी उड़ीसा में था और हाथीदाँत के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। अपरान्त से कोंकण का, वंग से बंगाल का, वनवासी से उत्तर कनारा का, यवन से सिकन्दरिया का, (प)लुर से कलिंग की राजधानी दन्तपुर का और दमिल से तामिलनाड का मतलब है।

---

1 एपि० इं० २०, पृ० ६

2 मिलिन्दप्रश्न, पृ० ३२७ और ३५७

संगठित नहीं कर पाते थे और आपस में बराबर लड़ा करते। कनिष्क के समय, इस प्रदेश पर दो शक्तियाँ आँख गड़ाये हुई थीं—पश्चिम में कुषाण और पूरब में चीन। उस समय चीन कमजोर पड़ रहा था और उसकी कमजोरी का लाभ उठाकर, कुषाण सेना पूरब में पामीर के दर्रों पर आ पहुँची। उस युग में कनिष्क ने वहाँ भारतीय उपनिवेश बसाये और इस तरह, भारत के मालिक की हैसियत से, वे दोनों कौशेयपथों पर कब्जा कर बैठे।

अब यहाँ उस उत्तर प्रदेश की खोज करनी चाहिए जिसके लेने के लिए कनिष्क को बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। श्री गिर्शमान की राय में यह प्रदेश सुग्ध है जिसमें मध्यकाल तक कुषाणों की याद बच गई थी। काशगर से चलनेवाले उत्तरी कौशेयमार्ग पर सुग्ध तक कुषाणों ने बहुत-से वैसे ही उपनिवेश बनाये जैसे उन्होंने दक्खिनी रास्ते पर बनाये थे। सुग्ध में बौद्धधर्म भी शायद कनिष्क के पहले ही पहुँच चुका था और उसका प्रचार मज्दी धर्म के साथ ही-साथ बेखटके हो रहा था। सुग्ध लोगों की सहनशीलता का परिचय हमें इसी बात से मिलता है कि उनके प्रदेश में व्यापार करनेवालों में सभी धर्म के माननेवाले थे, जैसे जर्थुस्त्री, बौद्ध, मनीखी, ईसाई इत्यादि। मज्दधर्म के पालन करनेवालों की इस सहनशीलता से उसमें बौद्धधर्म का भी समावेश हो गया।

सुग्ध में बौद्धधर्म के प्रवेश होने पर वहाँ की कला पर भी भारतीय कला का बड़ा असर पड़ा। तिरमिज़ के पास रूसियों द्वारा खुदाई करने से कई बौद्ध विहारों का पता लगा है जिनमें से कुछ पर मथुरा की कला का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। वहाँ खरोष्ठी लिपि का भी काफी प्रचार था।

ऐसा मालूम पड़ता है कि बहुत कोशिशों के बाद कनिष्क ने इस प्रदेश को भी जीत लिया और एक ऐसे साम्राज्य का मालिक बन बैठा जो उत्तर में पेशावर से लेकर बुखारा, समरकन्द और ताशकन्द तक फैला हुआ था। मर्व से खोतान और सारनाथ तक उसकी सीमा थी तथा वह सीर दरिया से ओमान के समुद्र तक फैला हुआ था। इतना बड़ा साम्राज्य प्राचीन काल में फिर देखने को नहीं मिला।

उस युग में कुषाणों और रोमन-साम्राज्य का सम्बन्ध काफी दृढ़ हुआ। कुषाणों के अधिकृत राजमार्गों से चलते हुए चीनी बर्तन, चीन के बने रेशमी कपड़े, हाथीदाँत, कीमती रत्न, मसाले तथा सूती कपड़े रोम को जाने लगे और रोमन-साम्राज्य का सोना कुषाण-साम्राज्य में आने लगा। कनिष्क के समय, भारत के धन का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कनिष्क से अधिक और किसी के सोने के सिक्के आज दिन भी भारत में नहीं मिलते।

ऐसा लगता है कि कनिष्क की शौकीन प्रजा रोमन माल की भी शौकीन थी। बेग्राम में हैकें की खुदाई से यह पता लगता है कि रोम से भी कुछ माल भारत और चीन को जाता था। कुषाण-अधिकृत सड़कों से रोम को जानेवाले माल का इतना अधिक दाम था कि रोम ने चीन से सीधा सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया। चीनी लेखों से ऐसा पता लगता है कि रोम के बादशाह मारकस औरेलियस ने दूसरी सदी के अन्त में समुद्री मार्ग से एक दूत को चीन भेजा। हम आगे चलकर देखेंगे कि भारत और रोम का व्यापार इस कुषाण-युग में कितना उन्नत हो चुका था।

कुषाणों का संचालन बहुत तरतीब से होता था। अपनी चढ़ाइयों में वे विजितों से उपायन लेकर भी उन्हें छोड़ देते थे। गुन्दुफर के राज्य के वे स्वामी बने, पर ऐसा पता लगता है कि विजित राज्य के क्षत्रपों और महाक्षत्रपों को उन्होंने ज्यों-का-त्यों रहने दिया, केवल राजा

में भी चलते थे। चोलमंडल में उपर्युक्त सिक्कों तथा रोमन सिक्कों के मिलने से इस बात का पता चलता है कि उस समय भारत का रोम के साथ कितना गहरा व्यापार चलता था।

यहाँ हमें सातवाहनकुल के बाद के इतिहास से मतलब नहीं है, पर ऐसा पता लगता है कि श्रीयज्ञ सातकर्णि के बाद सातवाहन-साम्राज्य बँट गया। तीसरी सदी के मध्य तक तो उसका अन्त हो गया तथा उसी से माइसोर के कदंब, महाराष्ट्र के आभीर और आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकुकुल निकले।

गुण्टूर जिले के पालनाड तालुक में कृष्णा नदी के दाहिने किनारे पर नागार्जुनी कोण्ड की पहाड़ियों पर बहुत-से प्राचीन अवशेष पाये गये हैं जिनसे पूर्वी समुद्रतट पर इक्ष्वाकुकुल के दूसरी-तीसरी सदी के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। अभाग्यवश वहाँ से मिले अभिलेख तीन राजाओं यानी माढरिपुत सिरि-विरपुरिसदात, उनके पिता वासिठिपुत चातमूल और वीरपुरिसदात के पुत्र एहुवुल चातमूल के ही हैं। पर यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि अयोध्या के इक्ष्वाकुओं से सम्बन्ध जोड़ता हुआ एक राजवंश अपने स्थान से इतनी दूर आकर राज्य करता था। ऐसा पता चलता है कि आन्ध्रदेश के इन इक्ष्वाकुराजाओं की कुछ हस्ती थी; क्योंकि उनके विवाह-सम्बन्ध उत्तर कनारा के वनवास-राजकुल और उज्जयिनी के क्षत्रप-कुल में हुए थे।[1] ये राजे सहिष्णु थे, क्योंकि उनके स्वयं ब्राह्मणधर्म के अनुयायी होते हुए भी उनके घरों की स्त्रियाँ बौद्ध थीं।

माढरिपुत के चौदहवें वर्ष के एक लेख में सिंहलद्वीप के बौद्ध भिक्षुओं को एक चैत्य भेंट करने का उल्लेख है। लेख में यह भी कहा गया है कि सिंहल के इन बौद्ध भिक्षुओं ने कस्मीर, गंधार, चीन, चिलात (किरात), तोसलि, अवरन्त (अपरान्त), वंग, वनवासी, यवन, दमिल, (प)लुर और तम्बपंणि को बौद्धधर्म का अनुयायी बनाया। इनमें से कुछ देश, जैसे कस्मीर, गन्धार, वनवासी, अपरान्तक और योन तो तीसरी बौद्ध संगीति के बाद ही बौद्ध हो चुके थे। देशों की उपर्युक्त तालिका की तुलना हम मिलिन्दप्रश्न की वैसी ही दो तालिकाओं से कर सकते हैं।[2]

अभिलेख के चिलात—जिनका उल्लेख पेरिप्लस के लेखक और टालमी ने किया है—पेरिप्लस के अनुसार, उत्तर के वासी थे। टालमी उन्हें बंगाल की खाड़ी पर बताता है। महाभारत के अनुसार (म० भा० २।४६।८), उनका स्थान हिमालय की ढाल—समुद्र पर स्थित वारिष (वारीसाल) और ब्रह्मपुत्र—बतलाया गया है। इसके यह मानी हुए कि महाभारत में किरातों से तिब्बती-बरमी जाति से मतलब है। वे खाल पहनते थे तथा कन्द और फल पर गुजारा करते थे। युधिष्ठिर को उन्होंने उपायन में चमड़े, सोना, रत्न, चन्दन, अगर और दूसरे गन्ध-द्रव्य भेंट में दिये।

तोसलि कलिंग यानी उड़ीसा में था और हाथीदाँत के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। अपरान्त से कोंकण का, वंग से बंगाल का, वनवासी से उत्तर कनारा का, यवन से सिकन्दरिया का, (प)लुर से कलिंग की राजधानी दन्तपुर का और दमिल से तामिलनाड का मतलब है।

---

१ एपि० इंडि०, २०, पृ० १

२ मिलिन्दप्रश्न, पृ० ३२० और ३३७

उपर्युक्त अभिलेख में ही, कण्टकसेल के महाचैत्य के पूर्वी द्वार पर स्थित एक लेख का वर्णन है। निश्चयपूर्वक यह कण्टकसेल और टाल्मी का कण्टिकोस्सुल (Kantikossula) (७।१।१५) जिसका उल्लेख कृष्णा के मुहाने के ठीक बाद आता है, एक थे। डा० वोगेल ने इस कण्टकसेल को नागार्जुनी कोण्ड में रखा था; पर पूर्वी समुद्रतट पर कृष्णा जिले के घण्टा-साल नामक गाँव से प्राप्त करीब ३००ई० के पाँच प्राकृत लेख कण्टकसेल की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। एक लेख में महानाविक सिवक का उल्लेख होने से यह बात साफ हो जाती है कि ईसा की प्रारम्भिक सदियों में घण्टासाल एक बन्दरगाह था। दूसरे लेख में तो घण्टासाल का प्राचीन नाम कण्टकसोल दिया हुआ है[1]। उपर्युक्त बातों से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ईसा की आरम्भिक सदियों में कण्टकसोल कृष्णा नदी के दायें किनारे पर एक बड़ा बन्दरगाह था जिसका लंका के बन्दरों तथा दूसरे बन्दरों से व्यापारिक सम्बन्ध था।

टाल्मी के अनुसार (७।१।१६) पलुर एक एफेटेरियम (समुद्र-प्रस्थान) था जहाँ से सुवर्णद्वीप के लिए किनारा छोड़कर जहाजवाले समुद्र में चले जाते थे। पलुर की स्थिति की पहचान चिकाकोल और कलिंगपटनम् के पड़ोस में की जाती है।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी समुद्रतट पर बौद्धधर्म के ऐश्वर्य का कारण व्यापार था। बौद्धधर्म के अनुयायी अधिकतर व्यापारी थे और उन्हीं की मदद से अमरावती, नागार्जुनी कोण्ड, और जग्गयपेट के विशाल स्तूप खड़े हो सके। कृष्णा के निचले भाग में बौद्धधर्म के ह्रास का कारण देश में सब जगह बौद्धधर्म की अवनति तो था ही, साथ-ही-साथ, रोम के साथ व्यापार की कमी भी था, जिससे इस देश में सोना आना बन्द हो गया और बौद्ध व्यापारी दरिद्र हो गये।

जिस समय दक्खिन में सातवाहन-वंश अपनी शक्ति मजबूत कर रहा था उसी युग में गुजरात और काठियावाड़ पर क्षत्रपों का राज्य था। ये क्षत्रप पहले शाहानुशाही के प्रादेशिक थे। शायद उनकी नस्ल शक अथवा पह्लव थी, पर बाद में तो वे पूरे हिन्दू हो चुके थे। अब यह प्रायः निश्चित हो चुका है कि काठियावाड़ के क्षत्रप कनिष्क और उसके वंश के प्रति वफादार थे। पर गुजरात, काठियावाड़ और मालवा पर शासन करनेवाले क्षत्रपों के दो कुल थे। क्षहरात-कुल में भूमक हुए जिनके सिक्के गुजरात के समुद्रीतट, काठियावाड़ और मालवा तक मिलते हैं। नह-पान ने जिनकी सातवाहन-कुल से हमेशा प्रतिस्पर्धा रहती थी और जिनका उल्लेख जैन-साहित्य में हुआ है, शायद ११९-१२४ ई० तक राज किया, गोकि उनके समय पर ऐतिहासिकों में काफी बहस है। शायद नहपान के अधिकार में गुजरात, काठियावाड़, उत्तर-कोंकण, नासिक और पूना के जिले, मालवा तथा राजस्थान के कुछ भाग थे। जैसा हम कह आये हैं, गौतमीपुत्र ने इन प्रदेशों में से कुछ पर कब्जा कर लिया था।

चष्टन उस राजकुल का संस्थापक था जिसने ३०४ ई० तक राज्य किया। चष्टन और क्षहरात-वंशों के रिश्ते पर अनेक मत हैं। ऐसा पता चलता है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा क्षहरातों के उन्मूलन के बाद, शक-शक्ति की ओर से, चष्टन को बचे-खुचे सूबों का क्षत्रप नियुक्त

---

१. एंशेंट इंडिया, नं० ५ (जनवरी, १९४९), पृ० ९३

२. बागची, प्रीआर्यन एंड प्रीड्रवीडियन, देखो पलुर एण्ड दंतपुर

उत्तर में एक नाममात्र का गाँव बच रहा। बड़े प्लिनी (मृत्यु ७८ ईसवी) ने इस बात पर गौर किया है कि मौसमी हवा का पता लगने से भारत और लालसागर के बीच के व्यापारी उसका उपयोग करने लगे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि स्याग्रुस की खाड़ी (आधुनिक रासफर्तक) से चलनेवाले जहाज सीधे मालाबार के समुद्री तट में पहुँचने लगे और इसकी वजह से मुजिरिस के बन्दरगाह की इतनी महत्ता बढ़ी कि उसने दूसरे भारतीय बन्दरगाहों को मात कर दिया।

जैसा हमें पता चलता है, पहली सदी में जब पश्चिम-भारतीय बन्दरगाहों में भड़ोच का पहला स्थान था तब उसके लिए शकों और सातवाहनों में काफी लड़ाई-झगड़ा होता रहा। अपरान्त को जिसका भड़ोच एक भाग समझा जाता था, शायद नहपान ने जीता। बाद में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने इसे वापस ले लिया। पर फिर रुद्रदामा ने दूसरी सदी के बीच में उसपर अपना अधिकार जमा लिया।

अपरान्त के लिए हुई इस लड़ाई पर टाल्मी बहुत-कुछ प्रकाश डालता है। नासिक का जिला भड़ोच और पैठन के बीच के रास्ते के दर्रों की रखवाली करता था। नहपान ने ४१ और ४६ वर्षों के बीच इसपर अपना दखल जमाया, लेकिन यह प्रदेश गौतमीपुत्र सातकर्णि के अठारहवें राज्यवर्ष में फिर सातवाहन-राज्य में आ गया और पुलुमाइवासिष्ठिपुत्र, जिसका उल्लेख टाल्मी (७।१।८२) ने सिरि तुलामाय (Siri Ptolemaios) नाम से किया है, के राज्य में भी सातवाहन-साम्राज्य का एक भाग बना रहा[1]।

टाल्मी नासिक को अपने अरिआके (Ariake) में, जो श्री पुलुमायि के राज्य का द्योतक था, नहीं गिनता; पर उसे लारिके (Larike) यानी लाड-लाटिक में गिनता है। पुलुमायि की राजधानी ओजेन (Ozene) यानी उज्जयिनी थी। टाल्मी उसके अधिकार में दो और जगहों को यानी तियागुर (Tiagoures) और क्सेरोगेराइ (Xerogerei) को रखता है। श्री लेवी ने तियागुर की पहचान चकोर से की है जिसका उल्लेख गौतमीपुत्र के अभिलेख में है और क्सेरोगेराइ ही टाल्मी का क्सेरोगेराइ है। सिरिटल ही टाल्मी का सिरितल (Sirital) है तथा मलय अक्रोन (Malay Akron) (७।१।६४), जो भरुकच्छ की खाड़ी पर स्थित बतलाया गया है, लेख का मलय है।[2]

यहाँ यह गौर करने की बात है कि लारिके की सीमा पूर्व में नासिक से शुरू होकर पश्चिम में भड़ोच तक जाती थी। इसके उत्तर-पश्चिम में दूसरे नगर पड़ते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि, जब टाल्मी को खबर देनेवाले दूसरी सदी के प्रारंभ में भारत में थे, उस समय तक गौतमीपुत्र चष्टन से नासिक वापस नहीं ले सके थे। क्षहरातों को समाप्त करने के बाद गौतमीपुत्र कुछ दिनों तक उज्जयिनी के भी मालिक बने रहे। यह सब प्रदेश पुन रुद्रदामा के अधिकार में चला गया।

जैन-साहित्य में भड़ोच की लड़ाई के कुछ अवशेष बच गये हैं। आवश्यक चूर्णि की एक कहानी में कहा गया है कि एक समय भरुकच्छ में नहवाहण राज्य करता था और प्रतिष्ठान में शालिवाहन। इन दोनों के पास बड़ी सेनाएँ थीं। नहवाहण ने, जिसके पास बहुत पैसा था, एलान करा दिया था कि शालिवाहन की सेना के प्रत्येक सिपाही के सिर के लिए मैं एक लाख देने को तैयार हूँ। शालिवाहन के आदमी भी कभी-कभी नहवाहण के आदमियों को मार दिया करते थे

---

1. लेवी, जरनल आशियातीक, १९३६, पृ० ६४-६५
2. वही, पृ० ६९

उपर्युक्त अभिलेख में ही, कण्टकसेल के महाचैत्य के पूर्वी द्वार पर स्थित एक लेख का वर्णन है। निश्चयपूर्वक यह कण्टकसेल और टालमी का कण्टिकोस्सुल (Kantikossula) (७।१।१५) जिसका उल्लेख कृष्णा के मुहाने के ठीक बाद आता है, एक थे। डा० वोगेल ने इस कण्टकसेल को नागार्जुनी कोण्ड में रखा था; पर पूर्वी समुद्रतट पर कृष्णा जिले के घण्टा-साल नामक गाँव से प्राप्त करीब ३०० ई० के पाँच प्राकृत लेख कण्टकसेल की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। एक लेख में महानाविक सिवक का उल्लेख होने से यह बात साफ हो जाती है कि ईसा की आरम्भिक सदियों में घण्टशाल एक बन्दरगाह था। दूसरे लेख में तो घण्टशाल का प्राचीन नाम कण्टकसोल दिया हुआ है[1]। उपर्युक्त बातों से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ईसा की आरम्भिक सदियों में कण्टकसोल कृष्णा नदी के दायें किनारे पर एक बड़ा बन्दरगाह था जिसका लंका के बन्दरों तथा दूसरे बन्दरों से व्यापारिक सम्बन्ध था।

टालमी के अनुसार (७।१।१६) पलुर एक एफेटेरियम (समुद्र-प्रस्थान) था जहाँ से सुवर्णद्वीप के लिए किनारा छोड़कर जहाजवाले समुद्र में चले जाते थे। पलुर की स्थिति की पहचान चिकाकोल और कलिंगपट्टनम के पड़ोस में की जाती है।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी समुद्रतट पर बौद्धधर्म के ऐश्वर्य का कारण व्यापार था। बौद्धधर्म के अनुयायी अधिकतर व्यापारी थे और उन्हीं की मदद से अमरावती, नागार्जुनी कोण्ड, और जगय्यपेट के विशाल स्तूप खड़े हो सके। कृष्णा के निचले भाग में बौद्धधर्म के ह्रास का कारण देश में सब जगह बौद्धधर्म की अवनति तो था ही, साथ-ही-साथ, रोम के साथ व्यापार की कमी भी था, जिससे इस देश में सोना आना बन्द हो गया और बौद्ध व्यापारी दरिद्र हो गये।

जिस समय दक्षिण में सातवाहन-वंश अपनी शक्ति मजबूत कर रहा था उसी युग में गुजरात और काठियावाड़ पर क्षत्रपों का राज्य था। ये क्षत्रप पहले शाहानुशाही के प्रादेशिक थे। शायद उनकी नस्ल शक अथवा पह्लव थी, पर बाद में तो वे पूरे हिन्दू हो चुके थे। अब यह प्रायः निश्चित हो चुका है कि काठियावाड़ के क्षत्रप कनिष्क और उसके वंश के प्रति वफादार थे। पर गुजरात, काठियावाड़ और मालवा पर शासन करनेवाले क्षत्रपों के दो कुल थे। क्षहरात-कुल में भूमक हुए जिनके सिक्के गुजरात के समुद्रीतट, काठियावाड़ और मालवा तक मिलते हैं। नहपान ने जिनकी सातवाहन-कुल से हमेशा प्रतिस्पर्धा रहती थी और जिनका उल्लेख जैन-साहित्य में हुआ है, शायद ११६-१२४ ई० तक राज किया, गोकि उनके समय पर ऐतिहासिकों में काफी बहस है। शायद नहपान के अधिकार में गुजरात, काठियावाड़, उत्तर-कोंकण, नासिक और पूना के जिले, मालवा तथा राजस्थान के कुछ भाग थे। जैसा हम कह आये हैं, गौतमीपुत्र ने इन प्रदेशों में से कुछ पर कब्जा कर लिया था।

चष्टन उस राजकुल का संस्थापक था जिसने ३०४ ई० तक राज्य किया। चष्टन और क्षहरात-वंशों के रिश्ते पर अनेक मत हैं। ऐसा पता चलता है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा क्षहरातों के उन्मूलन के बाद, शक-शक्ति की ओर से, चष्टन को बचे-खुचे सूबों का क्षत्रप नियुक्त

---

१. एंशेंट इंडिया, नं० ५ (जनवरी, १९४९), पृ० ९३

२. बागची, प्रीआर्यन एंड प्रीड्रवीडियन, देखो पलुर एण्ड दंतपुर

उत्तर में एक नाममात्र का गाँव बच रहा। बड़े प्लिनी (मृत्यु ७८ ईसवी) ने इस बात पर गौर किया है कि मौसमी हवा का पता लगने से भारत और लालसागर के बीच के व्यापारी उसका उपयोग करने लगे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि स्याग्रुस की खाड़ी (आधुनिक रासफर्तक) से चलनेवाले जहाज सीधे मालाबार के समुद्री तट में पहुँचने लगे और इसकी वजह से मुजिरिस के बन्दरगाह की इतनी महत्ता बढ़ी कि उसने दूसरे भारतीय बन्दरगाहों को मात कर दिया।

जैसा हमें पता चलता है, पहली सदी में जब पश्चिम-भारतीय बन्दरगाहों में भड़ोच का पहला स्थान था तब उसके लिए शकों और सातवाहनों में काफी लड़ाई-झगड़ा होता रहा। अपरान्त को जिसका भड़ोच एक भाग समझा जाता था, शायद नहपान ने जीता। बाद में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने इसे वापस ले लिया। पर फिर रुद्रदामा ने दूसरी सदी के बीच में उसपर अपना अधिकार जमा लिया।

अपरान्त के लिए हुई इस लड़ाई पर टाल्मी बहुत-कुछ प्रकाश डालता है। नासिक का जिला भड़ोच और पैठन के बीच के रास्ते के दर्रों की रखवाली करता था। नहपान ने ४१ और ४६ वर्षों के बीच इसपर अपना दखल जमाया, लेकिन यह प्रदेश गौतमीपुत्र सातकर्णि के अठारहवें राज्यवर्ष में फिर सातवाहन-राज्य में आ गया और पुलुमाइवासिष्ठिपुत्र, जिसका उल्लेख टाल्मी (७।१।८२) ने सिरि पुलामाय (Siri Ptolemaios) नाम से किया है, के राज्य में भी सातवाहन-साम्राज्य का एक भाग बना रहा[१]।

टाल्मी नासिक को अपने अरिआके (Ariake) में, जो श्री पुलुमायि के राज्य का द्योतक था, नहीं गिनता; पर उसे लारिके (Larike) यानी लाट-राष्ट्रिक में गिनता है। पुलुमायि की राजधानी ओजेन (Ozene) यानी उज्जयिनी थी। टाल्मी उसके अधिकार में दो और जगहों को यानी तियागुर (Tiagoures) और क्सेरोगेराइ (Xerogerei) को रखता है। श्री लेवी ने तियागुर की पहचान चकोर से की है जिसका उल्लेख गौतमीपुत्र के अभिलेख में है और सेटगिरि ही टाल्मी का क्सेरोगेराइ है। सिरिटन ही टाल्मी का सिरितल (Sirital) है तथा मलय अक्रोन (Malay Akron) (७।१।८४), जो भरुकच्छ की खाड़ी पर स्थित बतलाया गया है, लेख का मलय है।[२]

यहाँ यह गौर करने की बात है कि लारिके की सीमा पूर्व में नासिक से शुरू होकर पश्चिम में भड़ोच तक जाती थी। इसके उत्तर-पश्चिम में दूसरे नगर पड़ते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि, जब टाल्मी को खबर देनेवाले दूसरी सदी के प्रारंभ में भारत में थे, उस समय तक गौतमीपुत्र चष्टन से नासिक वापस नहीं ले सके थे। खखरातों को समाप्त करने के बाद गौतमीपुत्र कुछ दिनों तक उज्जयिनी के भी मालिक बने रहे। यह सब प्रदेश पुन रुद्रदामा के अधिकार में चला गया।

जैन-साहित्य में भड़ोच की लड़ाई के कुछ अवशेष बच गये हैं। आवश्यक चूर्णि की एक कहानी में कहा गया है कि एक समय भरुकच्छ में नहवाहण राज्य करता था और प्रतिष्ठान में शालिवाहन। इन दोनों के पास बड़ी सेनाएँ थी। नहवाहण ने, जिसके पास बहुत पैसा था, एलान करा दिया था कि शालिवाहन की सेना के प्रत्येक सिपाही के सिर के लिए मैं एक लाख देने को तैयार हूँ। शालिवाहन के आदमी भी कभी-कभी नहवाहण के आदमियों को मार दिया करते थे

---

१. लेवी, जरनल आशियातीक, १९३६, पृ० ६३-६५

२. वही, पृ० ६९

पर उन्हें कोई इनाम नहीं मिलता था। हर साल शालिवाहन नहवाहण के राज्य पर धावा बोलता था और हर साल यही घटना घटती थी। एक बार शालिवाहन के एक मन्त्री ने उसे सलाह दी कि वह धोखे से शत्रु को जीतने की तरकीब काम में लावे। मंत्री स्वयं गुग्गुल का भार लेकर भरुकच्छ पहुँच गया। वहाँ एक मन्दिर में ठहरकर उसने खबर उड़ा दी कि शालिवाहन ने उसे देशनिकाला दे दिया है। नहवाहण उसकी ओर झुक गया और उसने अपने को सन्त बताकर राजा को मन्दिर, स्तूप, तालाब इत्यादि बनवाने की सलाह दी जिससे उसकी सारी रकम खर्च हो गई। बाद में उसने शालिवाहन को खबर दी कि नहवाहण के पास अब इनाम देने को कुछ नहीं है। यह सुनकर शालिवाहन ने भरुकच्छ पर चढ़ाई करके उसे जमींदोज कर दिया।

उपर्युक्त कहानी में जो कुछ भी तत्त्व हो, एक बात तो सही है कि नहपान ने मन्दिर इत्यादि बनवाये थे। उसके दामाद उषवदात [1] ने वर्णासा (आधुनिक बनास नदी, पालनपुर), प्रभास, भरुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन, सोपारग इत्यादि में दान दिये थे। उसने मढ़ियाँ (ओवारक) बनवाईं और भिक्षुओं की सेवा के लिए लेण और जलद्रोणियाँ (पोढ़ी) बनवाईं।

पेरिप्लस (४१) में शायद नहपान को नंबनोस (Nambanos) कहा गया है। बरके (Barake) यानी द्वारका के बाद भरुकच्छ की खाड़ी का बाकी हिस्सा और अरियाके का भीतरी भाग नंबनोस के अधिकार में था।

इस तरह पेरिप्लस के समय में नहपान के राज में अरियाके का अधिक भाग था। और कच्छ के समुद्रतट के साथ सिन्ध का निचला भाग पह्लवों के अधिकार में था।[2] राजधानी मिन्नगर (४१) थी, उज्जैन तो भीतरी देश की राजधानी थी (४८)। यूनानी साहित्य में अरियाके से पूरे उत्तर भारत का बोध नहीं होता था। टालमी (७।१।६) के अनुसार अरियाके में सुप्पर से सेमिल्ला (चौल) के दक्खिनवाले बल पटन (Bale Patna) का समुद्र-तट था। सातवाहनों के राज्य में (७।१।८२) पैठन, हिप्पोकूरा (Hippkoura), बालेकुरोस (Balekouros) थे और वह उत्तर कनारा में बनवासी तक फैला हुआ था। इन सबको इकट्ठा करके पेरिप्लस का दखिनाबदेस अथवा दक्षिणापथ बनता था।

टालमी ने समुद्रतट से भीतर तक फैली सिंध से भड़ोच तक की भूमि को, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, लारिके (Larike) कहा है। इस तरह अरियाके और लारिके में भेद दिखाकर टालमी ने यह बतलाया है कि उसके युग में पहले से राजनीतिक भूगोल में परिवर्तन हो गया था।

हम ऊपर पेरिप्लस द्वारा उल्लिखित सन्दनेस का नाम देख चुके हैं। सन्दनेस द्वारा भरुकच्छ पर अधिकार होने से ही कल्याण का रोम-यूनानी-व्यापार रुक गया। श्री लेवी के मत से सन्दनेस संस्कृत चंदन का रूप है [3]। चीनी-बौद्ध साहित्य में चान-तन (Tchan-tain) शब्द का प्रयोग कुछ राजाओं की पदवी के लिए हुआ है।[4] सूत्रालंकार में तो खास कनिष्क के लिए यह शब्द आया है। गन्धार और वक्षु में भी यह पदवी कुशाण-राजाओं के लिए थी।[5] खूब जाँच-पड़ताल

१. आवश्यक चूर्णि
२. ल्यूडर्सलिस्ट, ११३१, ११३२
३. वही, पृ० ७५-७६
४. वही, पृ० ८०
५. वही, पृ० ८१-८४

करके श्री लेवी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पेरिप्लस का सन्डनेस कुषाण-वंश का था और सम्भवत वह कनिष्क था। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि तारानाथ चन्दनपाल को ठीक कनिष्क के बाद रखता है। यह चन्दनपाल अपरांत पर राज्य करता था जहाँ सुपारा है। ठीक यहीं पर टाल्मी अरियाके का प्रधान नगर रखता है (७।१।६)। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, महाभारत में ऋषिक (यू-ची) का सम्बन्ध चन्द्र से किया गया है। शायद कनिष्क के यू-ची होने से ही उसे यह पदवी मिली थी।

पर, लोगों की राय में, कनिष्क का राज्य तो सिन्धु नदी से बनारस तक फैला था, फिर उसका उल्लेख दक्षिण में कैसे हो सकता है। श्री लेवी ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पचीस और एक सौ तीस ईसवी के बीच में किसी समय यू-ची लोग दक्खिन में रहे होंगे। इस राय के समर्थन में उन्होंने यह दिखलाया है कि पेरिप्लस के समय में भरुकच्छ और कोकण के समुद्रतट का मालिक एक चन्दन था। टाल्मी में भी हम एक संदन के अरियाके का पता सुपारा के पास पाते हैं। पेरिप्लस के सन्दनेस ने किसी सारगेस (Saranges) को समुद्रतट से हटाया। अरियाके के बाद के समुद्री हिस्से का नाम एण्डरोन्पाइरेटॉन (Andron Peiraton) था जो द्रविड़ देश तक फैला हुआ था। यहीं आन्ध्र के जलडाकू रहते थे। बहुत दिनों बाद तक, अठारहवीं सदी में भी, यह आंग्रे का अड्डा था जिससे अपने डाकू-जहाज भेजकर वे यूरोपियनों के भागों को लूटते रहते थे।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि भरुकच्छ और सुपारा पर चन्दन का अधिकार होने से उन बंदरों का व्यापार मालाबार में चला गया जिससे मुजरिस के बन्दर की बढ़ती हुई। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल से इस देश के लोगों के जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। टाल्मी द्वारा दिये गये राजनीतिक विभागों से हम देख सकते हैं कि कैसे सिकन्दरिया में व्यापारी अपने व्यापार पर उन परिस्थितियों का प्रभाव देख रहे थे। श्री लेवी की राय है कि देश में इस राजनीतिक उथल-पुथल ने लोगों के हिन्दचीन और हिन्द-एशिया के जाने के मार्ग खोल दिये। जावानी अनुश्रुति के अनुसार वहाँ जानेवाले दो तरह के आदमी थे; गुजरात से वनिया आये तथा कलिंग के बन्दरगाहों से क्लिंग।

टाल्मी (७।४।३) में आन्ध्र का उल्लेख केपआनड्राइ सीमुण्डौन (Cape Andrai Satimoundon) में आता है जो सिंहल के पश्चिमी किनारे पर था। टाल्मी (७।४।१) से हमें यह भी मालूम होता है कि प्राचीन समय में सिंहल का नाम सीमुण्डौन था, पर टाल्मी के काल में उसे सलिके (Salike) कहते थे। टाल्मी के इस विचार का आधार प्लिनी है (६।२४।४ से)। एनीयस प्लोकैमस (Annius Plocamus) नामक रोमनों की अधीनता में रहनेवाला एक करग्राहक जब लालसागर का चक्कर मार रहा था तो मौसमी हवा में पड़कर वह सिंहल पहुँच गया और वहाँ उससे क्लोडियस (ईसवी सन् ४१-५४) के पास दूतकार्य करने को कहा गया। यहाँ उसे पता लगा कि लंका की राजधानी पलैसिमुण्डूस (Palaisimundous) थी। सिमुण्डूस से यहाँ समुद्र का तात्पर्य है। इसी आधार पर आण्ड्रै सिमुण्डूस की खाड़ी से आन्ध्रों के खात का तत्पर्य था जिस तरह पलैसिमुण्डूस से मलय समुद्र में घुसने के रास्ते से। आण्ड्रै सिमुण्डौन से हमें सातवाहनों की त्रिसमुद्राधिपति पदवी सामने आ जाती है।[1]

---

१. लेवी, वहीं, पृ० ४७-४९

हम ऊपर देख आये हैं कि किस तरह उत्तर, दक्खिन और पश्चिम में सातवाहन फैले हुए थे। पर अभाग्यवश हमें दूर दक्खिन के तामिल राज्यों का पता नहीं लगता गोकि कुछ प्राचीन कविताओं में प्राचीन राजाओं के उल्लेख हैं। बहुत प्राचीन काल में तामिलगम्, यानी तामिलों का राज्य, मद्रास प्रदेश के अधिक भाग में छाया हुआ था। इसकी सीमा उत्तर में समुद्रतट पर पुलीकट से तिरुपति तक, पूरब में बंगाल की खाड़ी तक, दक्षिण में कन्याकुमारी तक तथा पश्चिम में माही के कुछ दक्खिन बडगर के पास तक थी। उस काल में मालाबार भी तामिलगम् का अंग था। इस प्रदेश में पाण्ड्यों, चोलों और चेरों के राज्य थे। पाण्ड्यों का राज्य आधुनिक मदुरा और तिन्नवली के अधिक भागों में था। पहली सदी में, इसमें दक्षिण त्रावनकोर भी आ जाता था। प्राचीन काल में इसकी राजधानी कोलकइ में (तिन्नवली में ताम्रपर्णी नदी पर) थी। बाद में वह मदुरा चली आई। चोलों का प्रदेश पूर्वी समुद्रतट पर पेन्नार नदी से वेल्लार तक था तथा पश्चिम में कुर्ग तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी उरैयूर (प्राचीन त्रिचनापल्ली) थी और इसके वश में कावेरी के उत्तर किनारे पर बसा हुआ कावेरीपट्टीनम् अथवा पुहार का बन्दरगाह था। चोलप्रदेश में कांची भी एक प्रसिद्ध नगर था। चेर अथवा केरलप्रदेश में आधुनिक त्रावनकोर, कोचीन और मद्रास का मालाबार जिला शामिल थे। कोंगु देश (कोयंबटूर जिला, सेलम जिला का दक्षिणी भाग) जो एक समय उससे अलग था, बाद में उसके साथ हो गया। उसकी राजधानी पहले वंजी (कोचीन के पास पेरियार नदी पर तिरु करूर) में थी, पर बाद में वह वंजिक्कलम् (पेरियार के मुहाने के पास) चली आई। इस प्रदेश में कुछ मशहूर व्यापारिक केन्द्र थे, जैसे तोंडई (किलंदी से ५ मील उत्तर), मुचिरि (पेरियार के मुहाने के पास), पलैयूर और वैक्करै (कोट्टायम् के पास)।

तामिल देश के प्राचीन इतिहास का ठीक पता नहीं चलता। शायद ईसवी सन् के आरम्भ में चोल देश का राजा पेरुनेरक्किल्ली था और चेरराज नेडुन्जेरल-आदन्। इन दोनों की मृत्यु लड़ते हुए हुई। पेरुनेरकिल्ली के पौत्र करिकाल के समय में चोलों की बड़ी उन्नति हुई। उसने चेर और पाण्ड्यों की संयुक्त सेना को एक साथ हराया। शायद उसने अपनी राजधानी कावेरीपट्टीनम् बनाई।

करिकाल की मृत्यु के बाद चोल-साम्राज्य को एक धक्का लगा। नेडुमुडुकिल्ली ने एक बार पाण्ड्यों और केरलों को हराया, पर बाद में कावेरीपट्टीनम् के बाद से नष्ट होने और बगावतों से वह घबराने लगा। इन सब विपत्तियों से चेर सेंगुट्टुवन ने उसकी रक्षा की। चेर सेंगुट्टुवन के समय तक चेरों की प्रभुता कायम थी, पर पाण्ड्यों से हार जाने के बाद उनके बुरे दिन आ गये।

हमने ऊपर ई० पू० दूसरी सदी से ई० तीसरी सदी तक के भारत के इतिहास पर सरसरी तौर से नजर दौड़ाई है जिससे पता चलता है कि किस तरह व्यापारिक मार्गों और बन्दरगाहों के लिए लड़ाइयाँ होती रहीं। कुषाण-युग की एक विशेषता यह थी कि पेशावर से लेकर पाटलिपुत्र और शायद ताम्रलिप्ति तक का महापथ और मथुरा से उज्जैन और शायद भड़ोच तक के पथ उनके कब्जे में थे। पर उनके पतन के बाद मथुरा से बनारस तक का रास्ता तो शायद मघों और यौधेयों के अधिकार में आ गया, पर उसके बाद का रास्ता मुरुंडों के हाथ में रहा। मथुरा-उज्जैन-भड़ोचवाली सड़क पश्चिमी क्षत्रपों के अधीन थी, पर उसके

लिए उनकी सातवाहनों के साथ कई लड़ाइयाँ हुईं। पश्चिमी समुद्रतट के बन्दरों पर क्षत्रपों, सातवाहनों और चेरों के अधिकार थे तथा पूर्वी समुद्रतट के बन्दर कलिंगों, चोलों और पाण्ड्यों के अधिकार में थे। इस तरह से देश की पथपद्धति और बन्दरों पर बहुत-से राज्यों के अधिकार होने से देश के व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा, यह कहना मुश्किल है। पर इतना तो इतिहास हमें बताता है कि देश में राजनीतिक एकता न होते हुए भी उससे व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हम छठे अध्याय में देखेंगे कि रोमनों द्वारा लालसागर के मार्ग का उद्धार और मौसमी हवा का पता चलने से भारतीय माल के लिए एक नया बाजार खुल गया तथा भारतीय बन्दरगाहों का महत्त्व कई गुना अधिक बढ़ गया। विदेशी व्यापारी भारतीय माल-मसालों की खोज में यहाँ आने लगे तथा भारतीय व्यापारी और साहसिक सोना, रत्न, मसाले तथा सुगन्धित द्रव्यों की खोज में मलयेशिया की पहले से भी अधिक यात्रा करने लगे। बाद के अध्याय में हम इसी आवागमन की कहानी पढ़ेंगे।

छठा अध्याय

भारत का रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार

ईसा की पहली दो सदियों में भारत और रोम के व्यापार की बढ़ती हुई। व्यापार की उस उन्नति का कारण रोमन साम्राज्य द्वारा शान्ति-स्थापन था जिससे खोजों और विकास के एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। पश्चिम और निकट-पूर्व के प्रदेशों को एक साथ जोड़ने में एशिया-माइनर, अरब और उत्तर-पूर्व अफ्रिका के भौगोलिक पहलू भी ठीक-ठीक हमारे सामने आ गये। निकट-पूर्व के रोमन व्यापारियों ने अपनी शक्ति और पैसे के जोर से अपने व्यवसाय की काफी उन्नति की। इतना सब होते हुए भी यह अजीब बात है कि रोमन और भारतीय, व्यापार में, यदा-कदा ही एक दूसरे से मिलते थे। उनके व्यापार के बिचवई सिकन्दरिया के यूनानी, शामी यहूदी, आर्मीनी अरब, अक्सुमी (Axumites), सोमाली तथा पूर्व को जानेवाले स्थलपथ के अधिकारी पह्लव थे।

एशिया-माइनर और अरब-यूरोप, अफ्रिका और एशिया की भूमि की कमर कहे जा सकते हैं जिनसे इटली और भारत के समुद्रतट समान दूरी पर स्थित हैं। भूमध्यसागर और हिन्दमहासागर, फारस की खाड़ी और लालसागर की वजह से, एक दूसरे के पास आ जाते हैं। लालसागर भूमध्यसागर के सबसे पास है और इसी कारण भारत के साथ व्यापार का यह एक खास रास्ता बन गया।

एशिया-माइनर और अरब, स्थलमार्गों से भी, भूमध्यसागर और भारत का सम्बन्ध जोड़ते थे। इसी प्रदेश में पश्चिम को जानेवाले भारतीय माल के लेनेवाले और ढोनेवाले तथा व्यापारी देखे जा सकते थे। इसी मार्ग पर बहुत-से नगरों की स्थापना हुई जो व्यापार से फले-फूले।

रोमन राज्य एशिया माइनर, शाम और मिस्र पर तो स्थापित हो चुका था, पर अरब उनके अधिकार में नहीं था और कोहकाफ के कबीले उनकी बात नहीं मानते थे। हम पाँचवें अध्याय में बता चुके हैं कि भारत में शक-सातवाहन और तामिलगम् के राजे स्थलपथ और बन्दरगाहों पर कैसे अपनी हुकूमत स्थिर किये हुए थे, पर इस राजनीतिक गड़बड़ी का भारत के विदेशी व्यापार पर बहुत कम असर पड़ा। व्यापार को उत्साह देने के लिए कनिष्क ने सोने के रोमन सिक्कों की तौल भारतीय सिक्कों के लिए अपना ली। यह आवश्यक था, क्योंकि रोमन सिक्का उस युग में अन्तरराष्ट्रीय सिक्का बन चुका था।

टाल्मी वंश के राज्यकाल में सिकन्दरिया यूरोप, एशिया और अफ्रिका के व्यापारियों का प्रधान बाजार बन गया। अगस्तस के काल में एक रास्ता, जहाँ तक हो सकता था, लालसागर को बचाता था और दूसरा उसकी मुसीबतें झेलता था। पहले रास्ते को पकड़ने के लिए नील के रास्ते व्यापारी केना (Kena) और केफ्त (Keft) पहुँचते थे। फिर केना के रास्ते वे मुसेल (Mussel) बन्दर (अबूशफर) और केफ्त के रास्ते बेरेनिके (Berenike)

पहुँचते थे जो उम्मेल केतेरु की खाड़ी के नीचे रासबेनास पर स्थित था। इस रास्ते पर यात्री रात में सफर करते थे। उनके आराम के लिए इन सड़कों पर चट्टियों, हथियारबन्द रक्षकों तथा सरायों और धर्मशालाओं का प्रबन्ध था।[1] ईसा की प्राथमिक सदियों में बेरेनिकेवाले रास्ते का महत्त्व इसलिए और बढ़ गया कि जिस प्रदेश से सड़क गुजरती थी उसमें पन्ने की खानें मिल गई थीं।

जहाज सिकन्दरिया से चलकर सात दिनों में हेरोपोलिट (Herocpolit) की खाड़ी (स्वेज की खाड़ी) पहुँचते थे जहाँ दूसरे टाल्मी ने अरिस्नो (Arisnoe) की नींव डाली थी। वहाँ से वे बेरेनिके और मुसेन के बन्दरगाह पहुँचते थे। मौसमी हवा का भेद न जानने से व्यापारी जहाज किनारे-किनारे चलकर कभी-कभी रासफर्तक को पार करके सिन्धु के मुहाने पर जा पहुँचते थे। रास्ते में वे अदूलिस (Adulis) (आधुनिक ज्यूला, मसावा) में अफ्रीकी माल के लिए ठहरते थे। फिर इसके बाद मुजा (Muza) (मोखा) के पूरब रुकते हुए वे ओसियेलिस (Ocealis) (केला) पहुँचकर बाबेलमन्दब के डमरूमध्य से हिंदसागर में पहुँच जाते थे। वहाँ अदन और सोकोतरा के सुमाली बाजारों में भारतीय व्यापारियों से भेंट उनकी होती थी। आगे चलकर वे हद्रमौत में भारत के साथ व्यापार करनेवाले केन (Cane) (हिस्नगोराब) और मोजा (ओररैरी) में ठहरते थे। इनके बाद वे सीधे सिन्धु नदी के बन्दरगाह, बार्बरिक पहुँचते थे, जहाँ उन्हें चीनी, तिब्बती और भारतीय माल मिलता था। फिर दक्खिन की ओर चलते हुए वे भड़ोच पहुँचते थे। वहाँ वे कालीकट से कन्याकुमारी तक फैले चेर-राज्य की सैर करते थे। रास्ते में मुजिरिस (क्रैंगनोर) और नेलकिंडा (कोट्टायम) पड़ते थे। इसके बाद मोतियों के लिए प्रसिद्ध पाण्ड्यदेश की तथा चोलमण्डल की वे सैर करते थे।[2]

भारतीय व्यापार में यमनी, नबाती तथा हिमरायती लोगों का भी हिस्सा था और इसलिए वे रोम के साथ भारत के सीधे व्यापार के विरोधी थे। सोमाली समुद्रतट के अरब-अफ्रिकियों ने इस युग में हब्श का अक्सुमी साम्राज्य कायम किया। शायद उन्होंने भारतीयों को बाबेलमन्देब में ओसेलिस के आगे न बढ़ने के लिए मना लिया। हब्श से सिकन्दरिया तक एक स्थलमार्ग चलने पर भी अक्सुमी यूनानियों से अदूलिस (सोमाली बाजारों और सोकोतरा) में मिलना पसन्द करते थे। इस प्रदेश में यूनानी, अरब और भारतीय रहते थे और भारत से आने-जानेवाले यात्री यहाँ ठहरते थे।[3]

शक-पह्लवों की लड़ाइयों से स्थलमार्ग की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। इससे बचने के लिए अगस्तस को समुद्री रास्तों की रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ा। हिमरायती और नबाती इस प्रयत्न में बाधक सिद्ध हुए। पर मौसमी हवा का ज्ञान हो जाने पर इन सब प्रयत्नों की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

हम पहले अध्याय में अन्तिओख से बलख होकर भारत के पथ का उल्लेख कर चुके हैं। अगस्तस के युग में रोमन व्यापारी सेल्यूकिया से क्टेसिफोन (Ctesiphon) पहुँचते

---

१ ई० एच वार्मिंगटन, दि कामर्स बिट्वीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया, पृ० ६—७, कैंब्रिज, १९२८

२. वही, पृ० ९—१०

३ वही, पृष्ठ १३-१४

थे। फिर वे असीरिया होकर कुर्दिस्तान से मीडिया पहुँचते थे। वहाँ से बेहिस्तान होते हुए वे तेहरान के पास से कैस्पियन सागर का रास्ता पकड़ लेते थे। यहाँ से रास्ता जिर्म के पास हेकोटोमपाइलोस (Hacotompylos) होते हुए अन्तिओक मार्गियन (मर्व) पहुँचता था। यहाँ से रास्ते की दो शाखाएँ हो जाती थीं—एक तो हिन्दूकुश को दक्षिण में छोड़ती हुई चीनी कौशेयपथ से जा मिलती थी और दूसरी दक्षिन में भारत की ओर घूम जाती थी। इन दोनों रास्तों का उपयोग, खास रोम के व्यापारी कम करते थे। प्लिनी और टालमी के अनुसार मर्व से पूरब का रास्ता समरकन्द होते हुए वंक्षु को पार करता था। एक दूसरा रास्ता मर्व से बलख जाता था और वहां से ताशकुरगन पहुँचता था जहाँ भारत, वंक्षु के काठे, खोतन और यारकन्द के रास्ते मिलते थे। यहां से यारकन्द के काठे से होता हुआ रास्ता सिंगानफू तक चला जाता था। यह पूरा रास्ता चार सो पड़ावों में बाँटा गया था।

बलख से हिन्दुस्तान आने के लिए हिन्दूकुश पार करना पड़ता था। वहाँ से रास्ता काबुल, पेशावर होते हुए तक्षशिला, मथुरा और पाटलिपुत्र तक चला जाता था। पर जो व्यापारी केवल भारतीयों से ही व्यापार करते थे वे प्रधान रास्ते से मर्व के दक्षिण घूम जाते थे और आसान मंजिलों में हेरात पहुँच जाते थे और वहां से कन्धार। कन्धार से भारत के लिए तीन रास्ते थे—(१) दक्षिण-पूर्वी रास्ता, जो पहाड़ों को पार करता हुआ बोलन अथवा मूला दर्रे से भारत में उतरता था। (२) उत्तर-पूर्वी रास्ता, जो काबुल पहुँचकर कौशेय-पथ से मिल जाता था। (३) लासबेलावाला रास्ता, जो सड़क या नदी से सोनमियानी की खाड़ी पहुँचता था और वहाँ से जल अथवा स्थलमार्ग से भारत [1]।

इन स्थल-मार्गों से, कम-से-कम अगस्तस के समय में तो, कई भारतीय प्रतिधिवर्ग रोम पहुँचे। इन प्रतिधिवर्गों में कम-से कम चार के उल्लेख लातिनी साहित्य में मिलते हैं। (१) पुरुदेश (झेलम और व्यास के बीच में) का प्रतिधिवर्ग अपने साथ रोम को सर्प, मोनाल, शेर और यूनानी भाषा में लिखा हुआ एक पत्र ले गया। (२) भड़ोच से आये प्रतिधिवर्ग के साथ जरमानोस नाम का एक बौद्ध श्रमण था। (३) चेर-साम्राज्य का प्रतिधिवर्ग। [रोम में यह प्रसिद्ध था कि मुजिरिस (क्रैंगनोर) में अगस्तस के लिए एक मन्दिर बनवाया गया था।] (४) पाण्ड्य-साम्राज्य का प्रतिधिवर्ग अपने साथ रत्न, मोती और हाथी लाया था।[2]

इस तरह हमें पता चलता है कि अगस्तस के समय में भारत और रोम का व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा। लेकिन व्यापार का पलड़ा आरम्भ से ही भारत के पक्ष में भारी रहा। इसी के फलस्वरूप भारत में रोमन राजाओं के बहुत-से सोने के सिक्के मिलते हैं।

समकालीन लातिनी साहित्य से हमें पता चलता है कि रोमन साम्राज्य के आरम्भ में भारतीय माल का दाम रोमन सिक्कों में चुकाया जाता था। हमें इस बात का पता है कि भारतीय सिंह, शेर, गैंडे, हाथी और सर्प रोम में कभी-कभी तमाशे के लिए लाये जाते थे। रोमन लोग भारतीय सुग्गे भी पालते थे। भारतीय हाथीदाँत और कछुए की खपड़ी का व्यापार गहने बनाने के लिए होता था। रोमन स्त्रियाँ भारतीय और चीनी

---

१ वही, पृष्ठ २३-२४

२ वही, पृष्ठ १६-१७

मोती बड़े चाव से पहनती थीं। जड़ी-बूटियाँ और मसाले भी इस व्यापार के मुख्य अंग थे। काली मिर्च, जटामासी, दालचीनी, कुठ और लायची अधिकतर स्थलमार्ग द्वारा अरब यात्री लाते थे। दवाओं में उपर्युक्त वस्तुओं के सिवाय सोंठ, गुग्गुल, वायविडंग, शक्कर और अगर होते थे। हमें इस बात का भी पता चलता है कि रोमन लोग भारतीय तिल के तेल का भी खाने में उपयोग करते थे। नील का, रंग की तरह, व्यवहार होता था। सूती कपड़े पहनने के काम में लाये जाते थे तथा आबनूस की लकड़ी के साज-सामान बनते थे। चावल खाद्यान्न माना जाता था तथा भारतीय नींबू, आड़ू और जर्दालू खाने तथा औषध के काम में आते थे। बहुत तरह के कीमती और साधारण रत्न, जैसे हीरा, शेप (ओनिक्स), सार्डोनिक्स, अकीक, सार्ड, लोहिताक, स्फटिक, जमुनिया, कोपल, वैदूर्य, नीलम, माणिक, पिरोजा, कोरण्ड (गार्नेट) इत्यादि की रोम में बहुत माँग थी। इन सबका दाम रोम को सोने में चुकाना पड़ता था और इससे राष्ट्र के धन का बड़ा अपव्यय होता था। टाइबीरियस ने इस अन्धाधुन्ध खर्च के रोकने का प्रयत्न भी किया था पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला।[1]

मौसमी हवा का पता चल जाने पर इटली से भारत तक की यात्रा करीब सोलह हफ्तों में या औसतन छ महीनों में होने लगी। यात्रा मुसेलहार्बर (रासअबूसोमेर) से, करीब मकर-संक्रांति के समय, जब अफ्रिका और दक्षिणी अरब से अनुकूल उत्तर-पश्चिमी हवा चलती थी, आरम्भ होती थी। भारत और लंका की ओर जानेवाले यात्री जुलाई में अपनी यात्रा इसलिए आरम्भ करते थे कि लालसागर पहली सितम्बर के पहले पार कर जाने पर उन्हें अरब-समुद्र में जहाज के अनुकूल मौसमी हवा मिल जाती थी।

जिस जहाज से पेरिप्लस के लेखक ने भारत-यात्रा की वह यों ही साधारण-सा जहाज रहा होगा जिसमें शायद एक गज पर लगा ऊपरी तिकोना पाल लगता था। भारतीय समुद्र में समय की बहुत पाबन्दी करनी पड़ती थी, क्योंकि उस समय की जहाजरानी बहुत कुछ व्यापारी हवाओं पर अवलम्बित होती थी। जहाज के पाल हवा से भरकर उन्हें आगे चलाते थे। ऐसे समय पतवार लगाने की भी बहुत कम आवश्यकता पड़ती थी। पतवार आड़े और गलही के बीच में होती थी। कर्णधार गलही पर बने एक ऊँचे मचान पर बैठकर पतवार चलाता था। हिपालुस द्वारा मौसमी हवा की खोज से पतवार चलाने की क्रिया पर भी कुछ प्रभाव पड़ा। मौसमी हवा में हवा के रुख से कुछ हटकर पतवार चलाई जाती थी जिससे जहाज सीधा न चलकर दक्खिन की ओर मुड़ जाय। जहाज चलाने की यह क्रिया कुछ तो पतवार के घुमाव-फिराव से और कुछ पाल के हटाने-बढ़ाने से साध ली जाती थी।[2]

रोमन व्यापारियों की यात्रा मायोस-होरमोस (Myos Hormos) अथवा बेरेनिके (पेरिप्लस ३) से शुरू होती थी। यह बन्दर पहली सदी में मिस्र के पूर्वी व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ से जहाज उत्तर-अफ्रिका के बर्बरदेश में पहुँचता था (पेरिप्लस ४)। फिर वहाँ से, वह जहाज अदूलिस पहुँचता था जहाँ आजकल मसावा का बन्दरगाह है, जो हब्श और सूडान के लिए एक प्राकृतिक बन्दरगाह का काम देता है। इस प्रदेश के भीतर कोलो (Coloe) नाम के

---

१. वही, पृ० ४०

२. डब्लू० एच० शॉफ०, दि पेरिप्लस ऑफ दि एरीथ्रियन सी, पृ० २२-२३, न्यूयार्क, १९१२

शहर में हाथीदाँत का काफी व्यापार चलता था। यहाँ के बाद जहाज ओपियन (Opian) पत्थर की खाड़ी में पहुँचता था, जिसकी पहचान रामहन्फिला के उत्तर हौफिल की खाड़ी से की जाती है। यह ऑब्सीडियन पत्थर भारत इटली और पुर्तगाल में मिलता था और शीशा बनाने में उसका काफी उपयोग होता था।

उपर्युक्त प्रदेशों में मिस्री क्षौम, अरसियोन (Arsione) के कपड़े, मामूली किस्म के रंगीन कपड़े, दोहरी झालरवाली क्षौम की चादरें, बिना साफ किया शीशा, अकीक अथवा लोहितांक के असली अथवा नकली प्याले जिसे मुरिया प्याले (Murrhina) कहते थे, लोहा, पीतल और ताँबे की लचीली चादरें आती थीं। इनके अतिरिक्त कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, बर्तन, सिक्के, थोड़ी मात्रा में शराब और जैतून का तेल भी आता था।

अरियाके अथवा खम्भात की खाड़ी के प्रदेश से लाल समुद्र के बन्दरों में भारतीय इस्पात, कपड़े, पटके, चमड़े के कोट तथा मलय कपड़े आते थे (पेरिप्लस, ६)।

हौफिल की खाड़ी से अरब की रास पूरब की ओर मुड़ जाती थी, और उसके तट पर अवलाइटिस (Avalites) पड़ता था, जिसकी पहचान बाबेलमन्देब से उन्नासी मील दूर जैला से की जाती है। यहाँ तरह-तरह के फ्लिन्ट शीशे, थेबीज के खट्टे अंगूर का रस, बर्बरों के लिए एक खास तरह का कपड़ा, गेहूँ, शराब और कुछ राँगे का आयात होता था। यहाँ से ओसिलिस और मूजा को हाथीदाँत, कछुए की खपड़ियाँ और थोड़ी-मात्रा में मुरा और लोहबान जाते थे।[1]

अवलाइटिस से करीब अस्सी मील पर, (आधुनिक ब्रिटिश सुमालीलैण्ड में बर्बर बन्दरगाह) मालो से, जहाँ से भीतरी व्यापार के लिए आज दिन भी कारवाँ चलते हैं, जहाज से मुरा और लोहबान का निर्यात होता था।

मालो से चलकर जहाज मुण्डुस पहुँचता था, जिसकी पहचान बन्दरहैस से की जाती है। मुण्डुस से दो या तीन दिन की यात्रा के बाद जहाज मोसिल्लम (Mosyllum, रासहन्तारा) पहुँचता था। यहाँ दालचीनी का व्यापार यथेष्ट मात्रा में होता था। यहाँ के बाद छोटीनील (तोकवीना) और केप एलिफैंट (रासफील) के बाद अकानी (Acannae) (बन्दर उलूल) पड़ता था। उसके बाद मसालों की खाड़ी पड़ती थी, जिसकी पहचान गार्दाफुई की खाड़ी से की जाती है। यहाँ लंगर डालने में भय रहता था और इसलिए जहाज तूफान में ताबी (Tabae) (रास चेनारीफ) के अन्दर घुस जाते थे। यहाँ से चलकर जहाज पनाओ (रासहेफा) पहुँचता था जहाँ उसकी दक्षिण-पश्चिमी मौसमी हवा से रक्षा होती थी। यहाँ के बाद ओपोन (रास हाफून) आता था, जो गार्दाफुई से नब्बे मील नीचे है।

उपर्युक्त बन्दरगाहों में अरियाके और बेरिगाजा (भड़ोच) से गेहूँ, चावल, घी, तिल का तेल, शराब, सूती कपड़े और पटके इत्यादि आते थे, (पेरिप्लस, १४)। यहाँ माल लानेवाले भारतीय जहाज, केप गार्दाफुई में माल का हेर-फेर करके, उनमें से कुछ तो किनारे-किनारे आगे बढ़ जाते थे और कुछ पश्चिम की ओर बढ़ जाते थे। पेरिप्लस (२५) के अनुसार, लालसागर के मुहाने पर ओसिलिस उनका अन्तिम लक्ष्य होता था; क्योंकि उसके बाद अरब उन्हें आगे नहीं बढ़ने देते थे। पर भारत और गार्दाफुई के बीच का अधिकतर व्यापार भारतीयों के हाथ में था।

---

१. वही, पृ० ७६ से ७९ तक

कुछ व्यापार अरबों के हाथ में था और पहली सदी में मिस्र के यूनानी व्यापारियों ने भी इसमें कुछ हाथ बँटाया।[1]

ओपोन के बाद, दक्षिण में, अजानिया (हाजिन समुद्रतट) के कगारे पड़ते थे। कगारों के बाद छोटे-छोटे बलुए मैदान (सेफ अलतवील) और इनके बाद अजानिया के बलुए समुद्रतट आते थे। आगे सरापियन (मोगादिशु) और निकन (बरावा) पड़ते थे। अजानिया नाम आधुनिक जंजीबार में बच गया है जिसकी व्युत्पत्ति शायद जंग 'काला' और 'बार' समुद्री किनारा से है।[2] जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, शायद इसी प्रदेश को संस्कृत में गंगण और अपरगंगण कहते थे। अजानिया के बाद पिरलाइ (Pyralai) के टापू (आधुनिक पत्ता, मन्दा और लामू) पड़ते थे। इनके पीछे जहाज चलने का एक सुरक्षित रास्ता था। फिर जहाज औसानी (Ausanitic) समुद्रतट पर, जिसका नाम दक्षिण-अरब के औसन जिले से निकला है, आता था। इसी समुद्रतट पर मेनुथिआस (मोनीफियाड)' पड़ता था। वहाँ से जहाज रहफ्त (Rhapta), जिसकी पहचान आधुनिक किलवा से की जाती है, पहुँचता था। अरब जहाजियों को इस समुद्री किनारे का पूरा पता था।

ओपोन के बाद अधिकतर व्यापार मुजा के कब्जे में था, जिसका मसाला नाम का बन्दर लालसमुद्र पर था। भारतीय माल के लिए रोमन व्यापारी इस बन्दर में न जाकर अदन अथवा डायोसकोर्डिया (Dioscordia) यानी सोकोत्रा जाते थे जहाँ उनकी यूनानी, भारतीय और अरब व्यापारियों से भेंट होती थी। मोचा में तो रोमन व्यापारी भारत से लौटते हुए केवल ठहर भर जाते थे। मोचा अरब व्यापारियों का, जो अपने जहाज भरुकच्छ भेजते थे, मुख्य अड्डा था (पेरिप्लस २१)। यहाँ से स्वीट रश और बोल बाहर भेजे जाते थे।[3]

मोचा के बाद बाबेलमन्देब का जलडमरूमध्य पार करके जहाज डायोडोरस (पेरिम टापू) पहुँचता था। इसके बाद ओकिलिस की खाड़ी (शेख सैयद के अन्तरीप के उत्तर एक खाड़ी) आती थी जो अरबिस्तान के किनारे से निकलती है और पेरिम से एक पतले रास्ते द्वारा अलग होती है। इस बन्दरगाह के आगे भारतीय नाविक नहीं बढ़ते थे। इसके बाद जहाज युडेमन अरेबिया, यानी आधुनिक अदन पहुँचते थे। अदन का बन्दरगाह बहुत प्राचीन काल से पूर्वी व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ से भूमध्यसागर के लिए माल जहाज पर चढ़ाया जाता था। अदन से शायद पूरे यमन का भी मतलब हो सकता है। अदन के बाद जहाज काना (हिस्न गोरब) पहुँचता था। हिपालुस द्वारा मौसमी हवा का पता लग जाने के बाद यात्री अक्सर काना छोड़ देते थे। वे यात्री जो जहाजरानी के मौसम के अन्त में सफ़र करते थे, मोज़ा में जाड़ा बिताते थे। अदन और मोज़ा लोबान के व्यापार के बड़े केन्द्र थे। लोबान यहाँ हद्रमौत से, जिसे लोबान का देश कहते थे, आता था। यहाँ तुरुष्क और घिकुँआर के रस का भी व्यापार होता था।

काना के बाद सचलाइटिस (Sachalites) की खाड़ी पड़ती थी, जिसकी पहचान रास एलकल्ब और रास हसीक के बीच में पड़नेवाले साहिल से की जाती है। इसके बाद जहाज

---

१. वही, पृ० ८८-८९

२ वही, पृ० ९२

३. वही, पृ० ११३-११७

स्यागुस (रासफर्तक) होते हुए डायोस कॉरिडिया पहुँचता था, जिसकी पहचान आधुनिक सोकोत्रा से की जाती है। डायोसकोरिडिया नाम में विद्वानों को मिस्री देवता होर या खोर का नाम मिलता है और बहुत सम्भव है कि सुपारकजातक का खुरमाली समुद्र यही हो। सोकोत्रा, अगस्टस के आस-पास के समय से ही, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का प्रधान केन्द्र था। यहाँ मिस्र के जहाजी अरब, अफ्रीका, खम्भात की खाड़ी और कच्छ के रन से आये हुए भारतीय व्यापारियों से मिलते थे।[1]

सोकोत्रा के बाद जहाज ओमाना (उमर की खाड़ी), मोज़ा बन्दरगाह (खोररैरी), जेनोबिया के टापू (कुरिया मुरिया), सरापिस (मसिरा टापू) होते हुए मस्कत के उत्तर-पश्चिम कालै (Calae) (देमानियात) द्वीप पहुँचता था[2]। कालै का नाम आधुनिक कल्हात बन्दर में बच गया है। यहाँ से जहाज अपोलोगस (अफरात पर ओबोल्ला का बन्दर), ओम्माना (शायद अबूशहर) होते हुए फारस की खाड़ी में पहुँचता था। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में भारत से ताँबा और चन्दन, सागवान, शीशम तथा आबनूस की लकड़ियाँ आती थीं।

जहाज फारस की खाड़ी में होकर गेड्रोशिया की खाड़ी को, जो रास नूह से केप मोंज तक फैली हुई है, पार करके ओरै (Orae) अथवा सोनमियानी की खाड़ी पहुँचता था और वहाँ से होते हुए वह सिन्धु के बन्दरगाह बार्बरिकोन में जो आज सिन्ध की कीच के नीचे दबा हुआ है, पहुँचता था।

भारतीय बन्दरगाहों के विषय में कुछ बतलाने के पहले हमें लालसमुद्र के व्यापार के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। इस व्यापार की मुख्य बात यह थी कि अरब और सोमाली व्यापारी आपस में समझौता करके भारतीय जहाजों को लालसागर के अन्दर नहीं जाने देते थे, जिसके फलस्वरूप वे ओकेलिस के आगे नहीं बढ़ पाते थे। लेकिन जल्दी ही अरबों और सोमालियों को हब्शी और रोमन व्यापारियों का मुकाबला करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप लालसागर का रास्ता खुल गया और उस रास्ते होकर जल्दी ही भारतीय व्यापारी अदुलिस और सिकन्दरिया के बन्दरगाहों में सीधे पहुँचने लगे। कम-से-कम मिलिन्दप्रश्न से तो यही पता लगता है कि भारतीय नाविकों को सिकन्दरिया का पूरा पता था। रोम-साम्राज्य के यूनानी व्यापारी धीरे-धीरे भारतवर्ष की सीधी यात्रा करने लगे। उनके जहाज अरब के बन्दरगाहों पर कम रुकते थे। वे केवल ओकेलिस पर रुककर तथा अपने जहाजों में ताजा पानी भरकर सीधे भारत की ओर रवाना हो जाते थे। पीछे बहती हुई दक्षिणी-पश्चिमी मौसमी हवा उनके जहाजों को सीधे सिन्धु नदी के मुहाने तक पहुँचा देती थी। सिन्धु के सात मुखों में, बीच के मुख पर, बार्बरिकोन का बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह का नाम शायद उन बाबरियों की वजह से पड़ा जो अब भी सौराष्ट्र में पाये जाते हैं।

पेरिप्लस (३९) से पता चलता है कि बार्बरिकोन के बन्दरगाह में काफी तायदाद में महीन कपड़े, नक्काशीदार क्षौम, पुखराज, तुरुष्क, लोबान, शीशे के बर्तन, चाँदी-सोने के बर्तन और

---

१. वही, पृ० १२१ से १२५

२ वही, पृ० १२७

थोड़ी मात्रा में शराब भी आती थी। इस बन्दरगाह से कुष्ठ, गुग्गुल, लिसियम्, नलद, फिरोजा, लाजवर्द, चीनी कपड़े, सूती कपड़े, रेशम और नील बाहर भेजे जाते थे।

बार्बरिकोन से जहाज भरुकच्छ की ओर चल पड़ते थे। भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त का नाम पेरिप्लस के अनुसार अरियाके और टॉल्मी के अनुसार लारिके था। हम पहले देख आये हैं कि इन प्रदेशों की राजनीतिक और भौगोलिक स्थिति क्या थी। कच्छ के रन को सिकन्दरिया के यवन ईरीनन (Eirinon) कहते थे जो संस्कृत इरिण का रूपान्तर है। आज ही की तरह रन का पानी छिछला था और खिसकते बालू से जहाजरानी में बड़ी मुश्किलें पड़ती थीं। बरका की खाड़ी की विपत्तियों से बचने के लिए जहाज उसके बाहर-बाहर ही रहते थे। पर उसके भीतर चले जाने पर प्रचण्ड लहरों और भँवरों के थपेड़े में पड़कर वे नष्ट हो जाते थे। कुछ जगहों में नुकीले और पथरीले तल होने से या तो लंगर जमीन पकड़ ही नहीं सकते थे अथवा जमीन पकड़ लेने पर उनके खिसक जाने का भय बना रहता था (पेरिप्लस, ४०)। बेरीगाजा या भड़ोच तक जानेवाली खाड़ी बहुत पतली थी और उसके मुहाने पर पानी में छिपा हुआ लम्बा पतला और पथरीला कगार था। किनारों की निचाई के होने से नदी में भी जहाज चलाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था (पेरिप्लस, ४३) इन सब कठिनाइयों से जहाजों की रक्षा करने के लिए ट्राप्पगा और कोटिम्बा की भाँति बड़ी-बड़ी नावों में राज्य की ओर से नदी के मुहाने पर नाविक तैनात रहते थे। ये नाविक समुद्रतट के ऊपर चलकर काठियावाड़ तक पहुँच जाते थे और जहाजों के पथ-प्रदर्शक का काम देते थे। वे खाड़ी के मुहाने से ही जहाजों को पानी के अन्दर छिपे कगार से बचाकर निकाल ले जाते थे और उन्हें भरुकच्छ की गोदियों तक पहुँचा देते थे। वे ज्वार के साथ-साथ जहाजों को बन्दर में ले जाते थे, जिससे वे भाटा के समय तक गोदियों और गर्तों में अपने लंगर डाल सकें। नदी में, भड़ोच तक के तीस मील के रास्ते में बहुत-से गहरे गर्त पड़ते थे (पेरिप्लस, ४४) गहरे ज्वार-भाटा की वजह से इस खाड़ी में पहले-पहल आनेवालों को जहाज चलाने में बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ता था। ज्वार इतने झोंके से आता था कि उसमें फँसकर जहाज टेढ़े हो जाते थे और इस तरह जल में छिपे कगारों में फँसकर नष्ट हो जाते थे। छोटी-छोटी नावें तो एकदम उलट जाती थीं (पेरिप्लस, ४६)।

ऊपर कच्छ के रन तथा खम्भात और भड़ोच की खाड़ियों का जो वर्णन पेरिप्लस ने दिया है उसके सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना आवश्यक है। कच्छ के रन का बलुआ मैदान १४० मील लम्बा और साठ मील चौड़ा है। बरसात में नालियों से समुद्र भीतर आ जाता है और तीन फीट गहरे पानी की चादर छोड़ देता है। लेकिन रन के समतल होने से ऊँटों के कारवाँ हर मौसम में यात्रा कर सकते हैं। ये कारवाँ दिन को कड़ी धूप और मृगमरीचिका से बचने के लिए रात में यात्रा करते हैं। दिशा जानने के लिए ये नक्षत्रों और कुतुबनुमा का सहारा लेते हैं। ऐतिहासिक काल में शायद कच्छ समुद्री व्यापार का एक मुख्य केन्द्र था। आज दिन भी कच्छ के दक्खिनी किनारे पर माण्डवी बन्दर का जंजीबार के साथ काफी व्यापार होता है।

भड़ोच की खाड़ी की प्राकृतिक बनावट के बारे में भी पेरिप्लस से कुछ पता लगता है। पापिका (Papica) के अन्तरीप की पहचान गोपीनाथ पाइण्ट से की जाती है तथा बइओनेस (Baeones) की पहचान नर्मदा के मुहाने के दूसरी ओर पीरम टापू से की जाती है जो

भाजू से ढका रहता है और जिसके चारों ओर पत्थरों की टीक ६० या ७० फीट तक ऊपर उठी हुई है।[1]

भड़ोच और उज्जैन के बीच काफी व्यापारिक सम्बन्ध था (पेरिप्लस, ४८)। उज्जैन से भड़ोच को गुजरात में खपनेवाले हर तरह के माल और यूनानी व्यापारियों के काम के पदार्थ, जैसे, अकीक, लोहितांक, मलमल, मलय वस्त्र तथा अनेक प्रकार के साधारण कपड़े आते थे। उज्जैन तथा उत्तरभारत के पुष्करावती, कश्मीर, काबुल और मध्य एशिया से जटामांसी, कुठ और गुग्गुल आते थे।

भड़ोच के बन्दरगाह में विदेशों से भी तरह-तरह के माल उतरते थे। इनमें विशेष करके इटली, लाओडीस और अरब की कुछ शराब, ताँबा, राँगा, और सीसा; मूँगा और पोखराज; एकसित्ता चौड़े लंबे पटके, तुरुष्क, स्वीटक्लोवर्स, फ्लिंट ग्लास, संखिया, सुरमा, चाँदी-सोने के सिक्के, जिनको देशी सिक्कों में बदलने से फायदा होता था, तथा कुछ औसत कीमत के रोगन होते थे। राजा के लिए चाँदी के कीमती बर्तन, गानेवाले लड़के, महलों के लिए सुन्दर स्त्रियाँ, बढ़िया शराब, बारीक कपड़े और अच्छे-से-अच्छे रोगन आते थे (पेरिप्लस, ४६)।

भड़ोच से निर्यात होनेवाली वस्तुओं में जटामांसी, कुष्ठ, गुग्गुल, हाथीदाँत, अकीक, लोहितांक, लिसियम, सब तरह के कपड़े, रेशमी कपड़े, मलय वस्त्र, सूत, बड़ी पीपल तथा दूसरी चीजें, जो भारत के भिन्न-भिन्न बाजारों से यहाँ पहुँचती थीं, मुख्य थीं (पेरिप्लस, ४६)।

सातवाहनों की राजधानी पैठन और दक्षिणापथ के प्रसिद्ध नगर तगर (तेर) से भरुकच्छ का गहरा व्यापारिक सम्बन्ध था। भड़ोच से पैठन की बीस दिनों की यात्रा थी और वहाँ से पूरब में तगर दस दिनों के रास्ते पर था। एक रास्ता मसुलीपटम् से चलता था और दूसरा विनुकोंड से। ये दोनों रास्ते हैदराबाद के दक्खिन-पूरब में मिल जाते थे। यहाँ से रास्ता तेर, पैठन और दौलताबाद होते हुए मारकिंड (अजन्ता की पहाड़ियाँ) पहुँचता था। यहाँ से पश्चिमी घाट की कठिन यात्रा आरम्भ होती थी जो सौ मील चलकर भड़ोच में समाप्त होती थी सातवाहनों के साम्राज्य का यही प्रसिद्ध राजमार्ग था जो स्वभावत कल्याण में समाप्त होता था।[2] जैसा हम ऊपर कह आये हैं, क्षत्रपों द्वारा कल्याण का अवरोध होने पर इस व्यापारिक मार्ग को घूमकर भड़ोच जाना पड़ा। पेरिप्लस (५१) के अनुसार, पैठन और तेर से बहुत बड़े पैमाने में लोहितांक आता था। तगर से साधारण कपड़े, सब तरह की मलमलें, मलय वस्त्र और बहुत तरह के माल भड़ोच पहुँचते थे।

बेरीगाजा के अतिरिक्त आस-पास में सुप्पारा (सोपारा) और कलिअयेन (कल्याण) व्यापारिक बन्दरगाह थे। पेरिप्लस के समय, कल्याण शायद कनिष्क के अधिकार में था और इसलिए वहाँ व्यापार करने की आज्ञा नहीं थी। यहाँ पर लंगर डालनेवाले यूनानी जहाजों को कभी-कभी गिरफ्तार करके भड़ोच भेज दिया जाता था (पेरिप्लस, ५३)।

कलिअयेन के बाद सेमिल्ला (बम्बई से दक्खिन, चौल), मन्दगोरा (सावित्री नदी के मुहाने पर बानकोट), पालीपटमी (Palaepatmae, आधुनिक दाभोल), मेलिजिगारा (आधुनिक जयगढ़), तोगरम् (देवगढ़), ओराननोबास (Aurannaboas, मालवन),

---

1 वही, पृ० १८४

2 जे० आर० ए० एस०, १६०१, पृ० ५३७-५३९

सेसिक्रिएनी (Sesecrinae, शायद वेनगुर्ला की चट्टानें), एगिडाइ (Aegiidii, गोवा या ऑजीडीव), केनिताई (Canaetae) द्वीप (आयस्टर राक्स, कारवार के समुद्रीमार्ग के पश्चिम में द्वीप-समूह), चेरसोनेसस (Chersonesus, कारवार) तथा श्वेत द्वीप (नित्रान या पीजन आइलैंड) पड़ते थे। इसके बाद ही दमरिका या तामिलकम् का पहला बन्दर नौरा (कनानोर या होणावार) पड़ता था। इसके बाद टिंडिस (पोन्नानी) पड़ता था। मालाबार के प्रसिद्ध बन्दर मुज़िरिस (Muziris) की पहचान क्रैंगनोर से की जाती है और शायद नेलकिण्डा त्रावणकोर में कोट्टायम् के कहीं आस-पास था (पेरिप्लस, ५३)। मुजिरिस में अरबों और यूनानियों के माल से भरे जहाज पड़े रहते थे। यह बन्दर टिंडिस (तुण्डि) से ५० मील तथा एक नदी के मुहाने से दो मील पर था। नेलकिण्डा मुज़िरिस से ५० मील दूर पाण्ड्यों के राज में पड़ता था (पेरिप्लस, ५४)।

नेलकिण्डा के बाद बकरे पड़ता था, जिसकी पहचान अलप्पी के पास पोरकड से की जाती है। यहाँ नेलकिण्डा से बाहर जानेवाले जहाज नदी में चचरी पड़ने से माल बेचने के लिए लंगर डालते थे (पेरिप्लस, ५५)।

उपर्युक्त बन्दरगाहों में बड़े-बड़े जहाज काली मिर्च और तेजपात लेने आते थे। इनमें सिक्के, पोखराज, कुछ पतले कपड़े, मूँगे, गड्डला सीसा, ताँबा, रांगा, सीसा, थोड़ी मात्रा में शराब, संगरफ, संखिया और नाविकों के लिए गेहूँ आता था। उनमें से कोट्टोनारा (उत्तरी मालाबार) की गोलमिर्च, अच्छे किस्म के मोती, हाथीदाँत, रेशमी कपड़े, गंगाप्रदेश से जटामासी, तेजपात, सब तरह के पारदर्शी रत्न, हीरे, नीलम तथा सुवर्णद्वीप और तामिलकम् में मिली कछुए की खपड़ियाँ बाहर भेजी जाती थीं। मिस्र से इस प्रदेश में यात्रा करने का समय जुलाई का महीना होता था (पेरिप्लस, ५६)।

पेरिप्लस के पहले अदन और काना से भारत की यात्रा समुद्रतट पकड़कर चलनेवाले जहाजों से की जाती थी। हिपालस शायद पहला निर्यामक था, जिसने बन्दरगाहों की स्थिति और समुद्रों की जाँच-पड़ताल करके यह पता लगाया कि किस तरह से नाविक समुद्र में अपना सीधा रास्ता निकाल सकते थे। इसीलिए दक्खिन-पश्चिमी हवा का नाम हिपालुस पड़ गया। उसी समय से काना और 'केप ऑफ स्पाइसेज' से डमरिका जानेवाले जहाजों का मुँह हवा से काफी हटाकर रखते थे। भड़ोच और सिन्ध जानेवाले जहाज किनारे से तीन दिन की दूरी पर चलते थे और फिर वहाँ से अनुकूल हवा के साथ समुद्र में काफी दूर जाकर सीधे तामिलकम् की ओर चले जाते थे (पेरिप्लस, ५७)।

चेरबोथ, यानी केरल से बहुत काफी मिर्च आती थी। एक समय केरलकन्याकुमारी से कारवार पाइण्ट तक फैला हुआ था, लेकिन पेरिप्लस के समय में इसका उत्तरी भाग केरलों के हाथ से निकल चुका था और दक्खिणी भाग (दक्खिनी त्रावनकोर) पाण्ड्यों के हाथ में चला गया था। इसलिए तत्कालीन केरल मालाबार, कोचीन और उत्तरी त्रावनकोर तक ही सीमित रह गया था। टिंडिस उसका उत्तरी बन्दरगाह था, लेकिन उसका सबसे प्रसिद्ध बन्दर मुजिरिस था। इस बन्दर में रोमन और अरब जहाज रोम का माल भारतीय माल से बदलने को लाते थे। और नकद रुपये देकर भी माल खरीदते थे। प्लिनी के अनुसार यहाँ पहले-पहल आनेवाले व्यापारी चेरों के साथ बिना बोले व्यापार करते थे। यहाँ अगस्टस के समादर में एक मन्दिर भी था। मुजिरिस के दक्खिन नेलकिंडा के जहाज पोरकड में खड़े होते थे। पेरिप्लस के समय, नेलकिण्डा पाण्ड्यों

के अधिकार में था और इसे मानने का यह कारण है कि पाण्ड्यों को केरलों के प्रति मिर्च के व्यवसाय के कारण ईर्ष्या थी। प्लिनी से यह पता चलता है कि जो यूनानी व्यापारी नेलकिण्डा पहुँचते थे उनसे पाण्ड्य यह कहते थे कि मुजिरिस में माल कम मिलता है।[1]

पाण्ड्य-साम्राज्य उस समय मदुरा और तिन्नवेली तथा त्रावनकोर के भाग में स्थित था तथा मनार की खाड़ी के मोतियों के लिए, जिन्हें कोलकोइ (Colchoi) (कोरकै, ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर) के अपराधी समुद्र से निकालते थे, प्रसिद्ध था। ऐसा पता लगता है कि पेरिप्लस का लेखक नेलकिण्डा के आगे नहीं बढ़ा; क्योंकि उसके नेलकिण्डा के आगे के बन्दरों तथा दूसरी बातों के विवरण में गड़बड़ी है।

यहाँ के बाद पेरिप्लस पाइरोस पर्वत का उल्लेख करता है, जिसकी पहचान वरकल्ली समुद्रतट के बाद अंजेंगो की चट्टानों से की जाती है। इसके बाद परालिया (कुमारी अन्तरीप से आदम के पुल तक) और बलीता (वरकल्ले का बन्दर) पड़ते थे। कन्याकुमारी उस समय भी तीर्थ था। वह सिद्ध पीठ माना जाता था और लोग वहाँ स्नान करके पवित्र जीवन व्यतीत करते थे (पेरिप्लस, ५८-५६)। तामिलकम् में सबसे बड़ा राज्य चोलों का था, जिसका विस्तार पेन्नार नदी और नेल्लोर से पुदुकोट्टै तथा दक्षिण में वैगई नदी तक पड़ता था। इसकी राजधानी अरगरु (उरैयूर, जो सातवीं सदी में नष्ट हो गया) त्रिचनापल्ली का एक भाग था तथा अपनी बढ़िया मलमल और पाक जलडमरूमध्य के मोतियों के लिए प्रसिद्ध था। चोल-मण्डल का सबसे प्रसिद्ध बन्दर कावेरीपट्टीनम् अथवा पुहार (टालमी का कमर) कावेरी नदी की उत्तरी शाखा के मुहाने पर था। चोलमण्डल के दूसरे बन्दरों में पोडुके (पाण्डिचेरी) और सोपत्मा थे। पाण्डिचेरी के पास अरिकमेडु की खुदाई से पता चलता है कि ईसा की पहली सदी में वह एक फलता-फूलता बन्दर था[2]। सोपत्मा की पहचान तामिल-साहित्य के सोपट्टिनम् से और आजकल मद्रास और पाण्डिचेरी के बीच मरकाणम् से की जाती है[3]। इन बन्दरगाहों में दो शहतीरों से बने संगर नाम के डुक्कड चलते थे। सुवर्णद्वीपी और गंगा के मुहाने के बीच चलनेवाले बड़े जहाजों का नाम कोलण्डिया था[4]।

उपर्युक्त संगर जहाज खोखले लट्ठों से बनी दो नावों को जोड़कर बनते थे। इनकी बगलियों में तख्ते और वंश (outrigger) होते थे। ये दोनों नावें एक चबूतरे से, जिसपर एक केबिन बना होता था, जुड़ी रहती थीं। मालाबार के समुद्रतट पर चलनेवाली एक तरह की मजबूत नावों को अब भी जंगर कहते हैं। शायद इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत संघाट से है (पेरिप्लस, ६०)। शायद इस शब्द का चीनी जंक से कुछ सम्बन्ध था।

कोलण्डिया शायद मलयाली शब्द है जिसके मानी जहाज होते हैं। श्रीराजेन्द्र-लालमित्र[5] इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत कोलान्तर पोत से मानते हैं। शायद ये बड़े जहाज कोरकै से विदेशों को जाते थे।

चोलमण्डल में चलनेवाले जहाजों के भारीपन का पता हमें यज्ञश्री शातकर्णि के उन

---

१ वार्मिंगटन, वही, पृ० ५८-५६

२. ऐन्शेयण्ट इण्डिया, १६४६, पृ० ११४

३. के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, दि चोलज. पृ० १, पृ० ३०, मद्रास, १६३५

४. शॉफ, वही, पृ० २४३

५, एण्टिक्विटीज ऑफ उड़ीसा, १, ११५

सिक्कों से चलता है जिनपर दो मस्तूल होते थे। इन जहाजों के नीचे एक शंख और मछली समुद्र के प्रतीक हैं। दोनों छोरों पर उभरा हुआ यह दो मस्तूलवाला जहाज डोरियों और मालों से सुसज्जित होता था[1] (आ० ३ क-ङ)। इस तरह के सिक्के शायद कुछ बाद तक चलते रहे। इस जहाज का मुकाबला मद्रास की मौसाला नाव से किया जा सकता है। इस बेड़े का पेंदा नारियल के जड़े से सिले तख्तों का होता है। पेंदा कम-से-कम अलकतरे से पुता (caulked) और चिपटा होता है। यह जहाज अपने से अधिक बड़े जहाजों की अपेक्षा भी लहरों की चपेट सह सकता है।

पेरिप्लस को सिंहल का कम ज्ञान था। सिंहल का तत्कालीन नाम पालिसिमुण्ड था, पर प्राचीन काल में उसे ताप्रोबेन कहते थे। यहाँ से मोती, पारदर्शी रत्न, मलमल और कछुए की खपड़ियाँ बाहर जाती थीं (पेरिप्लस, ६१)। प्लिनी (६।२२।२४) ने सिंहल की जहाजरानी का अच्छा वर्णन किया है। उसके अनुसार "सिंहल और भारत के बीच का समुद्र छिछला है, कहीं-कहीं तो उसकी गहराई १५ फुट से अधिक नहीं है, पर कहीं-कहीं खालें इतनी गहरी हैं कि उनकी तहों को लंगर नहीं पकड़ सकते। इसीलिए उस समुद्र में चलनेवाले जहाजों में दोनों ओर गलहियाँ होती हैं जिससे उनके बहुत ही सँकरी नदियों में घूमने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इनका वजन ३००० अम्फोरा होता है। समुद्रयात्रा करने में ताप्रोबेन के जहाजी नक्षत्रों की गति नहीं देखते, वास्तव में उन्हें ध्रुव नहीं दिखाई पड़ता। जहाजरानी के लिए वे अपने साथ कुछ पक्षी ले जाते हैं जिन्हें वे समय-समय पर उड़ा देते हैं और उनकी भूमि की ओर उड़ान के पीछे-पीछे चलकर किनारे पर पहुँचते हैं। उनकी जहाजरानी का समय केवल चार महीनों का होता है। वे मकरसंक्रांति के बाद सौ दिन तक, जब उनकी सरदी होती है, समुद्रयात्रा नहीं करना चाहते (दक्खिन-पच्छिमी हवा जून से अक्टूबर तक चलती है)।"

यह बात साफ है कि ईसा की प्रथम सदी में पुराने ढंग की ऐसी यात्रा कम लोग ही करते होंगे; क्योंकि संस्कृत-बौद्ध-साहित्य के अनुसार, जिसका समय ईसा की प्रथम सदियों में पड़ता है, निर्यामक अपने जहाज नक्षत्रों के सहारे चलाते थे।

भारत के पूर्वी समुद्रतट पर चोलमण्डल के बाद, नगरों और बन्दरगाहों का उल्लेख पेरिप्लस (६२) में केवल सरसरी तौर से हुआ है। वह हमारा ध्यान मसालिया यानी मछुलीपट्टन् की ओर खींचता है और हमें बताता है कि वहाँ की मलमल बड़ी मशहूर थी। दोसारेने (तोसलि) अर्थात् उड़ीसा हाथीदाँत के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

पेरिप्लस (६३-६५) से गंगा के मुहाने और उसके बाद के प्रदेश के बारे में भी कुछ सूचना मिलती है। गंगा-प्रदेश से पेरिप्लस का मतलब शायद तामलुक और बंगाल के कुछ और जिलों से, खासकर हुगली से है। इस प्रदेश में भी चीन और हिमालय के तेजपात का, चीनी रेशम और मलमल का रोजगार होता था। यहाँ सुवर्णद्वीप से कछुए की खपड़ियाँ भी आती थीं। गंगा-प्रदेश के उत्तर में चीन और उसकी राजधानी थीनी (शायद नान-किङ्) का उल्लेख है। यहाँ से जल और थल से रेशम, चीनी, कपड़ा और तेजपात का निर्यात होता था; पर चीनी व्यापारी इस देश में बहुत कम आते थे। उनकी जगह बेसाती, जो शायद किरात थे, साल में एक बार चीन से तेजपात लाते थे और उसे गंगटोक के पास चुपचाप बेच देते थे।

---

१. रैप्सन, कायन्स ऑफ आंध्रज, पृ० XXXIV से; मीराशी, जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसाइटी, ३, पृ० ३३-३६

ऊपर के विवरण से पता चलता है कि ईसा की पहली सदी में भारतीय जहाजरानी की काफी उन्नति हुई। बहुत प्राचीन काल से भारतीय जहाजों का सम्बन्ध मलय, पूर्वी अफ्रिका और फारस की खाड़ी से था, पर, अरबों की रोक-थाम से वे उसके आगे नहीं बढ़ते थे। पहली सदी में चत्रपों की आज्ञा से कुछ बड़े जहाज फारस की खाड़ी की ओर जाते थे। भारत के उत्तर-पश्चिमी समुद्रतट से जहाज उत्तर-पूर्वी अफ्रिका के साथ गार्दाफुई तक बराबर व्यापार करते थे; लेकिन इसके लिए भी अरब और अक्सुमियों की आज्ञा लेनी पड़ती थी। इस सदी तक अरब पश्चिम के व्यापार के अधिकारी थे। इसलिए भारतीय व्यापारी ओसेलिस के आगे नहीं बढ़ते थे, गोकि अरब भी उन्हें ओसिलिस के बन्दरगाह का उपयोग कर लेने देते थे। भारतीय समुद्रतट पर तो उन्हें व्यापार करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। बेरिगाजा से कुछ बड़े जहाज अपोलोगोस और ओम्माना जाते थे और कुछ सोमाली बन्दरगाहों और अथ्रूलिस तक पहुँच जाते थे। कोट्टिम्बा और ट्रप्पगा जहाजों के जहाजी भड़ोच के ऊपर जाकर वहाँ से विदेशी जहाजों का पथ-प्रदर्शन करके उन्हें भड़ोच लाते थे। सिन्ध में बार्बरिकोन बन्दर में जहाज अपना माल नावों पर लादते थे। तामिल का माल विदेशों के लिए कोचीन के बन्दरगाहों से लदता था, पर कुछ यूनानी जहाज नेलकिण्डा तक पहुँच जाते थे। सिंहल के समुद्र में तेतीस टन के जहाज चलते थे जिनकी वजह से गंगा के मुहाने से सिंहल तक की यात्रा में बड़ी कमी आ गई थी (प्लिनी, ६।८२)। चोलमण्डल में जहाज बड़ी कसरत से चलते थे। मालाबार के समुद्रतट से जहाज कमरा, पोडुचे और सोपत्मा के बन्दरगाहों में पहुँचते थे। चोलमण्डल के उत्तर में, सातवाहनों के राज्य में, दो मस्तूलवाले जहाज बनते थे। इसके उत्तर में तामलुक की जहाजरानी भी बहुत जोरों पर थी।

उस युग के यूनानी जहाज काफी बड़े होते थे और इनके साथ सशस्त्र रक्षकों के दल भी होते थे। एक समय ऐसा आया कि भारतीय राज्यों ने न केवल सशस्त्र विदेशी जहाजों का भारत के समुद्रतट पर आना रोक दिया; बल्कि इस बात की आज्ञा भी जारी कर दी कि हर विदेशी व्यापारी केवल एक जहाज भारत भेज सकता है[1]। इस आज्ञा के बाद मिस्री व्यापारी अपने जहाज और भी बड़े बनाने लगे और उनमें सात पाल लगाने लगे। उनके जहाजों पर, जिनका वजन दो सौ से तीन सौ टन तक होता था, काफी यात्री भी सफर करते थे[2]।

मिस्र और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने से भारत में बहुत-से रोमन नागरिक बसने लगे। पहली सदी के एक रोमन पेपिरस में इरिडकन नामक एक स्त्री का पत्र है जो उसने अपनी सहेली को लिखा था। इरिडकन शायद भारत में रहनेवाले किसी यूनानी की भारतीय पत्नी थी। तामिलकम् में रहनेवाले यूनानी असली रोमन न होकर रोमन प्रजा थे। रोम और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के बारे में हम इतना कह सकते हैं कि रोम और भारत के बीच का व्यापार यूनानी, शामी और यहूदी व्यापारी चलाते थे और उनमें से बहुत-से भारत में रहते भी थे। पाण्डिचेरी के पास वीरमपटनम् की खुदाई से यह पता चलता है कि वहाँ रोमन व्यापारियों का बड़ा अड्डा था।

मौसमी हवा का पता लग जाने पर भारतीय जहाजरानी ने क्या उन्नति की—इसका ठीक पता नहीं चलता, पर इतना तो अवश्य हुआ कि भारतीय व्यापारी अफ्रिका

---

१. फाइलोस्ट्राटोस, अपोलोनियस ऑफ टायना, ३, ३५

२. वार्मिंगटन, वही, पृ० ११—१७

के पूर्वी समुद्रतट को शत्रचीनी भेजने के लिए बड़े जहाज बनाने लगे। रोमन-साम्राज्य स्थापित होने पर तो इस देश की व्यापारिक मनोवृत्ति में काफी अभिवृद्धि हुई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इस युग के भारतीय साहित्य में भी चीन से सिकन्दरिया तक के प्रधान बन्दरगाहों और देशों के नाम आने लगे। मौसमी हवा का पता चल जाने से अरबों का व्यापारिक अधिकार टूट गया और बहुत-से भारतीय मिस्र जाने लगे। वेस्पेसियन की गद्दी के समय डियन क्राइसोस्टोम ने सिकन्दरिया के बन्दर में दूसरे व्यापारियों के साथ भारतीय व्यापारियों को भी देखा। उसका यह भी कहना था कि उसने भारतीय व्यापारियों से भारत की अजीब कहानियाँ सुनी थीं और उन व्यापारियों ने उससे यह भी कहा था कि व्यापार के लिए जो थोड़े से भारतीय मिस्र आते थे उन्हें उनके देशवासी नीची निगाह से देखते थे। लगता है कि इस युग में भी गौतम-धर्मसूत्र को, जिसके अनुसार समुद्र यात्रा अविहित है, माननेवाले इस देश में थे। एक लेख से, जो बेरेनिके के पास रेडिसिया में पान के मन्दिर से मिला है, पता चलता है कि भारत और सिकन्दरिया के बीच यात्रा करनेवाला एक सुबाहु नामक यात्री था। पर रोम में तो सिवा दूत, दास, महावत और बाजीगरों के दूसरे भारतीय कम जाते थे[1]।

दूसरी सदी में भारतीय पथ-पद्धति और व्यापार में जो हेर-फेर हुआ उसका विवरण हमें टाल्मी के भूगोल से मिलता है। टाल्मी हमें उत्तर-पश्चिमी भारत में कुषाणों के अधिकृत प्रदेशों के नाम देता है। सिन्धु के सप्तमुखों का उल्लेख आता है। पाताल भी तब तक था। पर बर्बर यानी बार्बरिकोन के बाजार, मोनोग्लोस्सोन में चला गया था। इसके बाद भीतरी शहरों का उल्लेख है। मथुरा और कश्मीर के अट्ठारह नगरों का उल्लेख है। गंगा की घाटी का कम वर्णन है, क्योंकि वहाँ तक रोमन यात्री नहीं पहुँचे थे। टाल्मी द्वारा पश्चिमी समुद्रतट के वर्णन से हमें पता लगता है कि सेमिला (चौल) साधारण बाजार न रहकर भड़ोच की तरह पुटभेदन (एम्पोरियम) बन गया था। शायद इसका कारण रुई के व्यापार में बढ़ती थी। चष्टन का, उस समय, नौ भीतरी शहरों पर अधिकार था। राजधानी उज्जैन में थी और शायद वहाँ तक यूनानी व्यापारी पहुँच जाते थे। सात नगरों का एक दूसरा समूह जिसमें पेरिप्लस के पैठन और तगर भी हैं, पुलुमावि द्वितीय (करीब १३८-१७० ई०) के अधिकार में था। नासिक के लेखों से पता चलता है कि रमनकों ने नासिक में गुफाएँ बनवाईं। यूनानी व्यापारी शायद आडोनिक्स पर्वत (राजपिप्पला) से भी आगे गये होंगे। वे हीरे की खानों तक भी वे पहुँचे होंगे[2]।

टाल्मी ने कोंकण को जल-डाकुओं का प्रदेश कहा है। उसमें के अनेक नगरों का उसने उल्लेख किया है। मित्र (पिजन आइलैंड) एक बड़ा बन्दर था। ऐसा पता चलता है कि जल-डाकुओं का उपद्रव, जो पेरिप्लस के समय में कल्याण से पोन्नानी नदी तक फैला हुआ था, टाल्मी के समय शायद रुक गया था। पर हम दृढ़ता के साथ ऐसा नहीं कह सकते।

टाल्मी तामिलकम् के राज्यों का भी काफी उल्लेख करता है। उससे हमें पता चलता है कि दूसरी सदी में भी मुजिरिस केरल का एक ही विहित बन्दर था। नेलकिण्डा और बकरेस अब विहित बंदरगाह नहीं रह गये थे। टिण्डिस तो समुद्र तट का एक शहर मात्र बच गया था। इस प्रदेश के चौदह शहरों में पुन्नाट (शायद सेरिंगापटम, अथवा कोट्टूर के पास कोई स्थान)

---

1 वही, पृ० ७१—७८

2 वही, पृ० ११२

से वैडूर्य निकलता था। करूर जिसे एक समय वंजी अथवा कस्तूर कहते थे और अब जो क्रॅगनोर के पास कस्तूर कहलाता है, टाल्मी के समय में चेरों की राजधानी थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि कोयम्बतूर की वैडूर्य की खानें तामिलकम् के सब लोगों के लिए समान भाव से खुली थीं।[1]

हम ऐसा कयास कर सकते हैं कि चेरों के हाथ में काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार था, पाण्ड्यों के हाथ में मोती का और चोलों के हाथ में वैडूर्य और मलमल का। टाल्मी के अनुसार, पाण्ड्यों का राज्य छोटा था और उसके समुद्रतट पर दो बन्दरगाह एलानकोरोस या एलानकोन (क्विलन) और कोलकोइ थे। पाण्ड्यों की राजधानी कोट्टियारा (कोट्टार) में थी। कन्याकुमारी भी उनके अधिकार में थी। राज्य के अन्दर सबसे बड़ा शहर मदुरा था[2]।

टाल्मी के कन्याकुमारी और कलिंगिकोन की खाड़ी (कालिमेर की खाड़ी) के बाद भारत के पूर्वी समुद्रतट के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि रोमन और यूनानी वहाँ खूब यात्रा करते थे और उस समय चोलों का पतन हो रहा था। चोलों की राजधानी ओरथूरा (उरैयूर) में थी। टाल्मी के अनुसार चोल फिरन्दर बन चुके थे। शायद इसका कारण पाण्ड्यों द्वारा उरैयूर का समुद्रतट और पाक-जलडमरूमध्य पर, जहाँ से मोती निकलते थे, कब्जा हो जाना था। टाल्मी के दूसरे चोल बन्दरों में निकामा (नेगापटम्), चाबेरी (कावेरीपट्टीनम्), सुबुरा (कड्डलोर ?), पोदुके (पाण्डिचेरी), मेलांगे (कृष्णपटनम्) थे। सातवाहनों के समुद्रतट पर मैसलोस (मसुलीपटन), कण्टकोस्सुल (घण्टासाल) और अलोसिंगी (कोरिंग ?) के बन्दर पड़ते थे। टाल्मी को आन्ध्र के बहुत-से शहरों का भी पता था।[3]

गंगा की खात के बहुत-से शहरों का नाम भी टाल्मी ने दिया है, लेकिन उसमें पलुर (दंतपुर, कलिंग की राजधानी) और तिलोग्रामन नाम के दो शहर हैं, पत्तन एक भी नहीं। टाल्मी पलुर को गंगा की खात के मुहाने पर समुद्रप्रस्थानपट्टन (apheterium) के उत्तर में रखता है जहाँ से सुवर्णद्वीप केलिये जहाज समुद्र का किनारा छोड़कर गहरे समुद्र में चले जाते थे। श्री सिलवाँ लेवी के अनुसार[4] पलुर यानी दन्तपुर चिकाकोल और कलिंगपटनम् के पड़ोस में कहीं था। कृष्णा नदी के बाद के समुद्री तट का टाल्मी में उल्लेख नहीं है, क्योंकि मौसालिया (कृष्णा नदी) के मुहाने को छोड़ने के बाद जहाज सीधे उड़ीसा चले जाते थे।

अडमस नदी की पहचान सुवर्णरेखा अथवा ब्राह्मणी की संक शाखा से की जाती है जहाँ मुगलकाल में भी हीरे मिलते थे। सबरी (शायद सम्भलपुर) में भी हीरे मिलते थे और जहाँ से तेजपात, नलद, मलमल, रेशमी कपड़े और मोती बाहर जाते थे। शायद यूनानी लोग व्यापार के लिए वहाँ जाते थे। टाल्मी इस प्रदेश के उन्नीस शहरों के नाम देता है जिनमें गंगे (तामलुक) और पालीबोथ्र (पाटलिपुत्र) मुख्य थे।[5]

---

१ वही, पृ० ११३

२ वही, पृ० ११४

३. वही, ११५—११६

४. बागची, प्री आर्यन एंड प्री ड्रवीडियन, पृ० १६३—६४

५. वार्मिंगटन, वही, पृ० ११७

टाल्मी सिंहल का, जिसे वह सलीचे कहता है, काफी वर्णन देता है। उससे हमें पता चलता है कि वहाँ से चावल, सोंठ, शक्कर, वैडूर्य, नीलम और सोना-चाँदी बाहर जाते थे। उस समय सिंहल में मोडुट्टन (कोलंबो ?) और तारकोरी (मनार) दो बड़े बन्दर थे। टाल्मी के पहले रोमन यात्री सिंहल बहुत कम जाते थे। टाल्मी के बाद रोम और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध ढीला पड़ गया। इसलिए सिंहल और रोम का व्यापारिक सम्बन्ध सीधा नहीं रह गया। पर जैसा कि कासमस इण्डकोप्लायस्टस से पता चलता है, छठीं सदी में सिंहल भारतीय समुद्री व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया था[१]।

भारत और रोम के साथ समुद्री व्यापार की कहानी पूरी करने के पहले हम उसके खतरों की ओर भी इशारा कर देना चाहते हैं। जहाजों को तूफानों का भय तो बना रहता ही था; पर समुद्री जानवरों का भय भी कम नहीं था। प्लिनी (६।२) ने भी इस ओर इशारा किया है। हिन्दमहासागर में सोर्ड-फिश और ह्वेल का वर्णन है। ये विशालकाय जीव बहुधा बरसात में निकलते थे। सिकन्दर के जहाजों को भी इन भयंकर जीवों का सामना करना पड़ा था। चिल्लाने और शोर मचाने से भी ये जीव भागनेवाले नहीं थे। इसलिए इन्हें भगाने के लिए नाविकों को बल्लमों का सहारा लेना पड़ा। उस समय का विश्वास था कि इन समुद्री जीवों में कुछ के सिर घोड़े, गधे और बैल के सिर की तरह होते थे। हिन्दमहासागर विशालकाय कछुओं के लिए भी प्रसिद्ध था। भारतवासियों का भी समुद्र के इन अलौकिक जानवरों की सत्ता पर पूरा विश्वास था, क्योंकि पहली सदी और इसके पहले के अर्द्धचित्रों में भी हम इन विचित्र प्रकार के जीवों का चित्रण देख सकते हैं। इन समुद्री अलंकारों से भी यह पता चलता है कि समुद्री व्यापारियों का प्राचीन स्तूपों के उठवाने में बड़ा हाथ था।

अपने भूगोल के सातवें खंड के दूसरे अध्याय में टाल्मी गंगा के परली ओर के देशों का वर्णन करता है। भारत के पूर्व में यात्रा करते समय, यूनानी व्यापारियों की इच्छा माल पैदा करनेवाले देशों के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की होती थी। इसके अतिरिक्त मलय-प्रायद्वीप से आनेवाली कछुए की खपड़ियों की, जो इरावदी के मुहाने पर मिलती थीं, रोम में बड़ी माँग थी। टाल्मी के समय तक कुछ यूनानी व्यापारी वहाँ रहने लगे थे और उन्हीं के दिये समाचारों के आधार पर उसने वहाँ का भूगोल बनाया। इस प्रकार परि-गंग-प्रदेश की सीमा कट्टिगारा (शायद कैंटन) तक थी। यात्री पलुर से चलकर साडा (शायद सैंडोवे के उत्तर थाडे) पहुँचते थे और वहाँ से केप नेग्रेस होते हुए मलय-प्रदेश में पहुँच जाते थे। इस यात्रा का एक दूसरा भी मार्ग था, जिसके द्वारा यात्री मसुलीपट्टम् जिले के अलोसिंगी (कोरिंग) से कुछ ही दूर हटकर बंगाल की खाड़ी पार करके मलय पहुँच जाते थे। मलाया के आगे जबी (कोचीन-चाइना के दक्खिनी सिरे के कुछ ही पास) पहुँचने तक सिकन्दर नामक यात्री को बीस दिन लगे और कुछ ही दिनों बाद वह कट्टिगारा पहुँच गया। टाल्मी के बृहत्तर भारत के भूगोल में इसलिए बड़ी गड़बड़ी पड़ गई है कि उसने, भूल से, स्याम की खाड़ी के बाद का समुद्रतट दक्खिन की ओर समझ लिया और इसलिए चीन पश्चिम में आ गया। गंगा के सीधे पूरब में बाराक्यूरा का बाजार था जो शायद चटगाँव से दक्खिन-पूरब ६८ मील पर पड़ता था। इसके बाद रजतभूमि पड़ती थी (आराकान और पेगू का कुछ भाग), जिसमें बेराबोन्न (ब्रा ? अथवा सैंडोवे) और

---

१. वही, पृ० ११७

वेसिंगा (बसेन, पालि वेसुंग) थे। सुवर्णभूमि में दो बन्दर तकोला (स्याम में तकोपा) और सबंग (स्तुंग अथवा थातुंग) पड़ते थे। सबरकोस की खात मलक्का के डमरूमध्य के मुहाने से लेकर मर्तबान की खात का भाग था। पेरिमूलि खात की पहचान स्याम की खात से की जाती है। इसके बाद 'बृहत् खात' चीनी 'समुद्र है। दक्षिण स्याम और कम्बुज में डाकुओं का निवास था। थिपिनोबास्टी (बैंकाक के पास बुंगपासोई) नाम का एक बन्दर था।[1]

दक्षिण से द्वीपान्तर के सीधे रास्ते पर यात्री निकोबार, नियास, सिबिरु, नवारुद्वीप और इयाडियु (यवद्वीप), जहाँ काफी सोना मिलता था और जिसकी राजधानी कानाम-आरगायर था, पहुँचते थे। यवद्वीप को पहचान सुमात्रा अथवा जावा से की जाती है।[2]

तीसरी सदी में, हम रोम-साम्राज्य के पतन की कहानी पढ़ते हैं। इस साम्राज्य की पथ-पद्धति पर अनेक उपद्रव उठ खड़े हुए। भारत का रोम से समुद्री रास्ता बंद हो गया और फिर से सब व्यापार अरब और अक्सुमियों के हाथों में चला गया। ससानियों का फारस की खाड़ी तथा स्थल-मार्गों पर चलनेवाले रेशम के व्यापार पर पूरा अधिकार हो गया। बाद के लातिनी साहित्य में पुन. भारतवर्ष वास्तविकता से हटकर कथा-साहित्य के क्षेत्र में आ गया।

हम ऊपर रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध की व्याख्या कर आये हैं। भारत से रोम और रोम से भारत कौन-कौन-से माल आते थे, इसका भी हमने कुछ प्रसंगवश वर्णन कर दिया है। इस व्यापार में जितने तरह के माल होते थे उनका सांगोपांग वर्णन शॉफ ने अपने 'दि पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' और वार्मिंगटन ने 'दि कामर्स बिट्वीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया' (पृ० १४५-२७२) में कर दिया है। इस बारे में भारतीय साहित्य प्रायः मौन है। इसलिए हमें लातिनी साहित्य से इस बात को जानना आवश्यक हो जाता है कि इस देश के आयात-निर्यात में कौन-कौन-से माल होते थे।

निर्यात

दास—भारतीय दास रोमन-साम्राज्य की स्थापना के पहले भी रोम पहुँचते थे। टाल्मी फिलाडेल्फोस के जुलूस में भारतीय दासों के प्रदर्शन का उल्लेख है। थोड़े-से दास सोकोतरा भी पहुँचते थे। रोम में कुछ भारतीय महावत और ज्योतिषी भी रहते थे।

पशु-पक्षी—भारतीय पशु-पक्षी स्थलमार्ग से रोम जाते थे। पर इनकी संख्या बहुत कम होती थी। रोमन लोग सिवा सुग्गों और बन्दरों के भारतीय पशु-पक्षी केवल प्रदर्शन के लिए मँगवाते थे। लेम्पोस्कस से मिली एक चाँदी की थाली प्रो० रोस्तोवत्जेफ के अनुसार[1] दूसरी या तीसरी सदी की है (आ० ४)। इस थाली में भारतमाता एक भारतीय कुरसी पर, जिसके पाये हाथी दाँत के हैं, बैठी हैं। उनका दाहिना हाथ कटक-मुद्रा में है, जिसका अर्थ स्वीकृति होता है, और उनके बायें हाथ में एक धनुष है। वे एक महीन मलमल की साड़ी पहने हैं और उनके जूड़े से ईख के दो टुकड़े बाहर निकले हैं। उनके चारो ओर भारतीय पशुपक्षी, यथा—एक सुग्गा, मुनाल

---

१ वही, पृ० १२७-१२८

२ वही, पृ० १२८-१२९

१ रोस्तोवोत्जेफ, दि एकोनामिक हिस्ट्री ऑफ दि रोमन एम्पायर, पृ० XVII का का विवरण, आक्सफोर्ड, १९२६

(guinea-fowl) और दो कुत्ते (रोस्तोवोत्जेफ के अनुसार, बन्दर) हैं। उनके पैर के नीचे दो भारतीय पशु—एक पालतू शेर और एक चीता पड़े हैं। इस थाली से पता लगता है कि रोमनों को भारत की चीजों से कितना प्रेम था। भारतीय सिंह तथा लकड़बग्घे पह्लवदेश में जाते थे। भारतीय दूत कभी-कभी शेर भेंट करते थे।

रोम में शायद भारतीय शिकारी कुत्ते भी आते थे। हेरोडोटस के समय, एक ईरानी राजा ने अपने भारतीय कुत्तों के लिए चार गाँव की उपज अलग कर दी थी। ई० पू० तीसरी सदी के एक पेपिरस से पता चलता है कि जेनन नाम के एक यूनानी ने अपने भारतीय कुत्ते की मृत्यु पर दो कविताएँ लिखी थीं जिसने अपने मालिक की जान एक जगली सूअर से बचाई थी। केकय देश के महल के कुत्तों का वर्णन रामायण में है। गैंडे और हाथी भी भारत से कभी-कभी आते थे।

भारत से रोम, कम-से-कम, तीन तरह के सुग्गे आते थे। दूसरी सदी में आराकान के काकातुए भी वहाँ आते थे। गेहुँअन साँप और छोटे अजगर भी लाये जाते थे।

प्लिनी और पेरिप्लस से हमें पता चलता है कि चीनी खालें, समूर और रंगीन चमड़े सिन्ध के बन्दरगाह से बार्बरिकोन से बाहर भेजे जाते थे। उत्तर-पश्चिमी भारत से पूर्वी अफ्रिका जानेवाले सामानों में बकरों की खालें होती थीं। शायद इसमें कुछ माल तिब्बत का भी होता रहा हो।

कस्मीर, भुटान और तिब्बत की पश्म शाल बनाने के काम में आती थी। इसे मारकोकोरम लाना कहते थे। यहाँ मारकोकोरम का मतलब शायद काराकोरम से है। केवल बिना रंगा पश्म रोम जाता था। शायद आरम्भ में मुस्क भी रोम को जाता था। रोम में भारत और अफ्रिका के हाथीदाँत का व्यवहार साज सजाने के लिए होता था। यूनानी लोग भारतीय हाथीदाँत का व्यवहार मूर्त्तियों में पच्चीकारी के लिए भी करते थे। रोम में हाथीदाँत मूर्त्ति, साज, पोथी की पटरियों, बाजे और गहने बनाने के काम में आता था। भारतीय हाथीदाँत जल और थल-मार्गों से रोम पहुँचता था। पेरिप्लस के समय, अफ्रीकी हाथीदाँत का व्यवहार अदूलिस में होता था; पर भारतीय हाथीदाँत भरुकच्छ, मुजिरिस, नेलकिण्डा और देसेरेन से बाहर जाता था। लगता है, हाथीदाँत की बनी मूर्त्तियाँ भी कभी-कभी भारत से रोम पहुँच जाती थीं। ऐसी ही एक मूर्त्ति पाम्पियाई की खुदाई से मिली है।

हिन्दसागर के कछुए की खपड़ियाँ अच्छी मानी जाती थीं। पर सबसे अच्छी खपड़ियाँ सुवर्णद्वीप से आती थीं। रोम में इससे वेनीयर बनाया जाता था। खपड़ियाँ मुजिरिस और नेलकिण्डा में आती थीं। सिंहल और भारत के पश्चिमी समुद्री तट के आगे के द्वीपों से भी खपड़ियाँ आती थीं और उन्हें यूनानी व्यापारी खरीदते थे।

रोमन लोग साधारण तरह के मोती लालसागर से और मिस्र के अच्छे मोती फारस की खाड़ी में बहरैन द्वीप से लाते थे, पर रोम में अधिकतर मोती भारत से आते थे। मनार की खाड़ी मोतियों के लिए प्रसिद्ध थी। पेरिप्लस और प्लिनी दोनों को पता था कि मोती के सीप पाण्ड्यदेश में कोलके से निकलते थे और इनके निकालने काम अपराधियों से लिया जाता था। ये मोती मदुरा के बाजारों में बिकते थे। उरैयूर और कावेरीपट्टीनम् में बिकनेवाले मोती पाक-जलडमरूमध्य से निकलते थे। यूनानी व्यापारी मनार की खाड़ी और पाक के अच्छे मोतियों के साथ-साथ तामलुक, नेलकिण्डा और मुजिरिस के साधारण मोती भी खरीदते थे। भड़ोच में

फारस की खाड़ी से भी अच्छे मोती आते थे। रोम की रँगीली औरतों को बराबर मोतियों की चाह बनी रहती थी। मोती के सीपों का प्रयोग पच्चीकारी में होता था।

छठीं सदी में दक्षिण-भारत से बाहर शंख जाने का उल्लेख मिलता है। मनार की खाड़ी के शंख से अब भी बरतन, गहने, बाजे इत्यादि बनते हैं। हमें इस बात का भी पता है कि कोरकै और कावेरीपट्टीनम् के शंख काटनेवाले प्रसिद्ध थे।

रोम में चीनी रेशमी कपड़े ईरान के रास्ते कौशेय मार्गों से आते थे। पेरिप्लस के समय में, सिन्ध के बन्दरगाह बार्बरिकोन से रेशमी कपड़े रोम भेजे जाते थे। पर अधिक कीमत के कपड़े बलख से भड़ोच पहुँचते थे। मुजिरिस, नेलकिण्डा और मालाबार के दूसरे बाजारों में रेशमी कपड़े गंगा के मुहाने से पूर्वी समुद्रतट पर होते हुए आते थे। शायद इस तरह के चीनी कपड़े या तो समुद्र के रास्ते आते थे अथवा युन्नन और आसाम के रास्ते ब्रह्मपुत्र के साथ-साथ बंगाल की खाड़ी पर पहुचते थे अथवा सिगान-फू-लान-चौउ-फू-ल्हासा-चुम्बी घाटी और सिक्किम के रास्ते बंगाल पहुँचते थे।

लाह शायद भारत, स्याम और पेगू से आती थी। भारत से जानेवाली वनस्पतियों का जड़ी-बूटियों की तरह रोम में प्रयोग होता था। यातायात की कठिनाइयों से उनकी कीमतें बहुत बढ़ जाती थीं।

भारत से रोम के व्यापार में काली मिर्च का मुख्य स्थान था। मिर्च का निर्यात मालाबार के बन्दर मुजिरिस, नेलकिण्डा और टिण्डिस से होता था। तामिल-साहित्य से हमें पता चलता है कि किस तरह सोना देकर यूनानी व्यापारी मिर्च खरीदते थे। बड़ी पीपल का निर्यात भड़ोच से होता था।

मिर्च के अतिरिक्त सोंठ और इलायची भी रोम को जाती थीं। दालचीनी का प्रयोग रोमन लोग मसाला तथा धूप इत्यादि के लिए करते थे। यह चीन, तिब्बत और बर्मा से आती थी। अरब लोग दालचीनी की उपज छिपाने के लिए पहले उसे अरब और सोमालीलैण्ड की वस्तु बताते थे। तेजपात जिसे यूनानी में मालाबाथ्रम कहते थे, शायद चीन से स्थलमार्ग होकर भारत में आता था और फिर रोम जाता था जहाँ उसका प्रयोग मसाले की तरह होता था। नलद (जटामासी) का तेल रोम में अलबास्टर के बोतलों में बन्द रखा जाता था। पेरिप्लस के अनुसार पुष्करावती से भड़ोच आनेवाली जटामासी तीन तरह की होती थी। पहली क़िस्म अटक से आती थी, दूसरी हिन्दूकुश से और तीसरी काबुल से। जटामासी के तेल के साथ यूनानी व्यापारी लेमन ग्रास और जिंजर ग्रास के तेल भी शामिल कर लेते थे। बार्बरिकोन, तामलुक, मुजिरिस और नेलकिण्डा से जानेवाला तथाकथित जटामांसी का तेल इसी तरह का होता था। कश्मीर में होनेवाले कुठ का व्यवहार रोम में मलहम, दवाओं और शराब को सुगन्धित करने के लिए होता था। यह पाताल, बार्बरिकोन और स्थलमार्गों से बाहर भेजा जाता था।

प्लिनी के समय में रोम में भारत अथवा उससे भी दूर देशों के बने शेखरकों की माँग थी। ये शेखरक अधिकतर जटामांसी की पत्तियों अथवा अतर में भिगोए हुए रंग-बिरंगे रेशमी कपड़े की चिन्दियों से बनते थे। महावस्तु (२, पृ० ४६२) में इस तरह के शेखरकों को गन्धमुकुट कहा गया है। इन्हें मालाकार बेचते थे।

भारत से लवंग भी जाती थी। गुगुल का निर्यात बार्बरिकोन और भड़ोच से होता था। सबसे अच्छा गुगुल बलख से आता था। सफेद डामर और हींग बिचवइयों द्वारा रोम पहुँचती

थी। नील का निर्यात वार्बरिकोन से होता था। लीसियम हिमालय के रेजिन बारबेरी से निकला हुआ एक पीला रंग होता था। इसे ऊँट और भैंसों के चमड़ों में भरकर वार्बरिकोन और भड़ोच से बाहर भेजा जाता था। भारत से तिल का तेल तथा शक्कर पूर्वी अफ्रिका के बन्दरगाहों में जाती थी।

हम देख आये हैं कि भारत से सूती कपड़े बहुत प्राचीन काल में बाहर जाते थे। मौसमी हवा की जानकारी के पहले यहाँ से बहुत कम सूती कपड़ा बाहर जाता था। पर इसका पता चल जाने पर भारतीय कपड़ों की माँग विदेशों में बहुत बढ़ गई थी। भारत की मलमल रोम में विख्यात थी। पेरिप्लस के अनुसार, सबसे अच्छी मलमल का नाम मोनोचे था। सगमो-तोगेने एक मामूली तरह का खद्दर था। ये दोनों तरह के कपड़े मलंय (मोलोचीन) के साथ भड़ोच से पूर्वी अफ्रिका भेजे जाते थे। उज्जैन और तगर से भी बहुत कपड़ा भड़ोच आता था और वहाँ से अरब जाता था। ये कपड़े मिस्र भी जाते थे। सिन्ध से भी एक तरह की मलमल का निर्यात होता था। त्रिचनापली की अरगरिटिक मलमल मशहूर थी। सिंहल और मसली-पट्टम् में भी अच्छी मलमलें बनती थीं। पर सबसे अच्छी मलमल बनारस अथवा ढाका की होती थी। लातिन में इन्हें वेंटस टेक्सटाइलिस यानी हवा की तरह का वस्त्र अथवा नेबुला कहते थे। मेमफिस और पानोपोलिस के रंग-बिरंगे कपड़ों में भारतीय अलंकारों का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है।

भारत से रोम को दवा तथा इमारती काम के लिए तरह-तरह की लकड़ियाँ जाती थीं। पेरिप्लस के अनुसार, भड़ोच से अपोलोगस और ओम्माना को चन्दन, सागवान, काली लकड़ी और आबनूस जाते थे। फारस की खाड़ी पर सागवान के जहाज बनते थे, काली और गुलाबी लकड़ी से साज बनते थे। पहले ये लकड़ियाँ भड़ोच से जाती थीं, पर बाद में ये कल्याण से जाने लगीं। भड़ोच से चन्दन बाहर जाता था। पूर्वी भारत, असम, चीन और मलाका के अगर की बाहर में बहुत खपत थी। मकर नाम की एक दूसरी लकड़ी भी बाहर जाती थी।

भारत से नारियल का तेल, केले, आड़ू, खूबानी, नींबू, थोड़ा चावल और गेहूँ बाहर जाते थे।

अरबों ने निम्नलिखित वस्तुओं का भी निर्यात भारत से करना शुरु कर दिया था—कपूर, हर का सफ़ूफ, गिनीग्रेन्स (कक़ुली), जायफल, नारियल, इमली, बहेड़ा, देवदार का निर्यास, पान-सुपारी, शीतलचीनी, कालीयक इत्यादि।

प्लिनी ने भारत को रत्नधात्री कहा है। रोमनों को रत्नों की बड़ी चाह थी और भारत ही एक ऐसा देश था जो उन्हें अच्छे से-अच्छे रत्न भेज सकता था। इन रत्नों में हीरे का विशेष स्थान था। कुछ दिनों तक तो केवल राजे ही उसे खरीद सकते थे। पहली सदी में रोम को मुजिरिस और नेलकिण्डा से हीरे आते थे। टालमी के समय, लगता है, महाकोसल और उड़ीसा के हीरे रोम पहुँचते थे।

सार्ड और लोहितांक का लोगों को साधारणतः पता था। रोमन-साम्राज्य में इन पत्थरों का व्यवहार कम होने लगा। प्लिनी के अनुसार, भारतीय सार्ड दो तरह के होते थे—हायसेन्थाइन सार्ड और रतनपुर की खान के लाल सार्ड। पेरिप्लस के अनुसार, यूनानी व्यापारी सार्ड, लोहितांक और अकीक भड़ोच से खरीदते थे। रोमन अक्सर उन्हें किरमान के पत्थर मानते थे, लेकिन प्लिनी का कहना है कि मिस्र भेजने के लिए वे उज्जैन से भड़ोच लाये जाते थे।

यहाँ हमें इस बात का पता चलता है कि किस तरह पह्लव और अरब इस व्यापार को छिपाये हुए थे और किस तरह पेरिप्लस में पहले-पहल हम इस बात का पता पाते हैं कि सिरिहिना के पात्र भारत में मिलते थे। लोहिताक के बने प्यालों का दाम रोम में कयास के बाहर होता था।

प्राचीनकाल में सबसे अच्छा अकीक रतनपुर से आता था। तपाये हुए अकीक भी रोम जाते थे। अगस्टस के युग में ओनिक्स और सार्डानिक्स की काफी माँग थी। इनसे प्याले, शृंगार के उपकरण और मूर्त्तियाँ बनती थीं। सार्डोनिक्स के प्याले तथा जार बनते थे। पहली सदी में निकोलो (ओनिक्स, जिसमें एक काली तह पड़ती थी) की माँग बढ़ गई थी।

कालसिडनी, सेरसा, हरा फाइसोसिव, प्रास्मा, जहरमुहरा, रक्तमणि, हेलियोट्रोप, ज्योतिरस (जेस्पर), लाल ज्योतिरस (हेमिटाइटिस), कसौटी पत्थर, खम्भात और सिंहल की लहसुनियाँ, बैज़ारी की एवेंचुरीन, सिंहल की जमुनियाँ, भारत और सिंहल का पीला और सफेद स्फटिक, बिल्लौर, सिंहल का कोरंड, सिंहल, कश्मीर और वर्मा का नीलम, वर्मा, सिंहल और स्याम के मानिक, बदख्शाँ का लाल, कोइंबटूर का वैडूर्य और पंजाब का अकुआमरीन, बदख्शाँ का लाजवर्द और गार्नेट और सिंहल, बंगाल और वर्मा की तुरमुली भारत से रोम को जाती थी।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं, भारत में बाहर से बराबर दास-दासी आते थे। पेरिप्लस के अनुसार, भड़ोच में राजा के अन्तःपुर के लिए लड़कियाँ भेंट की जाती थीं। अपने साज-सामान के साथ गानेवाले लड़के भी भारत आते थे।

पेरिप्लस के अनुसार, भूमध्यसागर का मूँगा बार्बरिकोन, भरुकच्छ, नेलकिंडा और मुजिरिस के बन्दरों में आता था। मूँगा इतने अधिक परिमाण में भारत आता था कि प्लिनी के समय में भूमध्यसागर से वह करीब-करीब समाप्त हो चुका था। भारत में यूनानी व्यापारी मूँगे के बदले में मोती लेते थे।

रोम-साम्राज्य के पूर्वी भाग से भारत में कपड़ों के आने के भी उल्लेख हैं। पेरिप्लस के अनुसार, कुछ पतला असली और नकली चौम तथा मिस्र के कुछ अलंकृत चौम बार्बरिकोन में आते थे। भड़ोच आनेवाले कपड़ों में सबसे अच्छा कपड़ा राजा के लिए होता था तथा चटक रंग फेंटे, शायद, दूसरों के लिए। अर्सिनोए, स्पेन, उत्तरी गाल और शाम से भी कपड़े भारत आते थे।

भारत के पश्चिमी व्यापार में शराब का भी एक विशेष स्थान था। लाओडीची और इटली की शरावें अफ्रिका और अरब के बन्दरगाहों को भेजी जाती थीं। थोड़ी-सी नामालूम किस्म की शराब बार्बरिकोन बन्दर को आती थी। इटली, लाओडीची, और शायद अरब की खजूरी शराब भड़ोच आती थी; पर वहाँ इटली की शराब लोग विशेष पसन्द करते थे। भड़ोच आनेवाली शरावें मुजिरिस और नेलकिण्डा भी पहुँचती थीं।

भारत में द्रवतुरुष्क, भरुकच्छ और बार्बरिकोन में दवा के लिए आता था।

भारत में स्पेन से सीसा, साइप्रस से ताँबा, लुसिटानिया और गलेशिया से राँगा, किरमान और पूर्वी अरब से अंजन तथा फारस और किर्मानि से मैनसिल और संखिया आता था।

रोम के बने कुछ दीपक और मूर्त्तियाँ भी भारत को आती थीं। ब्रह्मगिरि की खुदाई में कुछ ऐसी ही मूर्त्तियाँ मिली हैं। रोमन-साम्राज्य में कुछ शीशे के बरतन भी आते थे। कुछ बे-साफ शीशा म्युजिरिस और नेलकिण्डा में दर्पण और बरतन बनाने के लिए भी आता था।

सातवाँ अध्याय

संस्कृत और बौद्ध-साहित्य में यात्री

(पहली से चौथी सदी ईस्वी)

जैसा हम छठे अध्याय में देख चुके हैं, भारत के जल और स्थल-पथों तथा व्यापार के इतिहास के लिए हम विदेशी साहित्य का आश्रय लेना पड़ता है; पर जैन, बौद्ध और संस्कृत-साहित्य में भी इस सम्बन्ध में काफी मसाला मिलता है जिसका अध्ययन अभी कम हुआ है। श्री सिलवाँलेवी ने भारतीय साहित्य के आधार पर भारत के भूगोल और पथ-पद्धति पर काफी प्रकाश डाला है। प्राचीन तामिल-साहित्य से भी ईसा की प्रारम्भिक सदियों के व्यापार के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। संस्कृत-बौद्ध-साहित्य तो ईसा की पहली शताब्दियों में रखा जा सकता है; पर जैन-साहित्य का समय जिसमें सूत्र, भाष्य और चूर्णियाँ आ जाती हैं, निश्चित करना आसान नहीं। फिर भी, इनमें अधिकतर साहित्य छठी सदी के बाद का नहीं हो सकता। तामिल-साहित्य के बारे में भी यही कहा जा सकता है। बुधस्वामिन् का बृहत्कथाश्लोक-संग्रह भी शायद ईसा की पाँचवीं या छठी सदी का ग्रन्थ है, पर उसमें बहुत-सा मसाला ऐसा है जो ईसा की पहली सदी में लिखित गुणाढ्यकृत बृहत्कथा से लिया गया है। संघदास-कृत वसुदेवहिण्डी के बारे में भी यही कहा जा सकता है, पर उसमें एक विशेषता यह है कि वह बृहत्-कथा के पास बृहत्कथाश्लोक-संग्रह से भी अधिक है। इन सब स्रोतों के आधार पर हम भारतीय पथ-पद्धति और यात्रियों के अनुभवों का खासा विवरण पा सकते हैं।

बहुत प्राचीन काल से यात्रा और पथों का उल्लेख होने से भारतीय साहित्य में पथ-पद्धति का वर्गीकरण आ गया है। प्राचीन व्याकरण, साहित्य और अर्थ-शास्त्र में भी पथों के वर्गीकरण का उल्लेख है। हम आगे चलकर देखेंगे कि गुप्तयुग के पहले पथों का वर्गीकरण रूढ़िगत हो गया था। महानिद्देस[1] में पथों के वर्गीकरण और और जलमार्गों की ओर हमारा ध्यान पहली बार श्री सिलवाँ लेवी[2] ने खींचा। अट्ठकवग्ग (तिस्समेत्तेय्यसुत्त) के परिकिस्सति (उसे क्लेश पहुँचता है) की व्याख्या करते हुए महानिद्देस का लेखक कहता है कि अनेक कष्टों को सहते हुए वह गुम्ब, तक्कोल, तक्कसिला, कालमुख, मरणपार, वेसुंग, वेरापथ, जव, तमलि, वंग, एलवद्धन, सुवण्णकूट, तम्बपण्णि, सुप्पार, भरुकच्छ, गंगण, परमगंगण, योन, परमयोन, अल्लसन्द, मरुकान्तार, जण्णुपथ, अजपथ, मेण्ढपथ, संकुपथ, मूसिकपथ, और वेत्ताचार में घूमा, पर उसे शान्ति कहीं नहीं मिली।

---

1 महानिद्देस, एल० द० ला० वाले पूसाँ और ई० जे० टामस-द्वारा सम्पादित, भा० १, पृ० १५४-५५ ; भा० २, पृ० ४१४-१५

२ एतूद आसियातीक, भा० २, पृ० १—५५, पारी, १९२५

मिलिन्दप्रश्न[1] में भी महानिद्देस की तरह एक भौगोलिक आधार है। पहले सन्दर्भ में लिखा है—"महाराज, इस तरह उसने एक रईस नाविक की तरह बन्दरगाहों का कर चुकाकर समुद्रों में अपना जहाज चलाते हुए वंग, तक्कोल, चीन, सोवीर, सुरट्ठ, अलसन्द, कोलपट्टन, सुवर्णभूमि और दूसरे बन्दरों की सैर की।"

महाभारत के दिग्विजयपर्व में भी देशी और विदेशी बन्दरों के नाम मिलते हैं। इन बन्दरों के उल्लेख सहदेव की दक्षिण-दिग्विजय के सम्बन्ध में हैं। इन्द्रप्रस्थ से चलकर वह मथुरा-मालवा-पथ से माहिष्मती होकर (म० भा०, २।२८।११) पोतनपुर-पैठन पहुँचा (म० भा०, २।२८।३६)। यहाँ से लौटकर वह शूर्पारक (म० भा० २।२८।४३) पहुँचा। यहाँ से, लगता है, उसकी यात्रा समुद्र-मार्ग से हो गई। सागरद्वीप (सुमात्रा) में उसने म्लेच्छ राजाओं, निषादों, पुरुषादों, कर्णप्रावरणों और कालमुखों को हराया (म० भा० २।२८। ४४-४५)। भीम ने भी अपनी दिग्विजय में बंगाल को जीतकर ताम्रलिप्ति के बाद (म० भा० २। २७।२२) सागरद्वीप की यात्रा की और वहाँ के शासक को हराने के बाद उपायन में उसे चन्दन, रत्न, मोती, सोना, चाँदी, मूँगे, और हीरे मिले (म० भा० २।२७।२५-२६)। वहाँ से वह कोल्लगिरि और मुरचीपट्टन लौटा (म० भा० २।२७।४५)। वहाँ से वह ताम्रद्वीप (खम्भात) पहुँचा (म०भा०२।२७।४६)। शायद रास्ते में उसने संजयन्ती (संजाण) को जीता (म० भा० २।२७।४७)। इसके बाद दिग्विजय की दिशा गड़बड़ा जाती है। पाण्ड्य, द्रविड़, ओड्र, किरात, आन्ध्र, तलवन, कलिंग और उष्ट्रकर्णिक, ये सब भारत के पूर्वी समुद्रीतट पर पड़ते हैं (म० भा० २।२७।४८)। पश्चिमी प्रदेश का ज्ञान हमें अन्ताखी (Antioch), रोमा (Rome) और यवनपुर (सिकन्दरिया) से होता है (म० भा० २।२७।४९)। इस तरह हम देख सकते हैं कि महाभारतकार को ताम्रलिप्ति से होकर और भरुकच्छ से होकर सागरद्वीप के जल-मार्गों का पता था। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ कोल्लगिरि से कोरकै का मतलब है और मुरचीपट्टन तो निश्चयपूर्वक पेरिप्लस का मुजिरिस है। अन्ताखी, रोम, और यवनपुर के नामों से भी लालसागर होकर भूमध्यसागर पहुँचने की ओर संकेत है।

वसुदेवहिण्डी में चारुदत्त की कहानी में भी भारत से विदेशी समुद्रमार्ग का उल्लेख है।[2] एक रईस बनिये का बेटा चारुदत्त बुरी संगत से दरिद्र हो गया। अपने परिवार की राय से उसने धन कमाने के लिए यात्रा करने की ठानी। चम्पानगर से निकलकर वह उशिरावर्त नामक कस्बे में पहुँचा। उसके मामा ने कपास और दूसरी बाहरी वस्तुएँ व्यापार के लिए खरीदीं।[3] अभाग्यवश, कपास में आग लग गई और चारुदत्त बड़ी मुश्किल से भाग सका। बाद में कपास और सूत से गाड़ियाँ लादकर वह उत्कल (ओडीसा) पहुँच गया और वहाँ से कपास खरीदकर ताम्रलिप्ति की ओर बढ़ा। रास्ते में उसका सार्थ लुट गया और गाड़ियाँ जला दी गईं। चारुदत्त कठिनाई से अपनी जान बचा सका। फिर यात्रा करता हुआ वह प्रियंगुपट्टन पहुँचा जहाँ उसकी सुरेन्द्रदत्त नामक एक नाविक से मुलाकात हुई जो उसके परिवार का मित्र निकल आया। अपनी यात्रा में वह कमलपुर (ख्मेर), यवन (यव) द्वीप (जावा), सिंहल,

---

१ मिलिन्द प्रश्न, पृ० ३५९

२ वसुदेवहिण्डी, डा० बी० एस० सांडेसरा का गुजराती अनुवाद, पृ० १७७ से, भावनगर, सं० २००३

३. वही, पृ० १८७

पश्चिम वर्बर (बार्बरिकोन) तथा यवन पहुँचा और उन जगहों से काफी माल कमाया।[1]

अभाग्यवश, जब वह काठियावाड़ के किनारे जहाज से जा रहा था, उसका जहाज टूट गया और वह बहता हुआ एक तख्ते के साथ उम्बरावती पहुँचा। एक बदमाश कीमियागर से ठगे जाकर उसे कुँए में गिरना पड़ा। वहाँ से निकलने के बाद फिर से उसने अपनी यात्रा शुरू कर दी।

अपने एक मित्र रुद्रदत्त की सहायता से वह राजपुर पहुँचा और वहाँ से कुछ गहने, लाख, लाल कपड़ा और कड़े इत्यादि लेकर वह सिन्धु-सागर-संगम पर पहुँचा। वहाँ से उत्तर-पूरब का रुख पकड़े हुए वह हूण, खस और चीनों के देश को पार करके वैताढ्य के शंकुपथ पर पहुँचा। वहाँ उसने डेरा डाला। खाना खाने के बाद सार्थ के साथियों ने तुम्बुर का चूर्ण कूटकर एक थैली में रख लिया। शंकुपथ पर चढ़ने में जब हाथ में पसीना होता था तो उसे दूर करने के लिए यात्री उस चूर्ण से हाथ सुखा लेते थे, क्योंकि शंकुपथ से गिरनेवाले की मृत्यु अवश्यम्भावी थी। माल को थैली में रखकर शरीर के साथ कसके बाँध दिया जाता था। यह शंकुपथ विजया नदी पर था। इसे पार करके वे इषुवेगा (वंक्षु नदी) पर पहुँचे और वहाँ डेरा डाल दिया।[2]

इषुवेगा को पार करने का एक नया तरीका दिया हुआ है। जब उत्तरी हवा चलती थी तो उस पार के उगनेवाले बेंत उस तरफ झुक जाते थे जहाँ चारुदत्त खड़ा था। चारुदत्त ने ऐसे झुके हुए एक बेंत को पकड़ लिया और हवा जब रुकी और बेंत सीधी हुई तो वह उस पार पहुँच गया। इस तरह से नदी पार करके चारुदत्त टंकण देश में पहुँचा। वहाँ उसने एक पहाड़ी नदी पर डेरा डाल दिया। पथप्रदर्शक के आदेश से पास में आग जला दी गई। इसके बाद सब व्यापारी वहाँ से हट गये। आग देखकर टंकण वहाँ आये और उनके माल के बदले में बकरे और फल छोड़कर और अपने जाने के इशारे के लिए एक दूसरी आग जलाकर वापस चले गये।

सार्थ उस पहाड़ी नदी के साथ चलता हुआ अजपथ पर पहुँचा जिसकी खड़ी चढ़ाई केवल बकरे ही चढ़ सकते थे। चढ़ाई के उस पार बकरे मार डाले गये और उनकी खालें निकाल ली गईं। यात्रियों ने इन खालों से अपने को छिपा लिया और इस तरह उन्हें मांस का लोथड़ा समझकर भेरुण्ड पक्षी उन्हें रत्नद्वीप को उड़ा ले गये।

जैसा हम बाद में देखेंगे, चारुदत्त ने अपनी यात्रा में जो रास्ता लिया वही मार्ग गुणाढ्य की बृहत्कथा में रहा होगा। चारुदत्त के साहसिक कार्यों में बृहत्कथाश्लोक-संग्रह इसी कहानी का एक रूप देता है, जबकि इसमें के साहसिक कार्य केवल सुवर्णद्वीप तक ही सीमित हैं। चारुदत्त की यात्रा प्रियंगुपट्टन से, जो शायद बंगाल में था, शुरू हुई। वहाँ से वह चीनस्थान, यानी चीन गया और वहाँ से वह मलय-एशिया पहुँचा। रास्ते में वह कमलपुर, जिसकी पहचान कम्बुज से की जा सकती है और जो मेरु अथवा अरबों के कमर का रूपान्तरमात्र है, पहुँचा। वहाँ से वह जावा पहुँचा और फिर वहाँ से सिंहल। पश्चिम वर्बर से यहाँ सिन्ध के प्रसिद्ध बन्दरगाह बार्बरिकोन का स्मरण आता है। यहाँ के बाद यवन, यानी सिकन्दरिया का बन्दर आता था।

---

१ वही, पृ० १८८

२ वही, पृ० १११-११२

चारुदत्त ने अपनी मध्य-एशिया की यात्रा सिन्धु-सागर-संगम यानी, प्राचीन वर्बर के बन्दरगाह से शुरू की। वहाँ से शायद सिन्धु नदी के साथ चलते हुए वह हूणों के प्रदेश में पहुँचा। लगता है, वैताढ्य से यहाँ ताशकुरगन का मतलब है। त्रिजया नदी से शायद सीर दरिया का मतलब हो। इपुवेगा तो निश्चय ही वक्षु है। मध्यएशिया के रहनेवालों में उसकी काशगर के खस, मंगोल के हूण और उसके बाद चीनियों से मुलाकात हुई और मध्यएशिया के तंगणों से उसने व्यापार भी किया।

महानिद्देस में दिये गये बन्दर बहुत दूर-दूर तक फैले हुए थे। वे सुदूर-पूर्व से आरम्भ होकर पश्चिम में समाप्त होते हैं। उनकी तालिका में जव (जावा), सुप्पार (सुपारा), भरुकच्छ, सुरट्ठ (सुराष्ट्र का कोई बन्दर), योन (यूनानी दुनिया) और अल्लसन्द (सिकन्दरिया) के बारे में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

बन्दरों की तालिका में पहला नाम गुम्ब का आता है, जिसके गुम्भ और कुम्भ पाठ भी मिलते हैं। इस गुम्ब का पता नहीं चलता, पर मिलिन्द में आये हुए निकुम्ब की वह याद दिलाता है[1]।

दूसरा नाम तक्कोल मिलिन्दप्रश्न में भी आता है जहाँ वह वंग और चीन के बीच में पड़ता है। तक्कोल के बाजार का टाल्मी (७।२।५) उल्लेख करता है। उसकी पहचान स्याम में बन्दोंग की खाड़ी पर स्थित तकुओपा से की जाती है। जो भी हो, वाड के युग (२२७-२७७) में एक चीनी दूत की यात्रा के विवरण के आधार पर तक्कोल की खोज हमें मलयप्रायद्वीप के पश्चिमी किनारे पर क्रा के इस्थमस के दक्खिन में करनी चाहिए[2]। लगता है, तक्कोल या कक्कोल से यहीं इलायची, लवंग और अगर का निर्यात होता था।

यह विचारणीय बात है कि भारत में भी तक्कोल या कक्कोल नाम पाये जाते हैं। मद्रास के पास तक्कोलम् नाम का एक गाँव है और चिकाकोल का प्राचीन नाम श्रीकाकुलम् कक्कोल से ही बना है। यहाँ से कलिंग देश के बहुत-से यात्री प्राचीन काल में मलय-एशिया बसने जाते थे[3]।

महानिद्देस की तालिका में वेसुंग आता है। टाल्मी (७।२।४) का कहना है कि तमाल अन्तरीप के बाद सरावोस की खाड़ी पर बेसुंगेताइ रहते थे। इनके देश में बेसुंग का बन्दर था जो उसी नाम की नदी के मुहाने पर बसा था। शायद वेसुंग का बंदरगाह, मर्तबान की खाड़ी के उत्तर, पेगू में कहीं रहा होगा[4]।

वेसुंग की पहचान करते समय श्री लेवी ने ओड़ीसा के समुद्रतट से बर्मा के रास्ते का भी उल्लेख किया है। टाल्मी का पलुर या दन्तपुर कलिंग की राजधानी थी; पर उसका समुद्र-प्रस्थान (Aphetrium) चरित्रपुर में था। युवान्च्वाङ् के अनुसार यहाँ यात्री समुद्रयात्रा के लिए प्रस्थान करते थे। श्री लेवी के अनुसार, यह चरित्रपुर पुरी के दक्खिन में पड़ता था। पलुर का ठीक सामना बर्मा के समुद्र-तट पर अक्याब और सेण्डोवे के बीच में पड़ता था। वे सुंग रंगून, पेगू और मर्तबान के कहीं आस-पास, और तक्कोल, क्रा के इस्थमस की तरफ[5]।

---

१ सिलवाँ लेवी, वही, पृ० ३

२ वही, पृ० ३—६

३ वही, ७-१२

४ वही, १४-१६

५ वही, १६-१८

वेसुंग की पहचान के बाद वेरापथ की पहचान टालमी के वेरावाई से की जा सकती है जो तवाय के आस-पास कहीं था।

तक्कोल के बाद आनेवाली तक्कसिला पंजाब की तक्षशिला नहीं हो सकती। टालमी, चटगाँव के दक्खिन में स्थित कतनेश नदी के मुहाने के दक्खिन तोकोसन्ना नदी का मुहाना रखते हैं। यहीं कहीं तक्कसिला की खोज करनी चाहिए[1]।

महानिद्देस में, तक्कसिला के बाद कालमुख आता है जो शायद किरातों का एक कबीला था। कालमुखों का नाम रामायण (४।४०।२८) और महाभारत में सहदेव की दिग्विजय में आता है। इसके बाद मरणपार का ठीक पता नहीं चलता।

जावा के बाद, महानिद्देस में, तमलिम् (पाठभेद कमलिं, तम्मलिं, तम्मुनि ताम्रलिंग) है। कमलिं हमें वसुदेवहिण्डी के कमलपुर की याद दिलाता है। पर श्री लेवी इसकी पहचान राजेन्द्रचोल के मा-दामलिंगम् से करते हैं। यह देश मलाया में पाहंग के पास कहीं होना चाहिए[2]।

ताम्रलिंग के बाद महानिद्देस में वंग (पाठभेद, वंकुम्) आता है। इसका बंगाल से मतलब न होकर सुमात्रा से लगा पॉलिमबैंग के इस्टुअरी के सामने बंका द्वीप से है। बंका का जलडमरूमध्य मलाया और जावा के बीच का साधारण पथ है। बंका की राँगे की खदानें मशहूर थीं[3]। संस्कृत में वंग के माने राँगा होता है और सम्भव है कि इस धातु का नाम उसके उद्गमस्थान पर पड़ा हो। एलवद्धन का ठीक पता नहीं लगता। संस्कृत में एल या एड के मानी दुम्बे होते हैं, पर इसका पता हिन्द-एशिया में नहीं चलता। टालमी (७।२।३०) के अनुसार, जावा के पूर्व में सटायर नाम के तीन टापू थे जिनके रहनेवालों के दुम होने की बात कही गई है। श्री लेवी का विश्वास है कि भारतीयों ने इसी दुम की बात को लेकर उन टापुओं का एलवद्धन नाम-करण किया था[4]।

महानिद्देस के सुवर्णकूट और सुवर्णभूमि को एक साथ लेना चाहिए। सुवर्णभूमि, बंगाल की खाड़ी के पूरब सब प्रदेशों के लिए, एक साधारण नाम था, पर सुवर्णकूट एक भौगोलिक नाम है। अर्थशास्त्र के अनुसार (२।२।२८), सुवर्णकुड्या से तैलपर्णिक नाम का सफेद या लाल चन्दन आता था। वहाँ का अगर पीले और लाल रंगों के बीच का होता था। सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से, और सबसे अच्छा अगर चम्पा और अनाम से आता था। सुवर्णकुड्या से दुकूल और पत्रोर्ण भी आते थे। सुवर्णकुड्या की पहचान चीनी किन्लिन् से की जाती है जो फूनान के पश्चिम में था[5]।

उपर्युक्त बन्दरगाहों के बाद महानिद्देस के भारतीय बन्दर शुरू होते हैं। ताम्रपर्णी (तम्बपण्णि) के बाद सुपारा आता था, फिर भरुकच्छ और उसके बाद सुरट्ठ जिससे शायद द्वारका के बन्दरगाह का तात्पर्य हो। महानिद्देस में पूर्वी समुद्रतट के बन्दरों के नाम नहीं आते, पर दूसरे आधारों पर यह कहा जा सकता है कि उस युग में ताम्रलिप्ति, चित्रपुर, कावेरीपट्टनम् तथा कोलपट्टनम् पूर्वी समुद्रतट के मुख्य बन्दरगाह थे।[6] मालाबार के बन्दरगाहों में मुरचीपट्टन

---

[1] वही, १८-१९

[2] वही, पृ० २२

[3] वही, २६-२७

[4] वही, पृ०, २७-२८

[5] वही, पृ० २७-२८

[6] वही, पृ० ३१-३७

की पहचान पेरिप्लस के मुजिरिस से की जा सकती है। काठियावाड़ के बाद सिन्ध के समुद्रतट पर, वसुदेवहिण्डी के अनुसार तथा मिलिन्दप्रश्न के अनुसार, सिन्ध-सागर-संगम पर सोवीर नाम का एक बन्दरगाह था। अवश्य ये दोनों ही बार्बरिकोन के उद्बोधक हैं। वसुदेवहिण्डी में तो शायद इसे पश्चिम बर्बर के नाम से सम्बोधन किया गया है। सिन्ध के समुद्रतट के बाद गंगण और अपरगंगण नाम आये हैं जिनका पता नहीं लगता, पर ऐसा लगता है कि, उनका सम्बन्ध पूर्वी अफ्रिका के समुद्र-तट से रहा हो। गंगण और जंजीबार शायद एक हो सकते हैं तथा अपरगंगण का अजानिया के समुद्र-तट से शायद मतलब हो सकता है। योन से यहाँ खास यूनान से मतलब है और परमयोन शायद एशिया-माइनर का द्योतक है। अलसन्द तो सिकन्दरिया का बन्दरगाह है। मरुकान्तार से शायद बेरेनिके से सिकन्दरिया तक के रेगिस्तानी मार्ग का मतलब है। इस रेगिस्तानी पथ पर यात्री रात में सफर करते थे और इसपर उनके ठहरने और खाने-पीने का प्रबन्ध होता था।

मरुकान्तार के बाद महानिद्देस में पथों का वर्गीकरण आता है। उनके नाम हैं— जण्णुपथ (पाठभेद सुवण्ण या वण्णु), अजपथ, मेण्ढपथ (मेंढे का रास्ता), शंकुपथ, छत्तपथ (छतरी का रास्ता), वंसपथ, शंकुपथ (चिड़ियों का रास्ता), मूसिकपथ (चूहों का रास्ता), दरीपथ (गुफाओं का रास्ता) और वेत्ताचार (बेंतों का रास्ता)।

हम एक जगह कह आये हैं कि अजपथ और शंकुपथ प्राचीन व्याकरण-साहित्य में मिलते हैं। इनका उल्लेख बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में सानुदास की कहानी में हुआ है[1]।

सानुदास चम्पा के एक व्यापारी मित्रवर्मा का पुत्र था। बचपन में उसने अच्छी शिक्षा पाई थी; पर जवानी में, कुसंगति में पड़कर, वह एक वेश्या के फेरे में फँस गया। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसे महाजनों का चौधरी (श्रेष्ठिपद) नियुक्त किया गया। पर वह अपनी पुरानी आदतें न छोड़ सका और कुछ ही दिन में कंगाल हो गया। अपने परिवार की गरीबी से दुखी होकर उसने यह प्रण किया कि बिना धन पैदा किये वह वापस नहीं लौटेगा।

चम्पा से सानुदास ताम्रलिप्ति आया[2]। रास्ते में उसे फटे जूते और छातेवाले कुछ यात्रियों से भेंट हुई जिन्होंने कंद-मूल-फल से उसकी खातिर की। इस तरह यात्रा करते हुए वह सिद्धकच्छप पहुँचा जहाँ उसकी अपने एक रिश्तेदार से भेंट हुई। उसने उसकी बड़ी खातिर की और उसे ताम्रलिप्ति की यात्रा करने के लिए रुपये देकर एक सार्थ के साथ कर दिया।

ताम्रलिप्ति के रास्ते में सानुदास ने बड़ा शोरगुल सुना। पता लगाने पर उसे मालूम हुआ कि घातमीभंगप्रतिज्ञा पर्वत के खण्डचर्ममुण्ड रक्षक अपनी बहादुरी की गप्पें मार रहे थे। उनमें से एक ने तो यहाँ तक कहा कि डाकुओं के मिलने पर वह काली मैया को बलिदान चढ़ावेगा। इसी बीच में पुलिन्दों ने सार्थ पर धावा बोल दिया जिससे घबराकर डींग मारनेवाले चम्पत हो गये। सार्थ तितर-बितर हो गया और बड़ी मुश्किल से सानुदास ताम्रलिप्ति पहुँच सका। वहाँ उसकी अपने मामा गंगदत्त से मुलाकात हुई। गंगदत्त ने उसे रुपये देकर रोकना चाहा; पर सानुदास दान का भिखारी नहीं था और इसलिए उसने एक सांयात्रिक से यह कहकर कि मैं रत्नपारखी हूँ, अपने को जहाज पर साथ ले चलने के लिए उसे तैयार कर लिया। एक शुभ में दिन देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुओं की पूजा करके समुद्रयात्री चल निकले।

---

१ बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, अध्याय १८, श्लोक १ से

२ वही, १७।

अभाग्यवश, राह में जहाज टूट गया और सानुदास एक तख्ते के सहारे बहता हुआ किनारे पर आ लगा। यहाँ एक दूसरी कहानी आरम्भ होती है जिससे पता लगता है कि सानुदास की भेंट समुद्रदिन्ना नाम की एक स्त्री से हुई जो भारतीय व्यापारी सागर और यवनी माता की, जिसकी जन्मभूमि यवनदेश में थी, पुत्री थी। सानुदास को विना पहचाने, उस स्त्री ने उसे यह भी बतलाया कि बचपन में उसकी सगाई सानुदास से हो चुकी थी, पर उसके बदमाश हो जाने के कारण, शादी न हो सकी। दुखी होकर अपनी स्त्री के साथ सागर यवनदेश की ओर चल पड़ा, पर रास्ते में ही जहाज टूट गया। समुद्रदिन्ना किसी तरह बहती हुई किनारे आ लगी। समुद्रदिन्ना को जब सानुदास का पता मालूम हुआ तो उसने उसे बताया कि उसने बहुत-से मोती इकट्ठे कर लिये हैं। उस निर्जन द्वीप पर मछली, कछुए और नारियल खाकर वे दोनों रहने लगे। वहाँ लवंग, कपूर, चन्दन और पान बहुतायत से मिलते थे।

एक दिन समुद्रदिन्ना ने अपने पति से, टूटे जहाजों के व्यापारियों की प्रथा के अनुसार (भिन्नपोत-वणिज-वृत्त),[1] एक पेड़ पर एक झंडी लगा देने और आग जला देने की प्रार्थना की जिससे समुद्र पर चलनेवाले जहाज उन्हें देखकर उनका उद्धार कर सकें। समुद्रदिन्ना की अक्ल काम कर गई और सवेरे एक उपनौका उन्हें एक जहाज पर ले गई। समुद्रदिन्ना द्वारा एकत्र मोती भी जहाज पर लाये गये और यह तै पाया कि उन्हें बेचकर जो फायदा हो उसमें आधा सायात्रिक का होगा। सायात्रिक ने समुद्रदिन्ना और सानुदास का विवाह भी करा दिया।

अभाग्यवश जहाज डूब गया और समुद्रदिन्ना बह गई। सानुदास किसी तरह बहता हुआ किनारे लग गया। उस समय उसकी पूँजी फेंटे और जूड़े में बँधे हुए कुछ मोती थे। किनारे पर केले, नारियल, कटहल, मिर्च और इलायची के पेड़ और पान की लत्तरें बहुतायत से होती थीं। एक गाँव में पहुँचकर उसने उसका पता पूछा, पर लोगों ने उत्तर दिया—"धाणिणु चोल्लित्ति' जो टूटी-फूटी तामिल है और जिसके मानी होते हैं, तुम्हारी बात समझ में नहीं आती। सानुदास ने एक दुभाषिये (द्विभाष) की मदद ली और अपने एक रिश्तेदार के पास पहुँच गया जहाँ उसे पता लगा कि वह पाण्ड्य देश में आ पहुँचा है जिसकी राजधानी मदुरा एक योजन पर थी।

दूसरे दिन सवेरे केलों के घने जंगल से होकर दो कोस चलने के बाद सानुदास ने एक धर्मशाला (सत्रम्) देखी जहाँ कुछ विदेशियों की हजामत बन रही थी, किसी का अभ्यंग हो रहा था और किसी की मालिश (उत्सादन)। इस तरह सब लोगों की खातिर हो रही थी[2]। रात में सत्रपति ने सानुदास की खबर पूछी और बताया कि उसका मामा गंगदत्त उसके जहाज टूटने के समाचार से दुखी है। उसने तमाम जंगलों, घाटों (तर), सत्रों और बन्दरों (वेलातटपुर) में इस बात की खबर करा दी थी। सानुदास ने फिर भी उसे अपना पता नहीं दिया।

दूसरे दिन उसने पाण्ड्य-मधुरा के जौहरी-बाजार की सैर की। वहाँ उसने एक गहने का दाम कूतकर उसके बदले कुछ रुपये पाये। उसकी ख्याति सुनकर राजा ने उसे अपना रत्न-परीक्षक नियुक्त कर लिया। एक महीने तो वह अपना काम ईमानदारी से करता रहा, पर बाद में उसने

---

१ वही, ३।४

२ वही, ३४५-३४६

थोड़ी-सी पूँजी लगाकर अधिक लाभ उठाने की सोची। उसने बंड तन्तु (गुणवान्) की कपास खरीदकर उसकी सात ढेरियाँ लगा दीं; पर अभाग्यवश कपास में आग लग गई[1]। मदुरा के लोगों में यह रवाज था कि जिस घर में आग लगती थी उसमें रहनेवाले आग में कूदकर जान दे देते थे। अपनी जान के डर से सानुदास एक जंगल में भागा। वहाँ उसकी एक गौड भाषा बोलनेवाले से मुलाकात हुई। उसने उससे सानुदास का समाचार पूछा, पर उसने उससे कह दिया कि वह पाएड्यों द्वारा आग में फेंका जाकर जल गया। उसके मामा गंगदत्त ने यह समाचार सुनकर जल मरना चाहा; पर इतने ही में सानुदास चम्पा पहुँच गया और इस तरह उसके मामा की जान बच गई।

अपने घुमक्कड़ स्वभाव और रुपया पैदा करने की इच्छा से सानुदास बहुत दिनों तक अपने मामा के यहाँ नहीं ठहर सका। थोड़े ही दिन बाद उसने सुवर्णद्वीप जानेवाले आचेर के जहाज को पकड़ लिया। सुवर्णद्वीप पहुँचकर जहाज ने लंगर डाल दिया और व्यापारियों ने खाने का सामान थैलियों (पाथेय-स्थगिका) में भरकर अपनी पीठों से बाँध लिया तथा अपने गले से तेल के कुप्पे लटकाकर वे वेत्रलता के सहारे पहाड़ पर चढ़ गये। यही वेत्रपथ था।

श्री लेवी ने वेत्रलता से यहाँ लाठी का तात्पर्य समझा है। पहाड़ पर चढ़ते हुए यात्री लाठी के सहारे झुककर नहीं, तनकर चलते थे। निद्देस के वेत्ताचार का भी यही तात्पर्य है।

सोने की खोज में यात्रियों ने जो उनसे कहा गया, वही किया। पर्वत की चोटी पर पहुँचकर वे रात भर वहीं ठहर गये। सबेरे उन्होंने एक नदी देखी जिसके किनारे बैलों, बकरों और भेड़ों की भीड़ थी। आचेर ने यात्रियों को नदी छूने की मनाही कर दी थी; क्योंकि उसे छूनेवाला पत्थर बन जाता था। नदी के उस पार खड़े बाँस हवा चलने से इस पार झुक जाते थे। उनके सहारे नदी पार उतरने की आज्ञा दी गई। यही वेणुपथ था[3] जिसे निद्देस में वंशपथ कहा गया है।

पत्थर बना देनेवाली नदी का 'सद्धर्मस्मृत्युपस्थानसूत्र' में भी उल्लेख है[4]। उसके किनारे कीचक नामक बाँस होते थे जो हवा चलने पर एक दूसरे से टक्कर लेते थे। रामायण (४।४४।७७-७८) में उसी नदी का उल्लेख है। यह मुश्किल से पार की जा सकती थी और इसके दोनों किनारे खड़े कीचक नामक बाँसों के सहारे सिद्धगण नदी पार करते थे। महाभारत (२।४८।२) में भी शैलोद नदी और उसके तीर के कीचक वेणुओं का उल्लेख है। टाल्मी से हमें पता चलता है कि सिनाई के बाद सेर (चीन) प्रदेश पड़ता था। उसके उत्तर में एक अज्ञात प्रदेश था जहाँ दलदल थे जिनमें उगनेवाले नरकण्डों के सहारे लोग दूसरी ओर पहुँच सकते थे। उस प्रदेश को बलख से ताशकुरगन होते हुए तथा पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) होते हुए सड़कें आती थीं (१।१७।४१)। यहाँ हम उस पौराणिक अनुश्रुति का स्रोत पाते हैं जिसने चीन और पश्चिम की सड़क पर लोबनोर के दलदलों को एक लोककथा में परिवर्तित कर दिया। यह अनुश्रुति सार्थों की कहानी के आधार पर यूनानी और भारतीय साहित्य में घुस गई। क्टेसियस और मेगास्थनीज एक नदी का उल्लेख करते हैं जिसमें कोई वस्तु तैर नहीं

---

१ वही, २७७-२७१

२ लेवी, वही, पृ० ३६-४०

३ बृहत्कथाश्लोक-संग्रह, ४४०,४४१

४ जूर्नाल आसियातीक, १९१८, २, पृ० २४

सकती थी। मेगास्थनीज द्वारा दिये गये इस नदी के सिल्लास अथवा सिलियस नाम की पहचान श्री लेवी शैलोदा से करते हैं[१]।

सद्धम्मपज्जोतिका (लेवी, वही, ४३१-३२) के अनुसार वंशपथ में बाँसों को काटकर उन्हें पेड़ से बाँध दिया जाता था। पेड़ पर चढ़कर एक बाँस दूसरी बँसवारी पर डाल दिया जाता था। इस प्रक्रिया को दुहराते हुए बाँस का जंगल पार कर लिया जाता था।

भारतीय और यूनानी ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शैलोदा नदी मध्य-एशिया में थी, सुवर्णभूमि में नहीं। रामायण और महाभारत उसे मेरु और मन्दर के मध्य में रखते हैं। इसके पड़ोस में खस, पारद, कुलिन्द और तगण रहते थे। मेरु की पहचान श्री लेवी पामीर और मन्दर की पहचान उपरली इरावदी पर पड़नेवाली पर्वतशृंखला से करते हैं; पर महाभारत से तो मन्दर की पहचान शायद क्वेन-लुन पर्वतश्रेणी से की जा सकती है। मत्स्य-पुराण (१२०।१६-२३) शैलोदा का उद्गम अरुण पर्वत में रखता है, पर वायुपुराण (४७।२०-२१) के अनुसार, वह नदी सुव्रत पर्वत के पाद में स्थित एक दह से निकलती थी। वह चक्षुस् और सीता के बीच बहती थी और लवणसमुद्र में गिरती थी। चक्षुस् वंक्षु नदी है और सीता शायद तारीम। इसलिए, श्री लेवी की राय में शैलोदा नदी की पहचान खोतन नदी से की जा सकती है[२]। उस नदी में गिरकर चीजों के पत्थर हो जाने की कहानी खोतन नदी में यशब के ढोंके मिलने से तथा उनके दूर-दूर तक ले जाने की बात से निकली होगी।

शैलोदा के साथ कीचक-वेणु का उल्लेख पुराणों के लिए एक नया शब्द है। श्री सिलवाँ लेवी कीचक की व्युत्पत्ति चीनी भाषा से करते हैं। चीन के क्वागसी और सेचवान प्रदेश से भारत में आसाम के रास्ते बाँस आने की बात ई० पू० दूसरी सदी में चाङ् किएन भी करता है[३]।

शैलोदा पार करने के बाद सानुदास दो योजन आगे बढ़ा और एक पतले रास्ते के दोनों ओर गहरा खड्ड (रसातल) देखा। आचेर ने गीली और सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके और उन्हें जलाकर धुआँ कर दिया। धुएँ को देखकर चारों ओर से किरात इकट्ठे हो गये। उनके पास बकरों और चीतों के चमड़े के बने जिरह-बख्तर और बकरे थे। व्यापारियों ने उन वस्तुओं का विनिमय केसरिये, लाल और नीले कपड़ों, शक्कर, चावल, सिन्दूर, नमक और तेल से किया। इसके बाद किरात हाथ में लकड़ियाँ लिये हुए अपने बकरों पर चढ़कर पतले और पेंचदार रास्ते से रवाना हो गये। जिन व्यापारियों को सोने की खान से सोना लेना था, वे उसी रास्ते से आगे बढ़े। रास्ता इतना कम चौड़ा था कि व्यापारी एक की कतार में एक भालेबरदार के अधिनायकत्व में आगे बढ़े[४]।

खरीद-फरोख्त के बाद वह दल वापस लौटा। कतार में सानुदास का सातवाँ स्थान था और आचेर का छठा। बढ़ते हुए दल ने दूसरी ओर से लकड़ियों की खट-खट सुनी। दोनों दलों में मुठभेड़ हो गई और आचेर के दलवालों ने दूसरे दलवालों को गड्ढे में ढकेल दिया। एक

---

१ लेवी, वही, पृ० ४२

२- वही, पृ० ४२-४३

३ वही, पृ० ४३-४४

४ बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, ३५०-३६१

जवान लड़के ने सानुदास से अपनी जान बचाने की प्रार्थना की; पर कठोर-हृदय आचेर ने अपने दल की रक्षा के लिए सानुदास को उसे भी नीचे नदी में गिरा देने के लिए बाध्य किया"[1]।

इस घटना के बाद आचेर का दल विष्णुपदी गंगा पर पहुँचा और वहाँ मृतात्माओं के लिए तर्पण किया। खाने और विश्राम करने के बाद आचेर ने व्यापारियों से अपने बकरे मार डालने और उनकी खालें अपने ऊपर ओढ़ लेने को कहा। ऐसा ही किया गया। इसके बाद बड़े पक्षी उन्हें मांस के लोथड़े समझकर सुवर्णभूमि ले गये। इस तरीके से सानुदास सुवर्णभूमि पहुँचा और वहाँ से बहुत-सा धन इकट्ठा करके खुशी-खुशी अपने घर लौट आया। शायद यहाँ शङ्कुपथ की ओर इशारा है।

सानुदास की कहानी समाप्त करने के पहले यह बता देना आवश्यक है कि वसुदेवहिण्डी की चारुदत्त की कहानी से उसका गहरा सादृश्य है। यह बात साफ है कि उपर्युक्त दोनों कहानियों का आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा की कोई कहानी थी। वसुदेवहिण्डी में इस घटना का स्थल मध्य-एशिया रखा गया है; पर बृहत्कथाश्लोक-संग्रह के अनुसार, यह स्थान मलय-एशिया था। सानुदास की कहानी के कुछ अंशों से—जैसे, शैलोद नदी, बकरों और भेड़ों के विनिमय इत्यादि से—यह बात साफ हो जाती है कि सानुदास की यात्रा वास्तव में मध्य-एशिया में हुई। गुप्त-काल में जब सुवर्णद्वीप का महत्त्व बढ़ा तो कहानी का घटनास्थल भी मध्य-एशिया से सुवर्णभूमि में आ गया।

महानिद्देस में मेंढों का रास्ता और अजपथ एक ही है। वण्णुपथ, शंकुपथ, छत्तपथ, मुसिकपथ, दरीपथ इत्यादि के सम्बन्ध में हमें जानकारी हासिल करनी चाहिए।

महानिद्देस के सिवा इन पथों का उल्लेख पालि-बौद्ध-साहित्य में भी आता है। वेत्तचर या वेत्तचार, संकुपथ और अजपथ का उल्लेख मिलिन्दप्रश्न में एक जगह आता है[2]। पर इन पथों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय वर्णन विमानवत्थु (८४) में आता है। अंग और मगध के व्यापारी एक समय सिन्धु-सोवीर में यात्रा करते हुए रेगिस्तान के बीच अपना रास्ता भूल गये (वण्णुपथस्समज्झे; महानिद्देस का जन्नुपथ)। एक यक्ष ने अवतरित होकर उनसे पूछा, तुम सब धन की खोज में समुद्र के पार वण्णुपथ, "वेत्तचार, शंकुपथ, नदियों, और पर्वतों की यात्रा करते हो।"

पुराणों में भी महानिद्देस के पथों की ओर कुछ इशारा है। मत्स्यपुराण, (१२१। ५६-५६) में कहा गया है कि पूर्व दिशा की ओर बहती हुई नलिनी ने कुपथों, इन्द्रद्युम्न के सरों, खरपथ, वेत्रपथ, शंखपथ, उज्जानकमरु तथा कुथप्रावरण को पार किया और इन्द्रद्वीप के समीप वह लवणसमुद्र से मिल गई। वायुपुराण (४७।५४ से) में भी वही श्लोक है, पर उसमें कुपथ की जगह अपथ, वेत्रपथ की जगह इन्द्रशंकुपथान् और उज्जानकमरुन् की जगह मध्येनोद्यान-मस्करान् पाठ है। इस तरह नलिनी पूर्व की ओर बहती हुई खराब रास्तों (कुपथान्), इन्द्र-द्युम्नसरों, खरपथ, वेत्र अथवा इन्द्रपथ, शंख अथवा शंकुपथ पार करती हुई, उज्जानक के रेगिस्तान से होती हुई, कुथप्रावरण होकर इन्द्रद्वीप के पास लवणसमुद्र से मिलती थी। इस तरह हम देख सकते हैं कि मत्स्यपुराण में वेत्रपथ पाठ ठीक है और वायुपुराण में शंकुपथ। खरपथ

---

१ वही, ३११-३२८

२ मिलिन्दप्रश्न, पृ० २८०

की तुलना हम महानिद्देस के अजपथ से कर सकते हैं। जिस रेगिस्तान से नलिनी का बहाव था वही तकलामकान रेगिस्तान है।

महानिद्देस के मार्गों पर उसकी टीका सद्धम्मपज्जोतिका (१०८० ई०) से काफी प्रकाश पड़ता है। उस टीका के अनुसार यात्री, शंकुपथ बनाने के लिए, पर्वतपाद पर पहुँचकर एक अंकुश (अयसिंघाटक) को फन्दे से बाँधकर उसे ऊपर फेंकता था और उसके फँस जाने पर वह रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ जाता था। वहाँ पर वह हीरा-लगे बरमे से (वजिराग्गेन लोहदण्डेन) चट्टानों में एक छेद करता था और उसमें एक खूँटा गाड़ देता था। इसके बाद अंकुश छुड़ाकर उसे फिर ऊपर फेंकता था और उसके लग जाने पर रस्से के सहारे फिर ऊपर चढ़कर एक गढ़ा बनाकर बायें हाथ से रस्सा पकड़ता था और दाहिने हाथ की मुंगरी से वह पहला खूँटा निकाल देता था। इस उपाय से पर्वत की चोटी पर चढ़कर वह उतरने का उपाय सोचता था। इसके लिए वह पहले चोटी पर खूँटा गाड़ता था जिसमें वह एक डोरीदार चमड़े की बोरी बाँधता था, फिर उसमें खुद बैठकर चरखी खुलने के क्रम से धीरे-धीरे नीचे उतर आता था[1]।

यहाँ यह जान लेने योग्य बात है कि हीरे की कनी के बरमे का आविष्कार सन् १८६२ में हुआ, जब आल्प्स में एक सुरंग खोदने की जरूरत हुई। इंजीनियरों ने एक घड़ी बनानेवाले से सलाह ली और उसने डायमंड ड्रिल से पत्थर तोड़ने का आदेश दिया[2]। पर ऊपर के उद्धरण से तो इस बात का साफ पता चल जाता है कि भारतीयों को ११वीं सदी में भी डायमण्ड-ड्रिल का पता था।

सद्धम्मपज्जोतिका में छत्तपथ का अर्थ आधुनिक पेराशूट से है। छत्तपथ का यात्री एक चमड़े का छाता लेता था। उसके खुलने पर हवा भर जाती थी और इस तरह वह एक पक्षी की तरह नीचे उतर आता था।

२

इस अध्याय के पहले भाग में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि भारतीयों का पथ-ज्ञान कितना विस्तृत था। पर संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में बहुत-सा ऐसा मसाला है जिसके आधार पर हम देश की पथ-पद्धति और जल तथा थल के अनुभवों की बात पाते हैं। यह सब सामग्री हमें कहानियों से मिलने के कारण उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो सकती, गोकि इसमें संदेह नहीं कि इन कहानियों में वास्तविकता का गहरा पुट है। व्यापारी अपनी यात्राओं से लौटकर बड़े-बड़े नगरों में अपने अनुभव सुनाते थे और उन्हीं अनुभवों का आश्रय लेकर अनेक कहानियाँ प्रचलित हो गईं।

गिलगिट से मिले विनयवस्तु में भारत की भीतरी पथ-पद्धति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। पहला मार्ग कश्मीरमंडल में बुद्ध की यात्रा का है। अपनी यात्रा में बुद्ध अट्टाला, कन्था, धान्यपुर और नैतरी गये। इन स्थानों का पता नहीं लगता। शाद्वला में उन्होंने पालितकोट नाग को दीक्षा दी; नन्दिवर्धन में अस्वक और पुनर्वसु नागों और नाली तथा उपर्या यक्षिणियों

---

1 लेवी, वही, पृ० ४११-१२

2 जे० आर० मेकार्थी, फायर इन दि अर्थ, पृ० २३६-२३७, लंदन, १९४६

को दीक्षा दी। वहाँ से वे कुन्तिनगर पहुँचे जहाँ बच्चों को खानेवाली कुन्ती यक्षिणी का पराभव किया। खर्जुरिका में उन्होंने बच्चों को मिट्टी के स्तूपों से खेलते देखा और यह भविष्य-वाणी की कि उनकी मृत्यु के पाँच सौ बरस बाद कनिष्क एक बहुत बड़ा स्तूप खड़ा करेंगे[1]।

बुद्ध की शूरसेन-जनपद की यात्रा उस प्रदेश पर काफी प्रकाश डालती है। अपनी यात्रा में वे पहले आदि-राज्य, यानी बरेली जिले में अहिच्छत्रा पहुँचे। यहाँ से वे कासगंज-मथुरा की सड़क से भद्राश्व होते हुए मथुरा पहुँचे। यहाँ उन्होंने भविष्य-वाणी की कि उनकी मृत्यु के सौ बरस बाद नट और भट नाम के दो भाई उरुमुण्ड (गोवर्धन) पर्वत पर उनके लिए एक स्तूप बनावेंगे। उपगुप्त के जन्म की भी उन्होंने भविष्य-वाणी की। यहाँ ब्राह्मणों ने उनका विरोध किया; पर ब्राह्मण नीलभूति ने बुद्ध की स्तुति करके इस विरोध को समाप्त किया[2]।

बुद्ध मध्यरात्र में मथुरा पहुँचे थे। मथुरा की नगर-देवता (देवी) ने उनका आना अपने काम में बाधक समझकर उन्हें नंगी होकर डराना चाहा, पर बुद्ध ने माता के लिए यह अनुचित कार्य बताकर उसे लज्जित किया[3]। मथुरा के नगर-देवता के होने का नया प्रमाण हमें टालमी से मिलता है। अभी तक टालमी द्वारा मथुरा को देवताओं का नगर कहा जाना माना गया है; पर श्री टार्न ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उसका वास्तविक अर्थ देवकन्या है[4]। अगर यह बात सही है तो मथुरा मे नगर-देवता की बात पक्की हो जाती है। पुष्कलावती की तरह मथुरा में नगर-देवता का शायद यह पहला प्रमाण है। टार्न के अनुसार शायद उस नगर-देवता का नाम मथुरा रहा हो।

बुद्ध ने मथुरा के पाँच दुर्गुण कहे हैं; यथा, किनारों के ऊपर चले जानेवाला पानी (उत्कूलनिकूलान्), खूँटों और काँटों से भरा देश (स्थूलकण्टकप्रधानाः), बलुही और कँकरीली भूमि, रात के अन्तिम पहर में खानेवाले (उच्चन्द्रभक्ता) और बहुत-सी स्त्रियाँ[5]।

मथुरा अपने यक्षों के लिए मशहूर था। बुद्ध ने वहाँ लड़कों को खानेवाले गर्दभ यक्ष (भागवत का धेनुकासुर) तथा शर और वन को तथा आलिका, वेन्दा, मघा, तिमिसिका (शायद ईरानी देवी अर्तेमिस) को शान्त किया[6]।

मथुरा से बुद्ध ओतला पहुँचे और वहाँ से दक्षिण पांचाल में वैरम्भ जो पालि-साहित्य का वेरंजा है। यहाँ उन्होंने कई ब्राह्मणों को दीक्षित किया।[7]

पांचाल से साकेत तक के रास्तों पर कुमारवर्धन, कौशाम्बी, मणिवती, सालवला, शालिवला, सुवर्णप्रस्थ और साकेत पड़ते थे।[8] साकेत से बुद्ध ने श्रावस्ती का रास्ता पकड़ा।[9]

---

१ गिलगिट मेनेस्क्रिप्ट्स्, ३, भा० १, पृ० १-२
२ वही, पृ० ३-१३
३ वही, पृ० १४
४ टार्न, वही, पृ० २२१-२२
५ गिलगिट टेक्स्ट्स्, वही, पृ० १४-१५
६ वही, पृ० १५-१७
७ वही, पृ० १८ से
८ वही, पृ० ६८-६९
९ वही, पृ० ७९

जीवक कुमारभृत्य, तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने के बाद, भद्रंकर (सियालकोट), उदुम्बर (पठानकोट), रोहीतक (रोहतक) होते हुए मथुरा पहुँचे और वहाँ से उत्तरी रास्ते से वैशाली होते हुए राजगृह पहुँचे।[१]

उपर्युक्त पथों से पता चलता है कि ईसा की पहली सदियों में भी रास्ते में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, गोकि उन रास्तों में बहुत ऐसे नगर मिलने लगते हैं जिनका बुद्ध के समय में पता नहीं था।

हमें संस्कृत-बौद्ध-साहित्य से स्थलमार्ग पर यात्रा की कुछ बातों का पता लगता है। ईसा की पहली सदियों में भी यात्रा में उतनी ही कठिनाइयाँ थीं जितनी पहले। रास्तों में डाकुओं का भय रहता था। रेगिस्तान में भी यात्रा की अनेक कठिनाइयाँ थीं। रास्ते में नदियों पार करनी होती थीं और घाट उतारनेवाले घाट उतारने के पहले उतराई (तर्पण्य) वसूल करते थे।[२] कभी-कभी नदी पार उतरने के लिए नावों का पुल भी होता था। दिव्यावदान में कहा गया है कि राजगृह से श्रावस्ती के राजमार्ग पर अजातशत्रु ने एक नाव का पुल (नौसंक्रमण) बनवाया।[३] लिच्छवियों के देश में गंडक पर भी एक पुल था। अवदानशतक के अनुसार[४], गंगा के पुल के पास बदमाश-गुंडे रहते थे।

महापथ पर पंजाब और अफगानिस्तान के घोड़ों के व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे। कहा गया है कि तक्षशिला का एक व्यापारी घोड़े बेचने (अश्वपण्य) को बनारस जाता था। एक समय डाकुओं ने उसके सार्थ को तितर-बितर कर दिया और घोड़े चुरा लिये।[५] घोड़ों के व्यापार का मथुरा भी एक खास अड्डा था। उपगुप्त की कथा में कहा गया है कि मथुरा में एक समय पंजाब का एक व्यापारी पाँच सौ घोड़े लाया। वह इतना रईस था कि मथुरा पहुँचते ही उसने वहाँ की सबसे कीमती गणिका की माँग की।[६]

अधिकतर व्यापारी राजशुल्क भर देते थे, पर कुछ ऐसे भी थे जो निःशुल्क माल ले जाना चाहते थे। दिव्यावदान[७] में एक जगह कहा है कि चोर ऐसी तरकीब करते थे कि शुल्क उगाहनेवालों को, छानबीन के बाद भी, पता नहीं लगता था।

कहानी यह है कि मगध और चम्पा की सीमा पर एक यक्ष-मन्दिर था जिसका घण्टा चोरी से माल ले जाने पर बजने लगता था। चम्पा के एक गरीब ब्राह्मण ने फिर भी निःशुल्क माल ले जाने की ठान ली। उसने एक जोड़ी (यमली) अपने छाते की खोखली डण्डी में छिपा ली। राजगृह जानेवाले सार्थ के साथ जब वह शुल्कशाला में पहुँचा तो शुल्काध्यक्ष ने सार्थ के माल पर शुल्क वसूल लिया (शुल्कशालिकेन सार्थः शुल्कीकृत), पर जैसे ही सार्थ आगे

---

१ वही, ३, २, पृ० ३३-३५

२ अवदानशतक, १, पृ० १४८, जे० एस० स्पेयर द्वारा सम्पादित, सेंटपीटर्सबर्ग, १९०६

३ दिव्यावदान, ३, ५५-५६

४ अवदानशतक, १, पृ० ६४

५ महावस्तु, २, १६७

६ दिव्यावदान, २१, ३५३

७ वही, पृ० २७५ से

बढ़ा कि घण्टा बजने लगा जिससे शुल्काध्यक्ष को पता लग गया कि शुल्क पूरी तौर से वसूल नहीं हुआ था। उसने सबके माल की फिर तलाशी ली, पर नतीजा कुछ न निकला। अन्त में उसने एक-एक करके व्यापारियों को छोड़ना शुरू किया और इस तरह ब्राह्मण देवता का पता चल गया; क्योंकि उनकी बारी आते ही घण्टा बजने लगा। फिर भी छिपे माल का पता नहीं चलता था। अन्त में शुल्क वसूल न करने का वादा करने पर ब्राह्मण ने खोखली डण्डी से थमली निकाल कर दिखला दी।

हम देख चुके हैं कि ईसा की पहली सदियों में पूर्व और पश्चिम में जहाजरानी की कितनी उन्नति हुई और भारतीय व्यापारियों ने किस तरह इसमें योगदान दिया। सुवर्णभूमि की यात्राओं से उन्हें खूब दौलत मिली। दौलत पैदा करने के साथ-ही-साथ उन्होंने हिन्दचीन, मध्य-एशिया और बर्मा में भारतीय संस्कृति की नींव डाल दी। इस संस्कृति-प्रसार में बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही का हाथ था। महावस्तु[1] में इस सम्बन्ध की एक रोचक कहानी है। कहा गया है कि प्राचीन युग में वारवालि में एक ब्राह्मण गुरु थे जिनके पाँच सौ शिष्य थे। उनकी श्री नाम की एक बड़ी सुन्दरी कन्या भी थी। एक बार ब्राह्मण के उपाध्याय ने उन्हें यज्ञ कराने के लिए समुद्रपट्टन भेजना चाहा। स्वयं जाने अथवा अपने बदले में दूसरे के भेजने पर भी, दक्षिणा की पूरी आशा थी। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा कि समुद्रपट्टन जानेवाले को वे अपनी कन्या ब्याह देंगे। श्री का प्रेमी एक युवा शिष्य इस बात पर समुद्रपट्टन पहुँचा। यज्ञ कराने के बाद यजमान सार्थवाह ने उसे सोना और रुपये दिये।

उपर्युक्त कहानी से कुछ नई बातें मालूम पड़ती हैं। जहाँ ब्राह्मण गुरु रहते थे, उस स्थान का नाम वारवालि कहा गया है। बहुत सम्भव है कि यह काठियावाड़ का वेरावल बन्दर हो। जहां यज्ञ होनेवाला था उसे समुद्रपट्टन कहा गया है जिसके मानी, मामूली तरह से, समुद्री बन्दर हो सकते हैं; पर यहां बहुत सम्भव है कि समुद्रपट्टन सुमात्रा के लिए आया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है; क्योंकि बोर्नियो और दूसरी जगहों में भी यज्ञ के प्रतीक यूप मिले हैं जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस देश के ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिए हिन्द एशिया जाते थे।

कपड़े, मसाले और सुगन्धित लकड़ियाँ भारत और हिन्द-एशिया के व्यापार में मुख्य वस्तुएँ थीं। महावस्तु[2] में एक बड़ी विकृत तालिका में सादे और रंगीन कपड़ों में काशी का दुकूल, बंगाल का रेशमी कपड़ा (कोशि (श) करके), चीन, केंचुल की तरह मलमल (तूला-काचिलिन्दिक) और चमड़ा बटकर बनी कोई चटाई (अजिनपवेणि) थे। इसके बाद उन बन्दरों और प्रदेशों के नाम आते हैं जिनसे कपड़े बाहर जाते थे और इस देश में आते थे। वनरुत्ता से शायद यहाँ वनवास (उत्तर कनारा) का मतलब है। तमकूट का पाठ यहाँ हेमकूट सुधारा जा सकता है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, हेमकुड्या का दुकूल प्रसिद्ध था। सुभूमि से यहाँ सुवर्णभूमि का तात्पर्य है और तोषल से उड़ीसा की तोसली का। कोल से यहाँ पांड्य देश के सुप्रसिद्ध बन्दरगाह कोरकै का मतलब है और मचिर तो निश्चयपूर्वक पेरिप्लस का मुजीरिस और महाभारत का मुचीरीपट्टन है।

---

[1] महावस्तु, ३, ८३-९०

[2] महावस्तु, १, २१५-२६

यह भी उल्लेखनीय बात है कि समुद्र के व्यापारियों की श्रेणी से ही बुद्ध के सुप्रसिद्ध शिष्य सुपारा के पूर्ण निकले थे। जैसा हम देख आये हैं, बौद्ध-धर्म के आरम्भिक युग में पश्चिम भारत के समुद्रतट पर सुपारा एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यहाँ से स्थलपथ सह्याद्रि को पार कर नानाघाट होता हुआ गोदावरी की घाटी और दक्खिन के पठार में पहुँचकर उज्जैन और वहाँ से गंगा के मैदान में जाता था।

दिव्यावदान[1] में व्यापारी और बाद में भिक्षु पूर्ण की बड़ी ही सुन्दर कहानी दी गई है। वह सुपारा के एक बड़े धनी व्यापारी का पुत्र था जिसके तीन स्त्रियाँ और तीन दूसरे पुत्र थे। वृद्धावस्था में अपने परिवार से तिरस्कृत होकर उस बूढ़े व्यापारी ने एक दासी से शादी कर ली जो बाद में पूर्ण की माता हुई। बचपन से ही पूर्ण का व्यापार में मन लगता था। वह अपने बड़े भाइयों को दूर-दूर की समुद्र-यात्राएँ करते देखता था। उनसे प्रभावित होकर उसने अपने पिता से उनके साथ यात्रा करने की अनुमति माँगी, लेकिन उसके पिता ने उसकी बात न मानकर उसे दूकान-दौरी देखने का आदेश दिया। अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके उसने दूकान देखना आरम्भ कर दिया और उसका फायदा अपने भाइयों के साथ बाँटकर लेने लगा। उसके भाई उससे ईर्ष्या करते थे और इसलिए पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने उसे बन्दर के व्यापार में लगा दिया। इसमें भी उसने अपनी चतुराई दिखाई। कुछ समय के बाद, वह व्यापारियों की श्रेणी का चौधरी हो गया और तब उसने समुद्रयात्रा करके नये देशों और जातियों को देखने की ठान ली। उसकी यात्रा का समाचार मुनादी से करा दिया गया। उसने सब लोगों से इस बात का एलान किया कि जो भी व्यापारी उसके साथ चलनेवाले होंगे उन्हें किसी तरह का कर (शुल्क-तर्पण्य) नहीं देना होगा। किसी तरह उसने कुशलपूर्वक छः यात्राएँ कीं। एक दिन उसके पास, सुपारा में, श्रावस्ती के व्यापारी पहुँचे और उससे सातवीं बार समुद्रयात्रा की प्रार्थना की। पहले तो उसने अपनी जान खतरे में डालने के बहाने से यात्रा टालनी चाही, लेकिन जब उन लोगों ने उसे बहुत घेरा तो उसने उनकी बात मान ली। इस यात्रा में पूर्ण ने व्यापारियों से बुद्ध के बारे में सुना। यात्रा से लौट आने पर उसके बड़े भाई ने उसका विवाह करना चाहा। पर भिक्षु होने के लिए सन्नद्ध पूर्ण ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। वह एक सार्थ के साथ श्रावस्ती पहुँचा और वहाँ पहुँचकर प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिण्डिक के पास अपना एक दूत भेजा। अनाथपिण्डिक ने पहले तो समझा कि पूर्ण कोई सौदा करने आया है। पर जब उसने यह सुना कि पूर्ण भिक्षु होनेवाला है तो उसे बुद्ध से मिला दिया। बुद्ध-धर्म में पूर्ण की दीक्षा हृदय को छूती है, इसमें किसी तरह की अलौकिक बात नहीं आने पाई है। जिस तरह लहरें समुद्र को क्षुब्ध कर देती हैं उसी तरह नाविकों का मन भी एकदम क्षुब्ध हो जाता है और वे बहुधा अपना व्यवसाय छोड़कर धर्म के उपदेशक बन जाते हैं। ऐसा पता लगता है कि बहुत दिनों का एकान्तवास और प्राकृतिक उथल-पुथल नाविक के हृदय में एक तरह की दीनता भर देती है जो एकाएक धार्मिक उल्लास में फूट पड़ती है। पूर्ण के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। बुद्ध के साथ पूर्ण के वार्तालाप से यह पता लगता है कि रुकावटों के होते हुए भी वह अपना काम करने पर कमर कसे हुए था। जब बुद्ध ने उससे कार्यक्षेत्र के बारे में पूछा तो पूर्ण ने श्रोणापरान्त अथवा बर्मा का नाम लिया। बुद्ध ने वहाँ के लोगों के क्रूर स्वभाव की ओर इशारा किया, लेकिन यह बात भी पूर्ण को वहाँ जाने से न रोक सकी।

1 मेमोरियल सिलवाँ लेवी, पृ० १६७ से

ऐसा लगता है कि पूर्ण की अलौकिक शक्ति से प्रभावित होकर समुद्र के व्यापारी उसे समुद्र का सन्त मानने लगे थे। इस बात का पता हमें पूर्ण के भाई की यात्रा से लगता है। पूर्ण की सलाह न मान कर भी उसने रक्तचन्दन की तलाश में समुद्रयात्रा की। तिमोर में सबसे अच्छा चन्दन होता था। वहाँ पहुँचकर उसने चन्दन के बहुत-से पेड़ काट डाले जिससे क्रुद्ध होकर वहाँ के यक्ष ने एक तूफान खड़ा कर दिया जिसमें पूर्ण के भाई की जान जाते-जाते बची। पर पूर्ण का स्मरण करते ही तूफान रुक गया और पूर्ण का भाई अपने साथियों-सहित कुशल-पूर्वक अपने घर लौट आया।

उपर्युक्त घटना का चित्रण अजंटा की दूसरे नम्बर की लेण के एक भित्तिचित्र में हुआ है।[1] (आ० १५) इस चित्र में पूर्ण के जीवन की कई घटनाओं का—जैसे, उसकी बुद्ध के साथ भेंट और बौद्ध-धर्म में प्रवेश का—चित्रण हुआ है। लेकिन इस चित्र में जिस उल्लेखनीय घटना का चित्रण है वह है पूर्ण के बड़े भाई भविल की चन्दन की खोज में समुद्रयात्रा। समुद्र में मछलियाँ और दो मत्स्यनारियाँ दिखलाई गई हैं। जहाज मजबूत और बड़ा बना हुआ है और उसमें रखे हुए बारह घड़े इस बात को सूचित करते हैं कि जहाज लम्बी यात्रा पर जानेवाला था। गलही और पिछाड़ी, दोनों पर व्यालक बने हुए हैं। डाँड़े के पास निर्यामक के बैठने का स्थान है। पिछाड़ी में एक चौखटे में लगा हुआ स्तम्भ शायद एक जिबपाल वहन करता था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, सबसे अच्छा चन्दन मलय-एशिया से भारत को आता था। एक जगह इस बात का उल्लेख है[2] कि एक समुद्री व्यापारी ने बौद्ध-साहित्य में प्रसिद्ध विशाखा मृगारमाता के पास चन्दन की लकड़ी की गड्डी (चन्दन गण्डीरक) भेजी। चन्दन के मूल और अग्रभाग की जाँच करने की ठानी गई। उसके लिए विशाखा ने एक मामूली-सा प्रयोग बतलाया। चन्दन का कुन्दा पानी में भिंगो देने से जड़ तो पानी में बैठ जाती थी और सिरा तैरने लगता था। यह चन्दन हमें अरबों के ऊदवर्की की याद दिलाता है।

वह गोशीर्ष चन्दन, जिससे पूर्ण ने बहुत धन पैदा किया, एक तरह का पीला चन्दन होता था जिसे इब्न-अल-बैतार (११९७-१२४८) मकासिरी कहता है। मलाया में भी बहुत अच्छी किस्म का चन्दन होता था। सलाहुत (जावा का एक भाग), तिमोर और चन्द्रद्वीप के चन्दन भी बहुत अच्छे होते थे। उपर्युक्त मकासिरी चन्दन मकास्सार, यानी, सेलिबीज में होनेवाला चन्दन था[3]।

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि समुद्रयात्रा में अनेक भय थे। उन भयों से त्रस्त होकर घर की स्त्रियाँ व्यापारियों को समुद्र-यात्रा के लिए मना करती थीं, लेकिन वे अगर जाने से न मानते थे तो स्त्रियाँ उनके कुशल-पूर्वक लौटने के लिए देवताओं की मन्नतें मानती थीं। अवदानशतक[4] में कहा गया है कि राजगृह में एक समुद्री व्यापारी की स्त्री ने इस बात की मन्नत मानी कि उसके पति के कुशल-पूर्वक लौट आने पर वह नारायण को सोने का एक चक्र भेंट करेगी। अपने पति के लौट आने पर उसने बड़ी धूमधाम से मानता उतारी।

---

१ याजदानी, अजंता, भा० २, पृ० ४५ से, प्लेट ४२

२ गिलगिट मैनस्क्रिप्ट्स, भा० ३, २, पृ० ६४

३ जे० ए०, १९१८, जनवरी-फरवरी, पृ० १०७ से

४ अवदानशतक १, पृ० १२६

समुद्रयात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए भारतीय व्यापारी अपनी स्त्रियों को बाहर नहीं ले जाते थे, पर कभी-कभी वे ऐसा कर भी लेते थे। दिव्यावदान[1] में कहा गया है कि अपने पति के साथ समुद्रयात्रा करती हुई एक स्त्री को जहाज पर ही बच्चा पैदा हुआ और समुद्र में पैदा होने से उसका नाम समुद्र रख दिया गया।

उस युग में भी भारतीय जहाजों की बनावट बहुत मजबूत नहीं होती थी, इसलिए अपनी यात्रा में वे बहुधा टूट-फूट जाते थे। शार्क, देवमास, तिमि, तिमिंगल, शिशुमार और कुम्भीर के धक्कों को वे सह नहीं सकते थे। ऊँची लहरों (आवर्त) से भी जहाज टूब जाते थे। समुद्र के अन्तर्जलगत पर्वत आघातमय उन्हें तोड़-फोड़ देते थे। जलडाकू नीले कपड़े पहनकर समुद्र में अपने शिकार की तलाश में बराबर घूमा करते थे।[2] द्वीपों में बसनेवाले जंगली भी यात्रियों पर आक्रमण करके उन्हें लूट लेते थे। लोगों का विश्वास था कि समुद्र के बड़े-बड़े साँप जहाजों पर धावा कर देते हैं।

जहाज टूटने के बाद सिवाय अपने इष्टदेव की प्रार्थना करने के और दूसरा कोई उपाय नहीं रह जाता था। महावस्तु के अनुसार, डूबते हुए जहाज के यात्री घड़ों, तख्तों और तुम्बों (अलाबुश्रेणी)[3] के सहारे अपनी जान बचाने की कोशिश करते थे।

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य से भारतीय जहाजरानी के सम्बन्ध में और भी छोटी-मोटी बातें मिलती हैं। हमें पता लगता है कि जहाज लंगर डालने के बाद एक खूँटे (वेत्रपाश)[4] से बाँध दिया जाता था। लंगर जहाज को क्षुब्ध समुद्र में सीधा रखता थ. और गहरे समुद्र में उसे हिलने से रोकता था[5]। जहाँ तक मैं जानता हूँ, समुद्री नक्शे अथवा लॉगबुक का सबसे पहला उल्लेख बृहत्कथाश्लोक-संग्रह में हुआ है[6]। मनोहर ने अपनी समुद्रयात्रा में शृंगवान पर्वत और श्रीकुंजनगर की भौगोलिक स्थिति का पता लगा कर उसे एक नक्शे अथवा बही पर लिख लिया (सहसागरदिग्देशं स्पष्टं संपुटकेऽलिखन्)।

निर्यामकों और नाविकों की अपनी-अपनी श्रेणियाँ होती थीं। आर्यसूर ने सोपारा के निर्यामकों के चौधरी सुपारगकुमार की शिक्षा का विस्तृत वर्णन किया है। एक कुशल संचालक (सारथि) की हैसियत से वह बहुत थोड़े समय में ही अपना पुवक सीख लेता था। नक्षत्रों की गति-विधि का ज्ञान होने से उसे कभी भी दिशाभ्रम नहीं होता था। फलित-ज्योतिष के ज्ञान से उसे आनेवाली विपत्तियों का भी ज्ञान हो जाता था। उसे अच्छे और खराब मौसम का तुरन्त भास हो जाता था। उसने मछलियों, पानी के रंगों, किनारों की बनावटों, पक्षियों, पर्वतों इत्यादि की खोज-बीन से समुद्रों का अध्ययन किया था। जहाज चलाते समय वह कभी भी नहीं सोता था। गरमी, जाड़ा और बरसात में वह समान भाव से अपने जहाज को आगे-पीछे (आहरणापहरण) ले जाता था और इस तरह अपने जहाज के यात्रियों को कुशल-पूर्वक

---

१ दिव्यावदान, २६, ६७६

२ दिव्यावदान, पृ० ५०२

३ महावस्तु, ३, पृ० ६८

४ दिव्यावदान, पृ० ११२

५ मिलिन्द प्रश्न, पृ० ३७७

६ बृहत्कथा-श्लोक संग्रह, १२, १०७

गन्तव्य स्थान को पहुँचा देता था। मिलिन्दप्रश्न में[1] एक जगह कहा गया है कि निर्यामक को अपने यन्त्र का बड़ा ख्याल रहता था। वह उसे दूसरों के छूने के भय से मुहरबन्द करके रखता था। यहाँ यह कहना कठिन है कि यन्त्र से पतवार का मतलब है या कुतुबनुमे का। जैसा हमे पता है, कुतुबनुमे का आविष्कार तो शायद चीनियों ने बहुत बाद में किया।

समुद्रयात्रा की सफलता जहाज़ के नाविकों की चुस्ती पर बहुत-कुछ निर्भर होती थी। मिलिन्दप्रश्न[2] से हमें पता लगता है कि भारतीय खलासियों (कम्मकर) को अपनी जवाबदेही का पूरा ज्ञान होता था। भारतीय नाविक प्रायः सोचता था—"मैं नौकर (भृत्य) हूँ और जहाज पर वेतन के लिए नौकरी करता हूँ। इसी जहाज की वजह से मुझे खाना और कपड़ा मिलता है। मुझे सुस्त नहीं होना चाहिए, चुस्ती के साथ मुझे जहाज चलाना चाहिए।" लगता है कि उस युग में जहाज और नाव चलानेवाले कई तरह के नाविक होते थे। 'आहार' नाम के नाविक जहाज को किनारे पर ले जाते थे। खलासियों को नाविक कहते थे। नदियों पर नाव चलानेवाले माँझी (कैवर्त) कहलाते थे। पतवार चलाने का काम कर्णधारों के सुपुर्द होता था[3]।

जैसा हम एक जगह देख आये हैं, लालसागर और फारस की खाड़ी के जहाजरानी में उतनी ही मुसीबतें थीं जितनी पहले। आर्यसूर ने जातकमाला में के सुपारगजातक[4] में जातकों के सुप्पारकजातक (नं ४६३) का एक नवीन काव्यमय रूप दिया है। इस जातक में उसने निर्यामक का नाम सुपारग, यानी, 'जहाजरानी में कुशल' रखा है। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, सुपारग एक कुशल निर्यामक था और निर्यामकसूत्र में उसने पूरी शिक्षा पाई थी। आर्यसूर ने कल्पना की है कि सोपारा के बन्दर का नामकरण भी उसी के नाम से हुआ था। समुद्र के व्यापारी (सांयात्रिक) कुशल-पूर्वक यात्रा करने के उद्देश्य से उसकी खुशामद करते थे। एक समय सुवर्णभूमि के व्यापारियों ने अपने जहाज को चलाने के लिए (वाहनारोहणार्थं) उससे प्रार्थना की, पर उसने, वृद्धावस्था के कारण आँखें कमजोर पड़ जाने से, उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। पर व्यापारी कब माननेवाले थे। सुपारग ने अपने भले स्वभाव के कारण बुढ़ापे की कमजोरियों के होते हुए भी उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

जहाज कुछ दिनों में मछलियों से भरे सागर में पहुँच गया। क्षुब्ध समुद्र के वेग से फेनिल लहरों पर रंगीन धारियाँ पड़ रही थीं तथा सूर्य की रोशनी में नीला समुद्र मानो आकाश छू रहा था। किनारे का कोई निशान नहीं था। सूर्यास्त के बाद मौसम और भी भयंकर हो गया; लहरें फेनिल हो गईं, हवा गरजने लगी, और उछलते हुए पानी ने समुद्र को और भी भीषण बना दिया। हवा से क्षुब्ध समुद्र में भँवर पड़ने लगे और ऐसा पता लगने लगा कि प्रलय नजदीक है। धीरे-धीरे बादलों के पीछे सूर्य अस्त हो गया और चारों ओर अँधेरा छा गया। समुद्र से इधर-उधर फेंका जाकर, मानो भय से जहाज काँप रहा था। ऐसे समय, यात्री बहुत घबराये और अपने इष्टदेवताओं का स्मरण करने लगे।

---

१ मिलिन्दप्रश्न, पृ० ३०२

२ वही, पृ० ३७८

३. अवदानशतक, १, २०१

४ जातकमाला, पृ० ८८ से

इस तरह जहाज कई दिनों तक समुद्र में लुढ़कता रहा; पर यात्रियों को किनारे का पता न चला। कोई ऐसे लक्षण भी नहीं दिखलाई दिये जिनसे वे उस समुद्र की पहचान कर सकें। नये लक्षणों को देखकर व्यापारी बहुत चिन्तित हुए। उन्हें धीरज बँधाने के लिए सुपारग ने कहा—"ये तूफान के लक्षण हैं। विपत्ति से पार पाने का रास्ता न होने पर कर्त्तव्य छोड़िए। कर्तव्यनिरत मनुष्य हँसकर तकलीफों को उड़ा देते हैं।" सुपारग के उत्साहवर्द्धक शब्द काम कर गये और वे अपनी घबराहट भूलकर समुद्र की ओर देखने लगे। उनमें से कुछ ने स्त्री-मत्स्य देखे, पर वे यह निश्चित न कर सके कि वे स्त्रियाँ थीं अथवा किसी तरह की मछलियाँ। उनके सन्देह दूर करने के लिए सुपारग ने उन्हें बताया कि वे खुरमाली समुद्र की मछलियाँ थीं। व्यापारियों ने अपने जहाज का रास्ता बदल देना चाहा, पर लहरों की चपेट में पड़कर जहाज एक फेनिल समुद्र में पहुँच गया जिसका नाम सुपारग ने दधिमाल बतलाया। इसके बाद वे अग्निमाल समुद्र में पहुँचे जिसका पानी अंगारों की तरह लाल था। यहाँ भी जहाज रोका नहीं जा सका और वह बहते-बहते क्रमशः कुशमाल और नलमाल समुद्रों में पहुँचा। यहाँ जब निर्यामक ने यात्रियों को बतलाया कि वे पृथ्वी के अन्त में पहुँच गये हैं तो वे भयभीत हो गये। समुद्र में शोर के कारण का पता लगने पर सुपारग ने उन्हें बताया कि वह शोर ज्वालामुखी पर्वत का था। अपना अन्त आया जानकर कुछ व्यापारी रोने लगे, कुछ इन्द्र, आदित्य, रुद्र, मरुत्, वसु, समुद्र इत्यादि देवताओं का आवाहन करने लगे और कुछ साधारण देवी-देवताओं की याद करने लगे। पर सुपारग ने उन्हें सान्त्वना दी और उसकी प्रार्थना से जहाज ज्वालामुखी पर्वत के मुख के पास आकर फिर आया। बाद में सुपारग ने उनसे वहाँ की रेत और पत्थर जहाज में भर लेने को कहा। वापस लौटकर व्यापारियों को पता लगा कि वे रेत-पत्थर नहीं; बल्कि सोना चाँदी और रत्न थे।

सुपारगजातक में अतिशयोक्ति का पुट होते हुए भी यह निश्चित है कि इस कहानी का आधार फारस की खाड़ी, लालसागर और भूमध्यसागर की यात्राएँ थीं।

दिव्यावदान में और कई समुद्रयात्रा-सम्बन्धी कहानियाँ हैं जिनसे पता लगता है कि फायदे और सैर के लिए किस तरह लोग यात्राएँ करते थे।

कोटिकर्ण की यात्रा[1] में कहा गया है कि एक बार उसने अपने पिता से माल के साथ समुद्रयात्रा के लिए आज्ञा माँगी। उसके पिता ने मुनादी करा दी कि उसके पुत्र के साथ जानेवाले व्यापारियों को कोई मासूल नहीं देना होगा। कोटिकर्ण ने बन्दरगाह तक जाने के लिए होशियार खच्चर चुने। चलते समय उसके पिता ने उसे उपदेश दिया कि वह सार्थ के आगे कभी न चले, क्योंकि उसमें लुटने का भय रहता है। सार्थ के पीछे चलना इसलिए ठीक नहीं कि थककर साथ छूट जाने का भय बना रहता है। इसलिए सार्थ के बीच में चलना ही ठीक है। उसके पिता ने दासक और पालक नामक दो दासों को कोटिकर्ण के साथ बराबर रहने का आदेश दिया। कोटिकर्ण धार्मिक कृत्य करने के बाद अपनी माता के पास आज्ञा के लिए पहुँचा। माता ने बेमन से आज्ञा दी। इसके बाद कोटिकर्ण ने समुद्र यात्रा में जानेवाला माल बैलगाड़ियों मोटियों, बैलों और खच्चरों पर तथा पेटियों में लादा और यात्रा करते हुए बन्दरगाह पर पहुँच गया। वहाँ से वह एक मजबूत जहाज लेकर रत्नद्वीप (सिंहल) पहुँचा। वहाँ रत्नों

---

1 दिव्यावदान, पृ० ४ से

को खूब अच्छी तरह से परीक्षा करके उन्हें खरीदकर जहाज पर लाया। काम समाप्त होने के बाद अनुकूल हवा के सहारे वह भारत पहुँचा। समुद्र के किनारे उसका कारवाँ विश्राम करने लगा और कोटिकर्ण उसे छोड़कर आय-व्यय का लेखा-जोखा करने लगा। कुछ देर के बाद उसने दासक को कारवाँ का हालचाल जानने के लिए भेजा। दासक ने सबको सोते देखा और खुद भी सो गया। दासक के वापस न लौटने पर कोटिकर्ण ने पालक को भेजा। पालक ने जाकर देखा कि कारवाँ लद रहा है, और यह सोचकर कि दासक लौट गया होगा, वह स्वयं इस काम में जुट गया। माल लादकर कारवाँ ने कूच कर दिया। सबेरे कारवाँ को पता लगा कि कोटिकर्ण गायब है, लेकिन तबतक वह इतनी दूर बढ़ चुका था कि उसके लिए वापस लौटना सम्भव नहीं था।

सबेरे जब कोटिकर्ण जागा तो उसने देखा कि सार्थ आगे बढ़ चुका है। गदहों की गाड़ी पर चढ़कर उसने कारवाँ का पीछा करना चाहा; पर अभाग्यवश उसके निशान उस समय तक बालू से ढक चुके थे। पर गदहे अपने पथ-ज्ञान के बल से आगे बढ़े। कोटिकर्ण ने उनकी धीमी चाल से क्रोधित होकर उन्हें चाबुक लगाई जिससे वे एक दूसरे ही रास्ते पर चल निकले। कोटिकर्ण को बाद में पानी के अभाव से गदहों को छोड़ देना पड़ा। इसके बाद कहानी का अलौकिक अंश आता है और हमें पता लगता है कि किस तरह कोटिकर्ण अपने घर पहुँचा।

हम ऊपर पूर्ण के बड़े भाई की समुद्रयात्रा की ओर इशारा कर चुके हैं। उसका जहाज अनुकूल हवा के साथ चन्दन के जंगल में पहुँचा और वहाँ व्यापारियों ने अच्छे-से-अच्छे चन्दन के वृक्ष काट डाले। अपने जंगल को कटा देखकर महेश्वर यक्ष ने महाकालिकावात चला दिया और व्यापारी अपने प्राणों के डर से शिव, वरुण, कुबेर, शक्र, ब्रह्मा, असुर, उरग, महोरग, यक्ष और दानवेन्द्र की प्रार्थना करने लगे। उसी समय पूर्ण ने अपनी अलौकिक शक्ति से उनकी रक्षा की।[1]

समुद्र में देवमाछ का भी कभी बड़ा डर रहता था। एक समय पाँच सौ व्यापारी एक जहाज लेकर समुद्रयात्रा पर चले। समुद्र देखकर वे बहुत घबराये और निर्यामक से समुद्र के कालेपन का कारण पूछा। निर्यामक ने कहा—"जम्बुद्वीप के वासियो! समुद्र तो मोती, वैदूर्य, शंख, मूँगा, चाँदी, सोना, अकीक, जमुनिया, लोहितांक और दक्षिणावर्त शंखों का घर है। पर इन रत्नों के वे ही अधिकारी हैं जिन्होंने अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री, दास तथा खानों में काम करनेवाले मजदूरों के प्रति अच्छा व्यवहार किया है और श्रमण तथा ब्राह्मणों को दान दिया है।" जहाज पर वे ही लोग थे जिन्हें माल पैदा करने की तो इच्छा थी, पर वे किसी तरह का खतरा उठाने को तैयार नहीं थे। निर्यामक ने जहाज पर भीड़ होने की शिकायत की, पर व्यापारियों को यह नहीं सूझा कि किस उपाय से वह भीड़ छँट जाय। बहुत सोचने-विचारने के बाद व्यापारियों ने निर्यामक से कहा कि वह भीड़ से समुद्र की तकलीफों की कथा कहे। निर्यामक ने भीड़ को सम्बोधन करके कहा—"अरे जम्बुद्वीप के निवासियो! समुद्र में अनेक अनजाने भय हैं। वहाँ तिमि और तिमिंगल नाम के बड़े देवमाछ रहते हैं और वे कछुए भी दिखलाई देते हैं। लहरें ऊँची उठती हैं और कभी-कभी किनारे गिर पड़ते हैं (रंधलवत्सीदन)। जहाज कभी-कभी दूर तक चले जाते हैं और कभी-कभी पानी के नीचे छिपी चट्टानों से टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं। यहाँ तूफानों (कालिकावात)

---

1 दिव्यावदान, पृ० ४०-४१

का भी भय रहता है। समुद्री डाकू नीले कपड़े पहनकर जहाजों को लूटते रहते हैं। इसलिए तुममें से जो अपनी जान देने को तैयार हैं और अपना माल-मता लड़कों को सौंप चुके हैं वे ही इस यात्रा पर चलने की सोचें। संसार में वीर कम हैं, डरपोक बहुत हैं।" निर्यामक की यह दिल दहलानेवाली बात सुनकर भीड़ खिसक गई। जहाजियों ने बेत्र काट लिया और पालें खोल दीं। निर्यामक द्वारा संचालित (महाकर्णधारसम्प्रेरितं) उस नाव ने अनुकूल वायु से रफ्तार पकड़ ली और धीरे-धीरे वह रत्नद्वीप पहुँच गई।[1]

सिंहल में जहाज के पहुँचने पर कर्णधार ने व्यापारियों से कहा—"इस द्वीप में ऐसी काँचमणियाँ मिलती हैं जो देखने में बिल्कुल असली रत्नों की तरह मालूम पड़ती हैं। इसलिए तुम लोगों को रत्न खरीदने के लिए उनकी पूरी जाँच-पड़ताल करनी चाहिए, नहीं तो घर लौटने पर केवल तुम अपने भाग्य ही को कोसोगे। इस द्वीप में क्रौंच-कुमारिकाएँ रहती हैं जो आदमियों को पकड़कर उन्हें खूब पीटती हैं। यहाँ ऐसे नशीले फल भी होते हैं जिन्हें खाने से सात दिन तक आदमी सोता रहता है। यहाँ की प्रतिकूल हवा जहाज को अपने रास्ते से हटा देती है।" इस तरह खबरदार किये जाने के बाद व्यापारियों ने खूब परखकर सच्चे रत्न खरीदे और कुछ दिनों के बाद अनुकूल हवा में अपना जहाज भारत के लिए खोल दिया। रास्ते में उन्हें बहुत बड़े-बड़े मच्छ मिले तथा बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हुई दिखाई दीं। व्यापारियों ने एक देवमास (तिमिंगल) को तैरते हुए देखा। उसके बदन का तिहाई भाग पानी के ऊपर उठा हुआ था। उसने जैसे ही अपने जबड़े खोले, समुद्र का पानी उसके मुख से हरहरा कर निकलने लगा। पानी के जोर से कछुए, जल-अश्व (वल्लभक), सूँस और दूसरे बहुत किस्म की मछलियाँ उसके मुँह में घुसकर पेट के अन्दर पहुँच गईं। उसे देखकर व्यापारियों ने सोचा कि प्रलय नजदीक है। उन्हें इस घबराहट में पड़ा हुआ देखकर कर्णधार ने उनसे कहा—"तुम सबने पहले ही समुद्र में तिमिंगल-भय के बारे में सुन लिया था, वही भय उपस्थित हो गया है। पानी से निकलती हुई एक चट्टान-सी जो तुम्हें दिखाई देती है वह तिमिंगल का सिर है और जो भाग तुम्हें माणिकों की कनार-सा दिखलाई देता है वह उसके ओठ हैं, जबड़ों के भीतर सफेद रेखा उसके दाँत हैं और जलते हुए गोले उसकी आँखें हैं; अब हमें आसन्न मृत्यु से कोई नहीं बचा सकता। अब तुम सब मिलकर अपने इष्टदेवताओं की प्रार्थना करो।" व्यापारियों ने वही किया, किन्तु उसका कोई असर नहीं हुआ; पर जैसे ही बुद्ध की प्रार्थना की गई वैसे ही तिमिंगल ने अपना मुँह बन्द कर लिया। इस तरह व्यापारियों की जान बच गई।[2]

उपर्युक्त कहानियों में हम यथार्थवाद और अलौकिकता का एक विचित्र सम्मिश्रण देखते हैं और कुछ हद तक यह ठीक भी है, क्योंकि इन कथाओं का उद्देश्य बौद्धों की धर्मभावना को बढ़ाना था। उस प्राचीन काल में, आज की तरह, विज्ञान नहीं था। इसलिए, जब मनुष्य के सामने विपत्तियाँ आती थीं तब वे उनके प्राकृतिक कारणों को जाने बिना ही उनके अलौकिक कारणों की खोज करने लगते थे। पर इतना सब होते हुए भी संस्कृत-साहित्य की समुद्री कहानियाँ वास्तविक घटनाओं पर आश्रित थीं। हमें इस बात का पता है कि ये समुद्री व्यापारी अनेक कष्टों को सहते हुए भी विदेशयात्रा से कभी विमुख नहीं हुए। उनके छोटे-छोटे जहाज तूफान में पड़कर

---

१ वही, पृ० २२९-२३०

२ वही, पृ० २३१-२३२

डूब जाते थे। ऐसी घटनाओं में अधिकतर यात्री तो जान खो बैठते थे और जो थोड़े बहुत-बचते थे वे द्वीपों पर जा लगते थे जहाँ से उनका उद्धार आने-जानेवाले जहाज ही करते थे। समुद्र के अन्दर पथरीली चट्टानों तथा जल-डाकुओं का भी जहाजियों को सामना करना पड़ता था। इन यात्राओं की सफलता कर्णधार या निर्यामक की कार्यकुशलता पर निर्भर होती थी। ये निर्यामक मँजे हुए नाविक होते थे और उन्हें अपने काम का पूरा ज्ञान होता था। उन्हें समुद्र की मछलियों और तरह-तरह की हवाओं का भी पूरा ज्ञान होता था; समय पर वे व्यापारियों को भी सलाह देते थे।

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में हमें उस काल की श्रेणियों के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी मिलती है। बुद्ध के समय से इस समय की श्रेणियाँ काफी सुगठित हो चुकी थीं और उनका देश के आर्थिक जीवन में अपना स्थान बन चुका था। ये श्रेणियाँ अपने कानून भी बना सकती थीं; पर ऐसे नियमों की पाबन्दी के लिए यह आवश्यक था कि वे सर्वसम्मत हों।

इन नियमों को लेकर कभी-कभी मुकद्दमे भी चल जाते थे।[1] हम सुपारा के प्रसिद्ध व्यापारी पूर्ण की कहानी ऊपर पढ़ चुके हैं। एक समय उसने समुद्र-पार से पाँच सौ व्यापारियों के आने का समाचार पाया। पूर्ण ने जाकर उनके माल (द्रव्य) के बारे में उनसे पूछा और उन लोगों ने उसे माल और उसकी कीमत बता दी। माल के दाम, आठ लाख मुहरों के बयाने (अवदंग) में पूर्ण ने उन्हें तीन लाख मुहरें दीं और यह शर्त कर ली कि बाकी दाम वह माल उठाने के दिन चुका देगा। सौदा तै हो जाने पर पूर्ण ने माल पर अपनी मुहर लगा दी (स्वमुद्रालक्षितम्) और चला गया। दूसरे व्यापारियों ने भी माल आने का समाचार सुना और उन्होंने दलालों (अवचारका. पुरुषा) को माल की किस्म और दाम पूछने के लिए भेजा। दलालों ने दाम सुनकर माल का दाम कम कराने के ख्याल से व्यापारियों से कहा कि उनके कोठे (कोष्ठ-कोष्ठागाराणि) भरे हैं। पर, उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने सुना कि, चाहे उनके कोठे भरे हों या न हों, उनका माल पूर्ण खरीद चुका था। कुछ कहा-सुनी के बाद, जिसमें विक्रेताओं ने खरीदारों से कहा कि जितना पूर्ण ने बयाने की रकम दी थी उतनी रकम तो वे लोग पूरे माल के लिए भी नहीं दे सकते थे, दलाल पूर्ण के पास पहुँचे और उसपर डाकेजनी का अभियोग लगाकर उसे बतलाया कि श्रेणी ने कुछ नियम बनाये थे (क्रियाकारा. कृत.) जिनके अनुसार श्रेणी का कोई एक सदस्य माल खरीदने का अधिकारी नहीं हो सकता था, उस माल को सारी श्रेणी ही खरीद सकती थी। पूर्ण ने इस नियम के विरुद्ध आपत्ति उठाई, क्योंकि यह नियम स्वीकृत करते समय वह अथवा उसके भाई नहीं बुलाये गये थे। उसके नियम न मानने पर श्रेणी ने उसपर साठ कार्षापण जुर्माना किया। मुकदमा राजा के पास गया और पूर्ण वहाँ से जीत गया।

कुछ दिनों के बाद राजा को उन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ी जिन्हें पूर्ण ने खरीदा था। राजा ने श्रेणी के सदस्यों से उन्हें भेजने को कहा पर वे ऐसा न कर सके, क्योंकि माल उनके प्रतिद्वन्द्वी पूर्ण के अधिकार में था। उन्होंने राजा से प्रार्थना की कि वे पूर्ण से माल ले लें। पर राजा ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। झख मारकर महाजनों ने पूर्ण के पास अपना आदमी भेजा; पर उसने माल बेचने से इन्कार कर दिया। इस आफत से अपना छुटकारा न देखकर

---

1 वही, पृ० ३२-३६

महाजनों का एक प्रतिनिधि-मंडल पूर्ण से मिला। उसने पूर्ण से दाम के दाम पर माल खरीदना चाहा; पर पूर्ण ने उनसे दूना दाम वसूल करके ही छोड़ा।

ऊपर की कहानी से पता लगता है कि जिस समय यह कहानी लिखी गई, उस समय तक श्रेणियाँ काफी विकसित हो गई थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि महाजनों की श्रेणी सामूहिक रूप से सौदा खरीदती थी; श्रेणियाँ अपने नियम बना सकती थीं, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक था कि नियम स्वीकार करने में श्रेणी के सब सदस्य एकमत हों।

समुद्री व्यापार में भी कभी-कभी विचित्र तरह के मुकदमे सामने आते थे। बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह (१।४।२१-२६) में कहा गया है कि एक समय उदयन जब अपने दरबार में आये तो दो व्यापारियों ने उन्हें अपनी कहानी सुनाई। व्यापारियों के पिता ने समुद्रयात्रा में अपनी जान खो दी थी। बड़े भाई की भी वही दशा हुई। इसके बाद उनके भाई की स्त्री ने सारी जायदाद पर अपना अधिकार कर लिया। व्यापारियों ने राजा के पास माल के बँटवारे की दर्खास्त दी। राजा ने उनकी भाभी को बुलवाया। उनकी भाभी ने कहा, "यद्यपि मेरे पति का जहाज डूब गया, तथापि यह बात पूर्णतः सिद्ध नहीं हो सकी है कि मेरा पति मर ही गया है। इस बात की सम्भावना है कि दूसरे सायात्रिकों की तरह वह भी लौट आवें। इसके अतिरिक्त मैं गर्भवती हूँ और मुझे सन्तान होने की सम्भावना है। इन्हीं कारणों से मैंने अपने देवरों को सम्पत्ति नहीं दी। राजा ने उसकी बात मान ली।"

हमें तत्कालीन साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि श्रेणियों का राजा के ऊपर काफी प्रभाव होता था। नगरसेठ, जो राज्य का मुख्य महाजन होता था, राजा के सलाहकारों में होता था और समय पड़ने पर वह धन से भी राज्य की मदद करता था। अब प्रश्न यह उठता है कि उस युग में कितनी तरह की श्रेणियाँ थीं। इस सम्बन्ध में हमें बहुत नहीं पता लगता, फिर भी महावस्तु से हमें इस सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-बहुत विवरण मिलता है। लगता है, नगरों में कुशल कारीगरों का विशेष स्थान था। जो सबसे अच्छे कारीगर होते थे उन्हें महत्तर कहा जाता था।[1] मालाकार महत्तर गजरे (कण्ठगुणानि), गन्धमुकुट और तरह-तरह की, राजा के उपभोग-योग्य मालाएँ बनाता था। कुम्भकार महत्तर तरह-तरह के मिट्टी के बर्तन बनाता था। वर्धकी महत्तर तरह-तरह की कुर्सियाँ, मच-पीठ बनाने में चतुर था। धोबियों का चौधरी अपने फन में सानी नहीं रखता था। रँगरेज महत्तर अच्छी-से-अच्छी रँगाई करता था। ठठेरों का सरदार सोने-चाँदी के और रत्नखचित बर्तन बनाता था। सुवर्णकार महत्तर सोने के गहने बनाता था। वह अपने गहनों की ढलाई, पालिश इत्यादि कामों में बड़ा प्रवीण होता था। मणिकार महत्तर को जवाहिरातों का बड़ा ज्ञान होता था और वह मोती, वैडूर्य, शंख, मूँगा, स्फटिक, लोहिताक, मसारगल्व इत्यादि का पारखी होता था। शंखवलयकार महत्तर, शंख और हाथीदाँत की कारीगरी में उस्ताद होता था। शंख और हाथीदाँत से वह खूँटियाँ, अंजनशलाका, पेटियाँ, भृंगार, कड़े, चूड़ियाँ और दूसरे गहने बनाता था। यन्त्रकार महत्तर खराद पर चढ़ाकर तरह-तरह के खिलौने, पंखे, कुर्सियाँ, मूर्तियाँ इत्यादि बनाता था। तरह-तरह के फूलों, फलों और पत्तियों की भी वह ठीक ठीक नकल कर लेता था। बेंत बिननेवाला महत्तर तरह-तरह के पंखे, छाते, टोकरियाँ, मंच, पेटियाँ इत्यादि बनाता था।

---

1 महावस्तु, भा० २, पृ० ४६३ से ४७७

महावस्तु में कपिलवस्तु की श्रेणियों का उल्लेख है; साधारण श्रेणियों में सौवर्णिक (हैरण्यिक), चादर बेचनेवाले (प्रावारिक), शंखका काम करनेवाले (शांखिक), हाथी-दांत का काम करनेवाले (दन्तकार), मनियारे (मणिकार), पत्थर का काम करनेवाले (प्रास्तरिक), गन्धी, रेशमी और ऊनी कपड़ेवाले (कोशाविक), तेली, घी बेचनेवाले (घृतकुण्डिक), गुड़ बेचनेवाले (गौलिक), पान बेचनेवाले (वारिक), कपास बेचनेवाले (कार्पासिक), दही बेचनेवाले (दध्यिक), पूये बेचनेवाले (पूपिक), खांड़ बनानेवाले (खण्डकारक), लड्डू बनानेवाले (मोदकारक), कन्दोई (कण्डुक), आटा बनानेवाले (समितकारक), सत्तू बनानेवाले (सक्तुकारक), फल बेचनेवाले (फलवणिज), कन्द-मूल बेचनेवाले (मूलवाणिज), सुगन्धित चूर्ण और तेल बेचनेवाले (चूर्णकुट्ट-गन्ध-तैलिक), गुड़ बनानेवाले (गुड़पाचक), खांड बनानेवाले (खण्डपाचक), सोंठ बेचनेवाले, शराब बनानेवाले (सीधुकारक) और शक्कर बेचनेवाले (शर्कर-वणिज) थे।[१]

इन श्रेणियों के अलावा कुछ ऐसी श्रेणियाँ होती थीं, जिन्हें महावस्तु में शिल्पायतन कहा गया है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इन शिल्पायतनों ने देश की आधिभौतिक संस्कृति के विकास में बहुत हाथ बँटाया होगा और इनके द्वारा बनाई हुई वस्तुएँ देश के बाहर भी गई होंगी और इस तरह भारत और विदेशों का सम्बन्ध और भी दृढ़ हुआ होगा। इन शिल्पायतनों में लुहार, ताँबा पीटनेवाले, ठठेरे, पीतल बनानेवाले, रांगे के कारीगर, शीशे का काम करनेवाले तथा खराद पर चढ़ानेवाले मुख्य थे। मालाकार, गद्दियाँ भरनेवाले (पुरिमकार) कुम्हार, चर्मकार, ऊन बिननेवाले, बेंत बिननेवाले, देवता-तन्त्र पर बिननेवाले, साफ कपड़े धोनेवाले, रँगरेज, सुईकार, तांती, चित्रकार, सोने और चांदी के गहने बनानेवाले, समूरों के कारीगर, पोताई के कारीगर, नाई, छेद करनेवाले, लेप करनेवाले, स्थपति, सूत्रधार, कुएँ खोदनेवाले, लकड़ी-बाँस इत्यादि के व्यापार करनेवाले, नाविक, सुवर्णधोवक इत्यादि प्रसिद्ध थे।

ऊपर हमने तत्कालीन व्यापार और उससे सम्बन्धित श्रेणियों का थोड़ा-सा हाल दे दिया है। जैसे-जैसे ईसा की प्रारम्भिक सदियों में व्यापार बढ़ता गया, वैसे-वैसे, व्यापार के ठीक से चलने के लिए नियमों की आवश्यकता हुई। इसी के आधार पर साझेदारी, वादा पूरा न करने तथा माल न देने और श्रेणि सम्बन्धी नियमों की व्याख्या की गई। जिस तरह कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तत्कालीन व्यापार-सम्बन्धी बहुत-से नियम दिये हैं उसी तरह नारदस्मृति में भी बहुत-से व्यापार-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। सम्भव है कि नारदस्मृति का संकलन तो गुप्त-युग में हुआ, पर उसमें जो नियम हैं वे शायद ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में चालू रहे हों।

नारदस्मृति के अनुसार, भागीदार एक काम में बराबर अथवा पूर्व निश्चित रकम लगाते थे।[२] फायदा, नुकसान और खर्च भागीदारी के हिस्से के अनुपात में बँट जाता था। स्टोर, भोजन, नुकसानी, ढुलवाई तथा कीमती माल की रखवाली का खर्च एकरारनामे के अनुसार निश्चित होता था। प्रत्येक भागीदार को अपनी लापरवाही से अथवा अपने भागीदारों की

---

१ महावस्तु, भा० ३, पृ० ११३; पृ० ४४२-४४३

२ नारदस्मृति, ३। २-७ डब्लू० जे० जोली, आक्सफोर्ड, १८८९

बिना अनुमति के काम करने से हुए घाटे को खुद उठाना पड़ता था। भागीदारी के माल की ईश्वरकोप, राजकोप, तथा डाकुओं से रक्षा करनेवालों को माल का दसवाँ हिस्सा मिलता था। किसी भागीदार की मृत्यु पर उसका उत्तराधिकारी भागीदार बन जाता था, पर उत्तराधिकारी न होने से उसके बाकी साझेदार उसके माल के उत्तराधिकारी हो जाते थे।

व्यापारी को शुल्कशाला में पहुँचकर अपने माल पर शुल्क देना पड़ता था। राज्यकर होने से इसका भरना जरूरी होता था। व्यापारी के शुल्कशाला जाने पर, नियुक्त समय के बाद माल बेचने पर और माल का ठीक दाम न बताने पर माल-मालिक को माल की कीमत का अठारह गुना दण्ड में भरना होता था। किसी पण्डित ब्राह्मण के घरेलू सामान पर तो शुल्क नहीं लगता था, पर व्यापारी माल पर उसेभी शुल्क देना होता था। उसी तरह ब्राह्मण की दान में पाई रकम, नटों के साज-सामान और पीठ पर लदे हुए अपने सामान पर भी शुल्क नहीं देना पड़ता था।[1]

अगर किसी राज्य में यात्री-व्यापारी मर जाता था तो उसका माल उसके उत्तराधिकारियों के लिए दस वर्ष तक रख लिया जाता था।[2] शायद, इसके बाद राजा का उसपर कब्जा हो जाता था।

जो लोग पूर्व-निश्चित स्थान तक माल पहुँचाने से इन्कार करते थे उन्हें मजदूरी का छठा भाग दण्ड में भरना पड़ता था। अगर कोई व्यापारी लद्दू जानवर अथवा गाड़ियाँ तय करके मुकर जाता था तो उसे किराये की रकम का एक चौथाई दण्ड भरना पड़ता था; पर उन्हें भी आधे रास्ते में छोड़ देने से पूरा किराया भरना पड़ता था। माल ढोने से इन्कार करने पर वाहक को मजदूरी नहीं मिलती थी। चलने के समय आनाकानी करने पर उसे मजदूरी का तिगुना दण्ड में भरना पड़ता था। वाहक की लापरवाही से माल को नुकसान पहुँचने पर उसे नुकसानी की रकम भरनी पड़ती थी, पर नुकसान यदि दैवकोप या राजकोप से हुआ हो तब वह हरजाने का हकदार नहीं होता था।[3]

माल न लेने-देने पर सजा मिलती थी। खरीदे हुए माल का बाजार-भाव गिर जाने पर ग्राहक माल और घाटे की रकम, दोनों का अधिकारी होता था। यह कानून देशवासियों के लिए ही था, पर विदेश के व्यापारियों को तो वहाँ के माल पर फायदा भी ग्राहक को भरना पड़ता था। खरीदे हुए माल की पहुँच न देने पर, आग अथवा चोरी की नुकसानी बेचनेवाले को भरनी पड़ती थी। अच्छा माल दिखाकर बाद में खराब माल देकर ठगने पर बेचनेवाले को माल का दूना दाम और उतना ही दण्ड भरना पड़ता था। खरीदा माल दूसरे को दे देने पर भी वही दण्ड लगता था। पर, खरीदार के माल न उठाने पर बेचनेवाला उसे बिना किसी दण्ड के बेच सकता था। पर यह नियम तभी लागू होता था जब दाम चुकता कर दिया गया हो। दाम चुकता न करने पर बेचनेवाला किसी तरह जिम्मेदार नहीं होता था। व्यापारी लाभ के लिए ही माल खरीदते-बेचते थे। पर उनका फायदा दूसरी तरह के माल के दामों के अनुपात में होता था। इसलिए

---

१ वही, ३। १२-१२

२ वही, ३। १६-१८

३ वही, ६।६-३

व्यापारी के लिए यह आवश्यक था कि वह स्थान और समय के अनुसार ठीक दाम रखे।[1]

नारदस्मृति के अनुसार, राजा नगर और जनपद में श्रेणियों, पूगों के नियमों को मानना था। राजा उनके नियम, धर्म, हाजिरी तथा जीवन-यापन की विधियों को भी मानता था।[2]

हिन्दुओं के राज्य में ब्राह्मणों को कुछ खास हक हासिल थे। ब्राह्मण बिना महसूल दिये हुए, सबसे पहले, पार उतर सकते थे; उन्हें अपना माल ढोने के लिए, घट्टी नाव का किराया भी नहीं भरना पड़ता था।[3]

---

१ वही, ८।९-१०
२ वही, १०।२-३
३ वही, १८।३८

आठवाँ अध्याय

दक्षिण-भारत के यात्री

ईसा के पहले की सदियों में दक्षिण-भारत की पथ-पद्धति और यात्रियों के बारे में हमें अधिक पता नहीं लगता। पर इतना कहा जा सकता है कि तामिलनाड के व्यापारियों का विदेशों से बड़ा सम्बन्ध था और खास कर बाबुल से। दक्षिण-भारत के इतिहास का अँधेरा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में कुछ दूर हो जाता है। इस साहित्य के समय के बारे में विद्वान एक-मत नहीं हैं; कुछ उसे ईसा की आरम्भिक सदियों में रखते हैं और कुछ उसे गुप्त-युग तक खींच लाते हैं।

दक्षिण-भारत के इस सुवर्णयुग की संस्कृति की कहानी हमें संगमयुग की प्रसिद्ध कथाओं शिलप्पडिकारम् और मणिमेखलै तथा और फुटकर कविताओं से मिलती है। हमें इस युग के साहित्य से पता लगता है कि दक्षिण-भारत की संस्कृति उत्तर-भारत की संस्कृति से किसी तरह कम न थी। विदेशी व्यापार से दक्षिण में इतना अधिक धन आता था कि लोगों के जीवन का धरातल काफी ऊँचा उठ गया था। इस युग में समुद्री व्यापार खूब चलता था, जिससे दक्षिण-भारत के समुद्री तट का सम्बन्ध पश्चिम में सिन्ध तक, और पूर्व में ताम्रलिप्ति तक था। दक्षिण के व्यापारी अपना माल सिंहल, सुवर्णद्वीप और अफ्रिका तक ले जाते थे। रोम के व्यापारी भी बराबर दक्षिणी बन्दरगाहों में आते रहते थे और वहाँ से मिर्च और दूसर मसाले, कपड़े तथा कीमती रत्न रोम-साम्राज्य में ले जाया करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि रोम के व्यापारियों को इस युग में दक्षिण-भारत के समुद्र-तटों का अच्छा ज्ञान हो गया था और इस ज्ञान का तात्कालिक भौगोलिकों ने अच्छा उपयोग किया।

संगमयुग के साहित्य से हमें पता चलता है कि दक्षिण-भारत के मुख्य नगरों में जल और स्थल से यात्रा करनेवाले बड़े-बड़े सार्थवाह रहते थे। शिलप्पदिकारम्[1] के अनुसार, पुहार में, जो कावेरीपट्टीनम् का एक दूसरा नाम था, एक समुद्री सार्थवाह (मानायिकन्) और एक स्थल का सार्थवाह (माशात्तुवान्) रहते थे। तामिल-साहित्य से दक्षिण-भारत के पथों पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसमें सन्देह नहीं कि पैठन होकर उसका भड़ोच और उज्जैन से अवश्य सम्बन्ध रहा होगा। उज्जैन होकर तामिलनाड के व्यापारी और यात्री काशी पहुँचते थे। मणिमेखलै में तो काशी के एक ब्राह्मण की अपनी पत्नी के साथ कन्याकुमारी की यात्रा का उल्लेख है[2]। शिलप्पदिकारम्[3] से पता लगता है कि उत्तर-भारत से माल से लदी हुई गाड़ियाँ

---

१. शिलप्पदिकारम्, श्री वी० आर० रामचंद्र दीक्षित द्वारा अनूदित, पृ० ८८, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३९

२. एस० कृष्णस्वामी आयंगार, मणिमेखलै इन इट्स हिस्टौरिकल सेटिंग, पृ० १९२, मद्रास, १९२८

३ शिलप्पदिकारम्, पृ० २१८

दक्षिण-भारत में आती थीं तथा उस आनेवाले माल पर मुहर होती थी। राजमार्गों तथा राज्यों की सीमाओं पर व्यापारियों से चुंगी भी वसूल की जाती थी[1]।

तामिल-साहित्य से हमें दक्षिण-भारत के उन बन्दरों के नाम मिलते हैं जिनमें विदेशों के लिए जहाज खुलते थे। एक जगह इस बात का उल्लेख है कि मदुरा के समुद्रतट से जावा जानेवाले जहाज मणिपल्लवम्, में जिसकी राजधानी नागपुर थी, रुकते थे[2]। पेरियार नदी के पास मुचिरी का बन्दरगाह था, जिसका महाभारत और पेरिप्लस में भी उल्लेख आता है। इस बन्दर का वर्णन एक प्राचीन तामिल कवि इस प्रकार करता है—"मुचिरी का वह बन्दरगाह जहाँ यवनों के सुन्दर और बड़े जहाज केरल की सीमा के अन्दर फेनिल पेरियार नदी का पानी काटते हुए सोना लाते हैं और वहाँ से अपने जहाजों पर मिर्च लादकर ले जाते हैं[3]।" एक दूसरे कवि का कथन है—"मुचिरी में धान और मछली की अदला-बदली होती है, घरों से वहां बाजारों में मिर्च के बोरे लाये जाते हैं, माल के बदले में सोना जहाजों से डोंगियों पर लादकर लाया जाता है। मुचिरी में लहरों का संगीत कभी बन्द नहीं होता। वहाँ चेरराज कुट्टुवन् अतिथियों को समुद्र और पहाड़ों की कीमती वस्तुएँ भेंट करते हैं।"

भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर मायवनि नदी पर बेरिड नामक एक बड़ा बन्दरगाह था, जिसकी पहचान किलन्दी नगर से पाँच मील उत्तर पल्लिकर गाँव से की जाती है[4]। बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में तुंडिचेर वत्र का नाम शायद इसी बन्दर को लेकर पड़ा[5]।

कावेरी उस समय इतनी काफी गहरी थी कि उसमें बड़े जहाज आ सकते थे। उसके उत्तर किनारे पर कावेरीपट्टीनम् का बन्दरगाह था। नगर दो भागों में बँटा था। समुद्र से सटे भाग को मरुवरपाकम् कहते थे। पट्टिनपाकम् नगर के पश्चिम में पड़ता था। इन दोनों के बीच में एक खुली जगह में बाजार लगता था। नगर की खास सड़कों का नाम राज-मार्ग, रथ-मार्ग, आपण-मार्ग इत्यादि था। व्यापारी वैश्य, ब्राह्मण और किसानों के रहने के अलग-अलग राजमार्ग थे। राजमहल, रथिकों, घुड़सवारों तथा राजा के अंगरक्षकों के मकानों से घिरा था। पट्टिनपाकम् में भाट, चारण, नट, गायक, विदूषक, शंखकार, माली, मोतीसाज, हर घड़ी चिल्लाकर समय बतानेवाले तथा राजदरबार से सम्बन्धित दूसरे कर्मचारी रहते थे। मरुवरपाकम् के समुद्रतट पर ऊँचे चबूतरे, गोदाम और कोठे माल रखने के लिए बने थे। यहाँ माल पर चुंगी अदा कर देने पर शेर के पंजे की जो चोलों की राजमुद्रा थी, छाप लगती थी। इसके बाद माल उठाकर गोदामों में भर दिया जाता था। पास ही में यवनों की बस्ती थी। यहाँ बहुत तरह के माल बिकते थे। इसी भाग में व्यापारी भी रहते थे[6]।

---

१. वी० कनकसभै, दी टैमिलस् एट्टीन हंड्रेड इयर्स एगो, पृ० ११२, मद्रास १९०४

२. मणिमेखलै, २४, १६४—१७०

३. कनकसभै, वही, पृ० १६

४ वही, पृ० १६-१७

५ दिव्यावदान, पृ० २२१

६. कनकसभै, वही, पृ० २५

शिलप्पदिकारम् में पुहार अथवा कावेरीपट्टीनम् का बहुत स्वाभाविक वर्णन आया है। वहाँ के व्यापारियों के पास इतना धन था कि उसके लिए बड़े-बड़े प्रतापशाली राजे भी ललचाया करते थे। सार्थ, जल और थल-मार्गों से, वहाँ इतने-इतने किस्म के माल लाते थे कि मानो वहाँ सारी दुनिया का माल-मता इकट्ठा हो गया हो[१]। जहाँ देखिए वहीं, खुली जगहों में, बन्दरगाह और उसके बाहर, माल-ही माल देख पड़ता था। जगह-जगह लोगों की आँखें अक्षय सम्पत्तिवाले यवनों के मकानों पर पड़ती थीं। बन्दरगाह में देश-देश के नाविक देख पड़ते थे, पर उनमें बड़ा सद्भाव दिखाई पड़ता था। शहर की गलियों में लोग ऐपन, स्नानचूर्ण, फूल, धूप और अतर बेचते हुए दीख पड़ते थे। कुछ जगहों में बुनकर रेशमी कपड़े और बढ़िया सूती कपड़े बेचते थे। गलियों में रेशमी कपड़े, मूँगे, चन्दन, सुरा, तरह-तरह के कीमती गहने, बे-ऐब मोती तथा सोना बिकता था[२]। नगर के बीच, खुली जगह में, माल के भार, जिन पर तौल, संख्या और मालिकों के नाम लिखे होते थे, दीख पड़ते थे[३]।

एक दूसरी जगह कावेरीपट्टीनम् के समुद्रतट का बड़ा स्वाभाविक चित्रण हुआ है[४]। माधवि और कोवलन्, नगर के बीच के राजमार्ग से होकर समुद्रतट के भेरिमार्ग पर पहुँचे जहाँ केरल से माल उतरता था। यहाँ पर फहराती पताकाएँ मानो कह रही थीं,—'हम इस श्वेतवालुकाविस्तार में यहाँ बसे हुए विदेशी व्यापारियों का माल देखती हैं।' वहाँ रंग, चन्दन, फूल, गन्ध तथा मिठाई बेचनेवालों की दूकानों पर दीपक जल रहे थे। चतुर सोनारों, पक्विवद्ध पिट्टु बेचनेवालों, इडली बेचनेवालों तथा फुटकर सामान बेचनेवाली लड़कियों की दूकानों में भी प्रकाश हो रहा था। मछुओं के दीपक जहाँ-तहाँ लुपलुपा रहे थे। किनारे पर जहाजों को ठीक रास्ता दिखलाने के लिए दीपगृह भी थे। जाल से मछलियाँ फँसाने के लिए समुद्र में आगे बढ़ी मछुओं की नावों से भी दीपक टिमटिमा रहे थे। भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले विदेशियों तथा मालगोदाम के पहरेदारों ने भी दीपक जला रखे थे। इन असंख्य दीपकों के प्रकाश में बन्दरगाह जगमगा रहा था। बन्दरगाह में समुद्री और पहाड़ी मालों से भरे जहाज खड़े थे।

समुद्रतट का एक भाग केवल सैलानियों के लिए सुरक्षित था। यहाँ अपने साथियों के साथ राजकुमार और बड़े बड़े व्यापारी आराम करते थे। खेमों में कुशल नाचने-गानेवालियाँ होती थीं। रंग बिरंगे कपड़े और भिन्न-भिन्न भाषाएँ कावेरी के मुहाने पर की भीड़ से मिलकर अजीब छटा पैदा करती थीं[५]।

पट्टिनप्पालि[६] से कावेरीपट्टीनम् के जीवन पर कुछ और अधिक प्रकाश पड़ता है। उसमें कहा गया है कि वहाँ सत्रों से भात मुफ्त में बाँटा जाता था। जैन और बौद्ध-मन्दिर शहर के एक भाग में स्थित थे। शहर के दूसरे भाग में ब्राह्मण यज्ञ करते थे।

---

१. शिलप्पदिकारम्, पृ० ६२
२. वही, पृ० ११०-१११
३. वही, पृ० ११५
४. वही, पृ० १२८-१२६
५. वही, पृ० १२६-१३०
६. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १६१२, पृ० १४८ से

कावेरीपट्टीनम् के रहनेवाले लोगों में मच्छीमार लोगों का एक विशेष स्थान था। वे समुद्र के किनारे रहते थे और उनका मुख्य भोजन मछली और कछुए का उबला मांस था। वे फूलों से अपने को सजाने के शौकीन थे और उनका प्यारा खेल मेढ़ों की लड़ाई था। छुट्टी के दिनों में वे अपना काम बन्द करके अपने घरों के आगे सुखाने के लिए जाल फैला देते थे। समुद्र में और उसके बाद ताजे पानी में नहाकर वे अपनी स्त्रियों के साथ एक खम्भे के चारों ओर नाचते थे। वे मूर्तियाँ बनाकर अथवा दूसरे खेलों से भी अपना मन बहलाते थे। छुट्टीवाले दिनों में वे शराब नहीं पीते थे और घर पर ही ठहरकर नाच-गान और नाटक देखते-सुनते थे। चाँदनी में कुछ समय बिताकर वे अपनी स्त्रियों के साथ आराम करने चले जाते थे।

पुहार की कई मंजिलोंवाली इमारतों में सुन्दर स्त्रियाँ इकट्ठी होकर सड़क पर मुरुग का महोत्सव देखती थीं। उस दिन इमारतें पताकाओं से सजा दी जाती थीं। पण्डित लोग भी अपने घरों पर पताका लगाकर प्रतिद्वन्द्वियों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे। जहाज भी उस दिन झण्डियों से सजा दिये जाते थे।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं, जहाजों की हिफाजत के लिए दीपगृहों की व्यवस्था थी। ये दीपगृह पक्के बने होते थे। रात में इनपर तेज रोशनी कर दी जाती थी, जिससे आसानी के साथ जहाज बन्दरों में घुस सकें[१]।

मणिमेखलै में शादुवन् की कहानी से दक्षिण-भारत के समुद्र-यात्रियों की विपत्तियों का पता चलता है[२]। कहानी यह है कि शादुवन् के निर्धन हो जाने पर उसकी स्त्री उसका अनादर करने लगी। अपनी गरीबी से तंग आकर उसने व्यापार के लिए विदेश जाने का निश्चय किया। अभाग्यवश, जहाज समुद्र में टूट गया। मस्तूल के सहारे बहता हुआ शादुवन् नागद्वीप में जा लगा। इसी बीच में उसके कुछ साथी बचकर कावेरीपट्टीनम् पहुँचे और वहाँ शादुवन् की मृत्यु की खबर दे दी। यह सुनकर शादुवन् की स्त्री ने सती होने की ठानी, पर उसे एक अलौकिक शक्ति ने ऐसा करने से रोका और बताया कि शादुवन् जीवित है और जल्दी ही व्यापारी चन्द्रदत्त के बेड़े के साथ लौटनेवाला है। यह शुभ समाचार पाकर शादुवन् की स्त्री उसकी बाट जोहने लगी।

इसी बीच में शादुवन् समुद्र से निकलकर एक पेड़ के नीचे सो गया। उसे देखकर नागा उसके पास पहुँचे और मारकर खा जाने की इच्छा से उसे जगाया। लेकिन शादुवन् उनकी भाषा जानता था और जब उसने उनकी भाषा में उनसे बात-चीत शुरू कर दी तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे शादुवन् को अपने नेता के पास ले गये। शादुवन् ने नेता को अपनी पत्नी के साथ एक गुफा में भालू की तरह रहते देखा। उसके आस-पास शराब बनाने के बरतन और बदबूदार सूखी हड्डियाँ पड़ी थीं। शादुवन् की बातचीत का उसपर अच्छा असर पड़ा। नायक ने शादुवन् के लिए मांस, शराब और एक स्त्री की व्यवस्था करने की आज्ञा दी, पर शादुवन् के इन्कार करने पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इसपर बातचीत में शादुवन् ने अहिंसा की महिमा बताई और नायक से वचन ले लिया कि वह टूटे हुए जहाजों के यात्रियों को भविष्य में आश्रय देगा। उसने

---

१. कनकसभै, वही, पृ० २६

२. मणिमेखलै, पृ० १५०-१५१

शादुवन् को टूटे हुए जहाजों के यात्रियों से लूटे हुए चन्दन, अगर, कपड़े इत्यादि भेंट किये। इसके बाद शादुवन् कावेरीपट्टीनम् लौट आया और आनन्दपूर्वक अपनी पत्नी के साथ रहने लगा।

ईसा की आरम्भिक सदियों में मदुरा के बाजार बड़े प्रसिद्ध थे।[1] शिलप्पदिकारम् में कहा गया है कि वहाँ के जौहरी-बाजार में पहुँचकर कोवलन् ने जौहरियों को बेदाग हीरे, चमकदार पन्ने, हर तरह के मानिक, नीलम, बिन्दु, स्फटिक, सोने में जड़े पोखराज, गोमेदक, लहसुनिया (वैदूर्य), बिल्लौर, अंगारक और बढ़िया किस्म के मोती और मूँगे बेचते देखा।

बजाजे में बढ़िया-से-बढ़िया कपड़ों के गट्ठर लदे हुए थे। सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े की गाँठों में हर गाँठ में सौ थान होते थे। अन्न और मसालों के बाजार में व्यापारी इधर-उधर तराजू, पढ़ै (पायली) और चना नापने के लिए अंबणम् लिये हुए घूमते दीख पड़ते थे। इन बाजारों में अन्न की बोरियों की छल्लियों के अतिरिक्त, सब मौसमों में कालीमिर्चों के हजारों बोरे देख पड़ते थे।

पट्टुपाट्टु के अनुसार[2] मदुरा की इमारतें और सड़कें बहुत सुन्दर थीं। नगर की रक्षा के लिए उसके चारों ओर एक घना वन, गहरी खाई, ऊँचे तोरणद्वार और शहरपनाह थी। महल पर पताकाएँ लगी रहती थीं। उसके दो बाजार खरीदने-बेचनेवालों की भीड़, उत्सव-दिवसों की सूचना देनेवाली मुनादियों, हाथियों, गाड़ियों, फूलमाला और पान ले जाती हुई स्त्रियों, खाने के सामान बेचनेवाले फेरीदारों, लम्बे नकाशीदार कपड़े तथा गहने पहने हुए घुड़सवारों से भरे रहते थे। उच्चकुल की स्त्रियाँ गहने पहनकर झरोखों से उत्सव के अवसर पर सड़क पर खेल-तमाशे देखती थीं। बौद्ध स्त्रियाँ अपने पतियों और बच्चों के साथ बौद्ध-मन्दिरों को पुष्प और धूप लिये जाती थीं। ब्राह्मण यज्ञ और बलिकर्म में निरत रहते थे तथा जैन भी पुष्प लेकर अपने मन्दिरों को जाते थे।

मदुरा के व्यापारी सोना, रत्न, मोती और दूसरे विदेशी माल का व्यापार करते थे। शंखकार चूड़ियाँ बनाते थे, बेगडी रत्नों को काटकर उसमें छेद करते थे तथा सोनार सुन्दर गहने बनाते थे और सोने की कस लेते थे। दूसरे व्यापारी कपड़े, फूल और गन्ध-द्रव्य बेचते थे। चित्रकार बढ़िया चित्र बनाते थे। छोटे-बड़े सभी बुनकर नगर में भरे रहते थे। कवि उनके शोर-गुल की तुलना उस शोर-गुल से करता है जो आधी रात में विदेशी जहाजों से माल उतारने और लादने के समय होता था।

पुहार तथा मदुरा के उपर्युक्त वर्णनों से यह पता चलता है कि ईसा की प्रारम्भिक सदियों में दक्षिण-भारत में तरह-तरह के रत्नों, कपड़ों, मसालों और सुगन्धित द्रव्यों का काफी व्यापार होता था। पट्टिनप्पलै से पता चलता है[3] कि दक्षिण-भारत के प्रसिद्ध नगरों में जहाजों से घोड़े आते थे। कालीमिर्च मुचिरी से जहाजों पर लादकर आती थी। मोती दक्षिण समुद्र से आते थे तथा मूँगे पूर्वी समुद्र से। शिलप्पदिकारम्[4] से पता चलता है कि सबसे अच्छे मोती कोरकै से आते

१ शिलप्पदिकारम्, पृ० २०७-२०८
२ इण्डियन एण्टिक्वेरी, १६११, पृ० २२४ से
३ कनकसभै, वही, पृ० २७
४ शिलप्पदिकारम्, पृ० २०२

थे, मध्यकाल में जिसका स्थान पाँच मील भीतर हटकर कायल नामक बन्दरगाह ने ले लिया। गंगा और कावेरी के कांठों में पैदा होनेवाले सब तरह के माल, तथा सिंहल और कालकम् (बर्मा) के माल भी बड़ी तायदाद में कावेरीपट्टीनम् में पहुँचते थे।

लगता है, विदेशों से शराब भी आती थी। कवि नक्किरर पाण्ड्यराज नन्मारन् को सम्बोधन करके कहता है—'सदा खड्ग-विजयी मार! तुम अपने दिन सुनहरे प्यालों में साकी द्वारा दी गई और यवनों द्वारा लाई गई ठण्ढी और सुगन्धित शराब पीकर शान्ति और सुख से व्यतीत करो।'[१]

संगम-साहित्य से यह भी पता चलता है कि यवन-देश से दक्षिण भारत में कुछ मिट्टी के बरतन और दीवट भी आते थे। कनकसभै के अनुसार इन दीवटों के ऊपर हंस बने होते थे अथवा इनका आकार दीपलक्ष्मी-जैसा होता था।[२]

---

१ कनकसभै, वही, पृ० ३७

२ वही, पृ० ३८

नवाँ अध्याय

जैन-साहित्य में यात्री और सार्थवाह

(पहली से छठी सदी तक)

जैन अंगों, उपांगों, छेदों, सूत्रों, चूर्णियों और टीकाओं में भारतीय संस्कृति के इतिहास का मसाला भरा पड़ा है, पर अभाग्यवश अभी हमारा ध्यान उधर नहीं गया है। इसके कई कारण हैं जिनमें मुख्य तो है जैन-ग्रन्थों की दुष्प्राप्यता और दुर्बोधता। थोड़े-से ग्रन्थों के सिवा, अधिकतर जैन-ग्रन्थ केवल भक्तों के पठन-पाठन के लिए ही छापे गये हैं। उनके छापने में न तो शुद्धता का ख्याल रखा गया है, न भूमिकाओं और अनुक्रमणिकाओं का ही। भाषा-सम्बन्धी टिप्पणियों का इनमें सदा अभाव होता है जिससे पाठ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। संस्कृति के किसी अंग के इतिहास के लिए जैन-साहित्य में मसाला ढूँढ़ने के लिए ग्रन्थों का आदि से अन्त तक पाठ किये बिना गति नहीं है, पर जी कड़ा करके एक बार ऐसा कर लेने पर हमें पता लगने लगता है कि बिना जैन-ग्रन्थों के अध्ययन के भारतीय संस्कृति के इतिहास में पूर्णता नहीं आ सकती; क्योंकि जैन-साहित्य भारतीय संस्कृति के कुछ ऐसे अंगों पर प्रकाश डालता है जिनका बौद्ध अथवा संस्कृत-साहित्य में पता ही नहीं लगता, और पता लगता है भी तो उनका वर्णन केवल सरसरी तौर पर होता है। उदाहरण के लिए, सार्थवाह के प्रकरण को ही लीजिए। ब्राह्मण-साहित्य, दृष्टिकोण की विभिन्नता से, इस विषय पर बहुत कम प्रकाश डालता है। इसके विरुद्ध बौद्ध-साहित्य अवश्य इस विषय पर अधिक विस्तृत रूप से प्रकाश डालता है, फिर भी उसका उद्देश्य कहानी कहने की ओर अधिक रहता है इसीलिए बौद्ध-साहित्य में सार्थवाहों की कथाएँ पढ़कर हम यह ठीक नहीं बतला सकते कि आखिर वे कौन-से व्यापार करते थे और उनका संगठन कैसे होता था। पर जैन-साहित्य तो बाल की खाल निकालनेवाला साहित्य है। उसे कवित्वमय गद्य से कोई मतलब नहीं। वह तो जिस विषय को पकड़ता है उसके बारे में जो कुछ भी उसे ज्ञात होता है, उसे लिख देता है, फिर चाहे कथा में भले ही असंगति आवे। जैन-धर्म मुख्यतः व्यापारियों का धर्म था और है इसीलिए जैन-धर्मग्रन्थों में व्यापारियों की चर्चा आना स्वाभाविक है। साथ-ही साथ, जैन-साधु स्वभावतः घुमक्कड़ होते थे और इनका घूमना आँख बन्द करके नहीं होता था। जिन-जिन जगहों में वे जाते थे वहाँ की भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों का वे अध्ययन करते थे तथा स्थानीय भाषा को इसलिए सीखते थे कि उन भाषाओं में वे उपदेश दे सकें। आगे हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि जैन-साहित्य से व्यापारियों के संगठन, सार्थवाहों की यात्रा इत्यादि प्रकरणों पर क्या प्रकाश पड़ता है। जैन अङ्ग और उपाङ्ग-साहित्य का काल-निर्णय तो कठिन है; पर अधिकतर अङ्ग-साहित्य ईसा की आरंम्भिक शताब्दियों अथवा उसके पहले का है। भाष्य और चूर्णियाँ गुप्तयुग अथवा उसके कुछ बाद की हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इनमें संगृहीत मसाला काफी प्राचीन है।

व्यापार के सम्बन्ध में, जैन-साहित्य में कुछ ऐसी परिभाषाएँ आई हैं जिन्हें जानना इसलिए आवश्यक है कि दूसरे साहित्यों में प्राय: ऐसी व्याख्याएँ नहीं मिलतीं। इन व्याख्याओं से हमें यह भी पता चलता है कि माल किन-किन स्थानों में बिकता था तथा प्राचीन भारत में माल खरीदने-बेचने तथा लेजाने-लेआने के लिए जो बहुत-से बाजार होते थे उनमें कौन-कौन-से फरक होते थे।

जलपट्टन तो समुद्री बन्दरगाह होता था, जहाँ विदेशी माल उतरता था और देशी माल की चलान होती थी। इसके विपरीत, स्थलपट्टन उन बाजारों को कहते थे जहाँ बैलगाड़ियों से माल उतरता था।[1] द्रोणमुख ऐसे बाजारों को कहते थे, जहाँ जल और थल, दोनों से माल उतरता था, जैसे कि ताम्रलिप्ति और भरुकच्छ। निगम एक तरह के व्यापारियों, अर्थात्, उधार-पुरजे के व्यापारियों की बस्ती को कहते थे।[2] निगम दो तरह के होते थे, सांग्रहिक और असांग्रहिक।[3] टीका के अनुसार, सांग्रहिक निगम में रेहन-बट्टे का काम होता था। असांग्रहिक निगमवाले ब्याज-बट्टे के सिवा दूसरे काम भी कर सकते थे। इन उल्लेखों से यह साफ हो जाता है कि निगम उस शहर या बस्ती को कहते थे जहाँ लेन-देन और ब्याज-बट्टे का काम करनेवाले व्यापारी रहते थे। निवेश सार्थ की बस्तियों को कहते थे।[4] इतना ही नहीं, सार्थों के पड़ाव भी निवेश कहलाते थे। पुटभेदन उस बाजार को कहते थे[5] जहाँ चारों ओर से उतरते माल की गाँठें खोली जाती थीं। शाकल (आधुनिक स्यालकोट) इसी तरह का पुटभेदन था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, जैन-साधुओं को तीर्थ-दर्शन अथवा धर्म-प्रचार के लिए यात्रा करना आवश्यक था। पर उनकी यात्रा का ढंग, कम-से-कम आरम्भ में, साधारण यात्रियों से अलग होता था। वे केवल आवेशन, सभा, (धर्मशाला) तथा कुम्हार अथवा लोहार की कर्मशालाओं में पुआल डालकर पड़ रहते थे। उपर्युक्त जगहों में स्थान न मिलने पर वे सूने घर, श्मशान अथवा पेड़ों के नीचे पड़े रहते थे।[6] वर्षा में जैन-भिक्षुओं को यात्रा की मनाही है, इसलिए चौमासे में जैन-साधु ऐसी जगह ठहरते थे जहाँ उन्हें प्राप्य भिक्षा मिल सकती थी और जहाँ श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि और भिखमंगों का डर उन्हें नहीं होता था।[7] जैन-साधु अथवा साध्वी के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसा मार्ग न पकड़े जिसपर लुटेरों और म्लेच्छों का भय हो अथवा जो अनार्यों के देश से होकर गुजरे। साधु को अराजक देश, गण-राज्यों, यौवराज्यों, द्विराज्यों और विराज्यों में होकर यात्रा करने की भी अनुमति नहीं थी। साधु जंगल बचाते थे। नदी पड़ने पर वे नाव द्वारा उसे पार करते थे। ये नावें मरम्मत के लिए पानी के बाहर निकाल ली जाती थीं। जैन-साहित्य में नाव के माथा (पुरओ), गलही (मग्गओ) और मध्य का उल्लेख है। नाविकों की भाषा के भी कई उदाहरण दिये गये हैं, यथा—'नाव आगे खींचो

---

१ बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, १०९०, मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित १९३३ से।

२ वही, १०९०

३ वही, ११९०

४ वही, १०९१

५ वही, १०९२

६ आचारांगसूत्र, १, ८, २, २-३

७ वही, २, ३, १, ८

(संचारएति), पीछे खींचो (उक्कासित्तए), ढकेलो (आकसित्तए), गोन खींचो (आहरू), डाँड (आलित्तेण)' । पतवार (पीढएण), बाँस (वंसेण), तथा दूसरे उपादानों (वलयेण, अवलुएण) द्वारा नाव चलाने का उल्लेख है। आवश्यकता पड़ने पर, नाव के छेद शरीर के किसी अङ्ग, तसले, कपड़े, मिट्टी, कुश अथवा कमल के पत्तों से बन्द कर दिये जाते थे।[१]

रास्ते में भिक्षुओं से लोग बहुत-से सार्थक अथवा निरर्थक प्रश्न करते थे। जैसे—'आप कहाँ से आये हैं?' 'आप कहाँ जाते हैं?' 'आप का क्या नाम है?' 'क्या आपने रास्ते में किसी को देखा था?' (जैसे, आदमी, गाय-भैंस, कोई चौपाया, चिड़िया, साँप अथवा जलचर)। 'कहिए, हमें दिखाइए?' फल-फूल और वृक्षों के बारे में भी वे प्रश्न करते थे। साधारण प्रश्न होता था—'गाँव या नगर कितना बड़ा है या कितनी दूर है?' साधुओं को अक्सर रास्ते में डाकुओं से भेंट हो जाती थी और उनसे सताये जाने पर उन्हें आरक्षकों के पास फरियाद करनी पड़ती थी।[२]

जैन-साहित्य से पता चलता है कि राजमार्गों पर डाकुओं का बड़ा उपद्रव रहता था। विपाकसूत्र[३] में विजय नाम के एक बड़े साहसी डाकू की कथा है। चोर-पल्लियाँ प्रायः वनों, खाइयों और बँसवाड़ियों से घिरी और पानीवाली पर्वतीय घाटियों में स्थित होती थीं। डाकू बड़े निर्भय होते थे, उनकी आँखें बड़ी तेज होती थीं और वे तलवार चलाने में बड़े सिद्धहस्त होते थे। डाकू-सरदार के मातहत हर तरह के चोर और गिरहकट उन इच्छानुसार यात्रियों को लूटते-मारते अथवा पकड़ ले जाते थे। विजय इतना प्रभावशाली डाकू था कि अक्सर वह राजा के लिए कर वसूला करता था। पकड़े जाने पर डाकू बहुत कष्ट देकर मार डाले जाते थे।

लम्बी मंजिल मारने पर यात्री बहुत थक जाते थे, इसलिए उनकी थकावट दूर करने का भी प्रबन्ध था। पैरों को धोकर उनकी खूब अच्छी तरह मालिश होती थी। इसके बाद उनपर तेल, घी अथवा चर्बी तथा लोध-चूर्ण लगाकर उन्हें गरम और ठंडे पानी से धो दिया जाता था। अन्त में, आलेपन लगा कर उन्हें धूप दे दी जाती थी।[४]

छठी सदी में जैन-साधु केवल धर्म-प्रचार के लिए ही विहार-यात्रा नहीं करते थे। वे जहाँ जाते थे, उन स्थानों की भली-भाँति जाँच-पड़ताल भी करते थे। इसे जनपद-परीक्षा कहते थे। जनपद-दर्शन से साधु पवित्रता का बोध करते थे। इस प्रकार की विहार-यात्राओं से वे अनेक भाषाएँ सीख लेते थे। उन्हें जनपदों को अच्छी तरह से देखने-भालने का भी अवसर मिलता था। इस ज्ञानलाभ का फल उनके शिष्यवर्गों को भी मिलता था।[५] अपनी यात्राओं में जैन-भिक्षु तीर्थंकरों के जन्म, निष्क्रमण और केवली होने के स्थानों पर भी जाते थे।[६]

संचरणशील जैन साधुओं को अनेक देशी भाषाओं में भी पारंगत होना पड़ता था।[७] अजनबी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके वे उनमें ही लोगों को उपदेश देते थे।[८] यात्राओं

---

१ वही, २, ३, १, १०-२०

२ वही, ३, ३, १५-१६

३ वि० सू०, ३, ५६-६०

४ आचारांगसूत्र, २, १३, १, ८

५ बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, १२२६

६ वही, १२२७

७ वही, १२३०

८ वही, १२३१

में वे बड़े-बड़े जैनाचार्यों से मिलकर उनसे सूत्रों के ठीक-ठीक अर्थ समझते थे।[1] आचार्यों का उन्हें आदेश था कि जो कुछ भी उन्हें भिक्षा में मिले उसे वे राजकर्मचारियों को दिखला लें जिससे उनपर चोरी का सन्देह न हो सके।[2]

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, साधु अपनी यात्राओं में जनपदों की अच्छी तरह परीक्षा करते थे। वे इस बात का पता लगाते थे कि भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न उपजाने के लिए किन-किन तरहों की सिंचाई आवश्यक होती है। उन्हें पता लगता था कि कुछ प्रदेश खेती के लिए केवल वर्षा पर अवलम्बित रहते थे (टीका में, जैसे, लाट, यानी गुजरात), किसी प्रदेश में नदी से सिंचाई होती थी (जैसे, सिन्ध); कहीं सिंचाई तालाब से होती थी (जैसे, द्रविड देश); कहीं कुँओं से सिंचाई होती थी (जैसे उत्तरापथ); कहीं बाढ़ से (जैसे बनास में बाढ़ का पानी हट जाने पर अन्न बो दिया जाता था); कहीं-कहीं नावों पर धान बोया जाता था (जैसे काननद्वीप में)। ये यात्री मथुरा-जैसे नगरों की भी जाँच-पड़ताल करते थे, जिनके जीविकोपार्जन का सहारा खेती न होकर व्यापार हो गया था। वे ऐसे स्थानों को भी देखते थे जहाँ के निवासी मांस अथवा फल-फूल खाकर जीते थे। जिन प्रदेशों में वे जाते थे, उनके विस्तार का वे पता लगाते थे और स्थानीय रीति-रस्मों (कल्प) से भी वे अपने को अवगत करते थे; जैसे सिन्ध में मांस खाने की प्रथा थी, महाराष्ट्र में लोग धोबियों के साथ भोजन कर सकते थे और सिन्ध में कलवारों के साथ।[3]

आवश्यकचूर्णि के अनुसार,[4] जैन-साधु देश-कथा जानने में चार विषयों पर—यथा छन्द, विधि, विकल्प और नेपथ्य पर—विशेष ध्यान देते थे। छन्द से भोजन, अलंकार इत्यादि से मतलब है। विधि से स्थानीय रिवाजों से मतलब है—जैसे, लाट, गोल्ल (गोदावरी जिला) और अंग (भागलपुर) में ममेरी बहिन से विवाह हो सकता था, पर दूसरी जगहों में यह प्रथा पूर्णतः अमान्य थी। विकल्प में खेती-बारी, घर-दुआर, मन्दिर इत्यादि की बात आ जाती थी तथा नेपथ्य में वेषभूषा की बात।

अराजकता के समय यात्रा करने पर साधुओं और व्यापारियों को कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। उस राज्य में, जहाँ का राजा मर गया हो (वैराज्य), साधु जा सकते थे। पर शत्रु-राज्य में वे ऐसा नहीं कर सकते थे[5]। गौल्मिक, बहुधा दयावश, साधुओं को आगे जाने देते थे। ये गौल्मिक तीन तरह के होते थे, यथा संयतभद्रक, गृहिभद्रक और संयत-गृहिभद्रक। अगर पहला साधुओं को छोड़ भी देता था तो दूसरा उन्हें पकड़ लेता था। पर इन लोगों से छुटकारा मिल जाने पर भी राज्य में घुसते ही राजकर्मचारी उनसे पूछता था—'आप किस पगडण्डी (उत्पथ) से आये हैं?' अगर साधु इस प्रश्न का ठीक उत्तर देते तो उन्हें सीधा रास्ता न पकड़ने के कारण गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह कहने पर कि वे सीधे रास्ते से आये हैं, वे अपने को तथा गौल्मिकों को कठिनाई में डाल सकते थे। गौल्मिकों की नियुक्ति

---

१ वही, १२३४

२ वही, १२३८

३ वही, १२३९

४ आवश्यकचूर्णि, पृ० २८१, अ तथा २८१ रतलाम, ११२८

५, बृ० क० सू० भा०, २७९२

यात्रियों की चोरों से रक्षा करने के लिए होती थी। स्थानपालक (थानेदार) लोगों को बिना आज्ञा के आने-जाने नहीं देते थे। यही कारण था कि घुमावदार रास्ते से आनेवाला बड़ा भारी अपराधी माना जाता था। कभी-कभी स्थानपालक सोते रहते थे और उनकी शालाओं में कोई नहीं होता था। अगर ऐसे समय साधु धीरे से खिसक जाते तो पकड़े जाने पर वे अपने साथ-ही-साथ स्थानपालकों को भी फँसा सकते थे (बृ० क० सू० भा०, २७७२-७५)।

सार्थ पाँच तरह के होते थे, [१] भंडीसार्थ, अर्थात् माल ढोनेवाले सार्थ, [२]—बहलिका, इस सार्थ में ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते थे, [३]—भारवह, इस सार्थ में लोग स्वयं अपना माल ढोते थे, [४]—औदरिका, यह उन मजदूरों का सार्थ होता था जो जीविका के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते, [५]—कार्पटिक सार्थ, इसमें अधिकतर भिक्षु और साधु होते थे।[1]

सार्थ द्वारा ले जानेवाले माल को विधान कहते थे। माल चार तरह का होता था, यथा—(१) गणिम—जिसे गिन सकते थे, जैसे हर्रा, सुपारी इत्यादि। (२) धरिम—जिसे तौल सकते थे, जैसे शक्कर। (३) मेय—जिसे पाली तथा सेतिका से नाप सकते थे, जैसे चावल और घी। (४) परिच्छेद्य—जिसे केवल आँखों से जाँच सकते थे, जैसे, कपड़े, जवाहिरात, मोती इत्यादि[2]।

सार्थ के साथ अनुरंगा (एक तरह की गाड़ी), डोली (यान), घोड़े, भैंसे, हाथी और बैल होते थे जिनपर चलने में असमर्थ बीमार, घायल, बच्चे, बूढ़े और पैदल चल सकते थे। कोई-कोई सार्थवाह इसके लिए कुछ किराया वसूल करते थे, पर किराया देने पर भी जो सार्थवाह बच्चों और बूढ़ों को सवारियों पर नहीं चढ़ने देते थे, वे क्रूर समझे जाते थे और लोगों को ऐसे सार्थवाह के साथ यात्रा करने की कोई राय नहीं देता था[3]। ऐसा सार्थ, जिसके साथ दंतिक (मोदक, मण्डक, अशोकवर्त्ती-जैसी मिठाइयाँ), गेहूँ, तिल, गुड़ और घी हो, प्रशंसनीय समझा जाता था, क्योंकि आपत्तिकाल में, जैसे बाढ़ आने पर, सार्थवाह पूरे सार्थ और साधुओं को भोजन दे सकता था[4]।

यात्रा में अक्सर सार्थों को आकस्मिक विपत्तियों का, जैसे घनघोर वर्षा, बाढ, डाकुओं तथा जंगली हाथियों द्वारा मार्ग-निरोध, राज्यक्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का, सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। ऐसे समय, सार्थ के साथ खाने-पीने का सामान होने पर वह विपत्ति के निराकरण होने तक एक जगह ठहर सकता था[5]। सार्थ अधिकतर कीमती सामान ले आया और ले जाया करता था। इनमें केशर, अगर, चोया, कस्तूरी, इंगुर, शंख और नमक मुख्य थे। ऐसे सार्थों के साथ व्यापारियों और खास करके साधुओं का चलना ठीक नहीं समझा जाता था, क्यो कि इनके लुटने का बराबर भय बना रहता था [6]। रास्ते की कठिनाइयों से बचने के लिए छोटे-छोटे सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर आगे बढ़ने के लिए रुके रहते थे।

---

१. वही, ३०६६
२. वही०, ३०७०
३. वही०, ३०७१
४. वही०, ३०७२
५. वही०, ३०७३
६. वही०, ३०७४

कभी-कभी दो सार्थवाह मिलकर तय कर लेते थे कि जंगल में अथवा नदी या दुर्ग पड़ने पर वे रात-भर ठहर कर सवेरे साथ-साथ नदी पार करेंगे।[१]

सार्थवाह यात्रियों के आराम का ध्यान करके ऐसा प्रबन्ध करते थे कि उन्हें एक दिन में बहुत न चलना पड़े। क्षेत्रतः परिशुद्ध सार्थ एक दिन में उतनी ही मंजिल मारता था जितनी बच्चे और बूढ़े आराम से तय कर सकते थे। सूर्योदय के पहले ही जो सार्थ चल पड़ता था उसे कालतः परिशुद्ध सार्थ कहते थे। भावत. परिशुद्ध सार्थ में बिना किसी भेद-भाव के सब मतों के साधुओं को भोजन मिलता था[२]। एक अच्छा सार्थ बिना राज्य-मार्ग को छोड़े हुए धीमी गति से आगे बढ़ता था। रास्ते में भोजन के समय वह ठहर जाता था और गन्तव्य स्थान पर पहुँच-कर पड़ाव डाल देता था[३]। वह इस बात के लिए भी सर्वदा प्रयत्नशील रहता था कि वह उसी सड़क को पकड़े जो गाँवों और चरागाहों से होकर गुजरती हो। वह पड़ाव भी ऐसी ही जगह डालने का प्रयत्न करता था जहां साधुओं को आसानी से भिक्षा मिल सके[४]।

सार्थ के साथ यात्रा करनेवालों को एक अथवा दो सार्थवाहों की आज्ञा माननी पड़ती थी। उन दोनों सार्थवाहों में एक से भी किसी प्रकार अनबन होने पर यात्रियों का सार्थ के साथ यात्रा करना उचित नहीं माना जाता था। यात्रियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे उन शकुनों और अपशकुनों में विश्वास करें जिन्हें सारा सार्थ मानता हो। सार्थवाह द्वारा नियुक्त चालक की आज्ञा मानना भी यात्रियों के लिए आवश्यक था[५]।

सार्थों के साथ साधुओं की यात्रा बहुधा सुखकर नहीं होती थी। कभी-कभी उनके भिक्षाटन पर निकल जाने पर सार्थ आगे बढ़ जाता था और उन बेचारों को भूखे-प्यासे इधर-उधर भटकना पड़ता था[६]। एक ऐसे ही भूले-भटके साधु-समुदाय का वर्णन है जो उन गाड़ियों के, जो राजा के लिए लकड़ी लाने आई थीं, पड़ाव पर पहुँचा। वहाँ उन्हें भोजन मिला और ठीक रास्ते का भी पता चला। लेकिन साधुओं को ये सब कष्ट तभी उठाने पड़ते थे जब सार्थ उन्हें स्वयं भोजन देने को तैयार न हो। आवश्यकचूर्णि[७] में इस बात का उल्लेख है कि क्षितिप्रतिष्ठ और वसन्तपुर के बीच यात्रा करनेवाले एक सार्थवाह ने इस बात की मुनादी करा दी कि उसके साथ यात्रा करनेवालों को भोजन, वस्त्र, बरतन और दवाइयाँ मुफ्त में मिलेंगी। पर ऐसे उदारहृदय भक्त थोड़े ही होते होंगे, साधारण व्यापारी अगर ऐसा करते तो उनका दिवाला निश्चित था।

हमें इस बात का पता है कि जैन साधु खाने-पीने के मामले में काफी विचार रखते थे। यात्रा में गुड़, घी, केले, खजूर, शक्कर तथा गुड़-घी की पिन्नी उनके विहित खाद्य थे। घी न मिलने पर वे तेल से भी काम चला सकते थे। वे उपर्युक्त भोजन इसलिए करते थे कि

---

१. वही, ४८७३-७४

२. वही, ३०७६

३. वही, ३०७६

४ वही, ३०७८

५. वही, पृ० ३०८६-८७

६. आवश्यकचूर्णि, पृ० १०८

७. वही, पृ० ११५ से

वह थोड़े ही में क्षुधा शान्त कर देनेवाला होता था और उससे प्यास भी नहीं लगती थी। पर ऐसा तर माल तो सदा मिलनेवाला नहीं था और इसीलिए वे चना, चबेना, मिठाई और शालिचूर्ण पर भी गुजर कर लेते थे[1]। यात्रा में जैन साधु अपनी दवाओं का भी प्रबन्ध करके चलते थे। उनके साथ वात-पित्त-कफ सम्बन्धी बीमारियों के लिए दवाएँ होती थीं और घाव के लिए मलहम की पट्टियाँ।[2]

सार्थ के लिए यह आवश्यक था कि उसके सदस्य वन्य पशुओं से रक्षा पाने के लिए सार्थवाह द्वारा बनाये गये बाड़ों को कभी न लाँघें। ऐसे बाड़े का प्रबन्ध न होने पर साधुओं को यह अनुमति थी कि वे कँटीली झाड़ियों से स्वयं अपने लिए एक बाड़ा तैयार कर लें। वन्य पशुओं से रक्षा के लिए पड़ावों पर आग भी जलाई जाती थी। जहाँ डाकुओं का भय होता था वहाँ यात्री आपस में अपनी बहादुरी की डींगें इसलिए मारते थे कि डाकू उन्हें सुनकर भाग जायँ; लेकिन डाकुओं से मुकाबला होने पर सार्थ इधर-उधर छितराकर अपनी जान बचाता था[3]।

ऐसे सार्थ, जिसमें बच्चे और बूढ़े हों, जंगल में रास्ता भूल जाने पर साधु वन-देवता की कृपा से ठीक रास्ता पा लेते थे[4]। वन्य पशुओं अथवा डाकुओं द्वारा सार्थ के नष्ट हो जाने पर अगर साधु विलग हो जाते थे तो सिवाय देवताओं की प्रार्थना के उनके पास कोई चारा नहीं रह जाता था[5]।

भिखमंगों के सार्थ का भी बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य में सुन्दर वर्णन दिया गया है। खाना न मिलने पर ये भिखमंगे कन्द, मूल, फल पर अपना गुज़ारा करते थे, पर ये सब वस्तुएँ जैन साधुओं को अभक्ष्य थीं। इन्हें न खाने पर अक्सर भिखमंगे उन्हें डराते भी थे। वे भिक्षुओं के पास एक लम्बी रस्सी लाकर कहते थे—'अगर तुम कन्द, मूल, फल नहीं खाओगे तो हम तुम्हें फाँसी पर लटकाकर आनन्द से भोजन करेंगे[6]।'

सार्थ के दूसरे सदस्य तो जहाँ कहीं भी ठहर सकते थे, पर जैन साधुओं को इस सम्बन्ध में भी कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। यात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए इन नियमों का पालन करना बड़ा कठिन था। सार्थ के साथ, सन्ध्या-समय, गहरे जंगल से निकलकर जैन साधु अपने लिए विहित स्थान की खोज में जुट पड़ते थे और ठीक जगह न मिलने पर कुम्हारों की कर्मशाला अथवा दूकानों में पड़े रहते थे।[7]

यात्रा में जैन साधु तो किसी तरह अपना प्रबन्ध कर भी लेते थे पर साध्वियों को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। बृहत्कल्पसूत्र (भा० ४, पृ० ६७२) के एक सूत्र में कहा गया है कि साध्वी आगमनगृह में, छाये अथवा बेपर्द घर में, चबूतरे पर, पेड़ के नीचे अथवा खुले

---

१. बृ० क० सू० भा०, ३०१३-१४
२. वही, ३०१४
३ वही, ३१०४
४. वही, ३१०८
५. वही, ३११०
६. वही, ३११२-१४
७. वही, ३४४२-४५

में अपना डेरा नहीं डाल सकती थी। आगमनगृह में सब तरह के यात्री टिक सकते थे। मुसाफिरों के लिए ग्राम-सभा, प्रपा (बावड़ी) और मन्दिरों में ठहरने की व्यवस्था रहती थी[1]। साध्वियाँ वहाँ इसलिए नहीं ठहर सकती थी कि पेशाब-पाखाना जाने पर लोग उन्हें बेशरम कहकर हँसते थे[2]। कभी-कभी आगमनगृह में चोरी से कुत्ते घुसकर बरतन उठा ले जाते थे। गृहस्थों के सामने साध्वियाँ अपना चित्त भी निश्चय नहीं कर पाती थीं[3]। इन आगमनगृहों में बहुधा बदमाशों से घिरी बदमाश औरतें और वेश्याएँ होती थीं। पास से बारात अथवा राज-यात्रा निकलती थी जिसे देखकर साध्वियों के हृदय में पुरानी बातों की याद ताजी हो जाती थी। आगमनगृह में वे युवा पुरुषों से नियमानुसार बातचीत नहीं कर सकती थीं और ऐसा न करने पर लोग उन्हें घृणा के भाव से देखते थे। यहाँ से चोर कभी-कभी उनके कपड़े भी उठा ले जाते थे। इसी तरह रण्डी-भड़ुओं से घिरकर उनके पतन की सम्भावना रहती थी[4]। तीन बार विहित स्थान खोजने पर भी न मिलने से, साध्वियाँ आगमनगृह अथवा बाड़े से घिरे मन्दिर में ठहर सकती थीं, लेकिन उनके लिए ऐसा करना तभी विहित था जब वे स्थिर बुद्धि से विधर्मियों से अपनी रक्षा कर सकें। पास में भले आदमियों का पड़ोस आवश्यक था[5]। मन्दिर में भी जगह न मिलने पर वे ग्राम-महत्तर के यहाँ ठहर सकती थीं[6]।

ऊपर हम देख आये हैं कि जैन-साहित्य के अनुसार व्यापारी और साधु किस तरह यात्रा करते थे और उन्हें यात्राओं में कौन-कौन-सी तकलीफें उठानी पड़ती थीं और सार्थ का संगठन किस प्रकार होता था। स्थलमार्ग में कौन-कौन रास्ते चलते थे, इसका जैन-साहित्य में अधिक विवरण नहीं मिलता। अहिच्छत्रा (आधुनिक रामनगर, बरेली) को एक रास्ता था जिससे उत्तर-प्रदेश के उत्तरी रास्ते का बोध होता है। इस रास्ते से धन नाम का व्यापारी माल लाकर व्यापार करता था।[7] उज्जैन और चम्पा के बीच भी, लगता है, कोशाम्बी और बनारस होकर व्यापार चलता था। इसी रास्ते पर धनवसु नामक सार्थवाह के लुटने का उल्लेख है।[8] मथुरा प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था और यहाँ से दक्षिण मथुरा के साथ बराबर व्यापार होता था।[9] शूर्पारक से भी व्यापार का उल्लेख है।[10] स्थल-मार्ग से व्यापारी ईरान (पारसदीव) तक की यात्रा करते थे।[11] रेगिस्तान की यात्रा में लोगों को बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती थी।[12] रेगिस्तानी रास्तों में सीध दिखलाने के लिए कीलें गड़ी होती थीं।[13]

अपने धार्मिक आचारों की कठिनता के कारण जैन साधु तो समुद्रयात्रा नहीं करते थे; पर जैन सार्थवाह और व्यापारी, बौद्धों की तरह, समुद्रयात्रा के कायल थे। इन

---

1 वही, २७८१ — 2 वही, २४१०
3 वही, २४१४ — 4 वही, २४१५-१६
5 वही, २२०४ — 6 वही, २२०७,
7 ज्ञाता धर्मकथा, १५, १४६ — 8 आवश्यक नियुक्ति, १२७१ से
9 आवश्यकचूर्णि, पृ० ४७२ से — 10 बृ० क० सू० भा०, २२०६
11 आवश्यकचूर्णि, पृ० ४४८ — 12 वही पृ० ५५३
13 सूत्रकृतांग टीका, १, १७, पृ० १६६

यात्राओं का बड़ा सजीव वर्णन प्राचीन जैन-साहित्य में आया है। आवश्यकचूर्णि से पता चलता है कि दक्षिण-मदुरा से सुराष्ट्र को बराबर जहाज चला करते थे। एक जगह कथा आई है कि पण्डु मथुरा के राजा पण्डुसेन की मति और सुमति नाम की दो कन्याएँ जब जहाज से सुराष्ट्र को चलीं तो रास्ते में तूफान आया और यात्री इनसे बचने के लिए रुद्र और स्कन्द की प्रार्थना करने लगे।[1] हम आगे चलकर देखेंगे कि चम्पा से गम्भीर, जो शायद ताम्रलिप्ति का दूसरा नाम था, होते हुए सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप को, जो शायद जंजीबार का भारतीय नाम था, बराबर जहाज चला करते थे।

समुद्र-यात्रा के कुशलपूर्वक समाप्त होने का बहुत कुछ श्रेय अनुकूल वायु को होता था।[2] निर्यामकों को समुद्री हवा के रुखों का कुशल ज्ञान जहाजरानी के लिए बहुत आवश्यक माना जाता था। हवाएँ सोलह प्रकार की मानी जाती थीं; १ प्राचीन वात (पूर्वा), २ उदीचीन वात (उतराहट), ३ दाक्षिणात्य वात (दक्खिनाहट), ४ उत्तरपौरस्त्य (सामने से चलती हुई उतराहट), ५ सत्वासुक (शायद चौआई), ६ दक्षिण-पूर्वतुंगार (दक्खिन-पूरब से चलती हुई जोरदार हवा को तुंगार कहते थे), ७ अपर दक्षिण बीजाप (पश्चिम-दक्षिण से चलती हवा को बीजाप कहते थे), ८ अपर बीजाप (पछुआ), ९ अपरोत्तर गर्जभ (पश्चिमोत्तरी तूफान), १० उत्तरसत्वासुक, ११ दक्षिण सत्वासुक, १२ पूर्वतुंगार, १३ दक्षिण बीजाप, १४ पश्चिम बीजाप, १५ पश्चिम गर्जभ और १६ उत्तरी गर्जभ।

समुद्री हवाओं के उपर्युक्त वर्णन में सत्वासुक, तुंगार तथा बीजाप शब्द नाविकों की भाषा से लिये गये हैं और उनकी ठीक-ठीक परिभाषाएँ मुश्किल हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इनका सम्बन्ध समुद्र में चलती हुई प्रतिकूल और अनुकूल हवाओं से है। इसी प्रकरण में आगे चलकर यह बात सिद्ध हो जाती है। सोलह तरह की हवाओं का उल्लेख करके चूर्णिकार कहता है कि समुद्र में कालिकावात (तूफान) न होने पर तथा साथ-ही-साथ अनुकूल गर्जभ वायु के चलने पर निपुण निर्यामक के अधीन वह जहाज, जिसमें पानी न रसता हो, इच्छित बन्दरगाहों को सकुशल पहुँच जाता था। तूफानों से, जिन्हें कालिकावात कहते थे, जहाजों के डूबने का भारी खतरा बना रहता था।

ज्ञाताधर्म की दो कहानियों से भी प्राचीन भारतीय जहाजरानी पर काफी प्रकाश पड़ता है। एक कथा में कहा गया है कि चम्पा में समुद्री व्यापारी (नाव वणियगा) रहते थे। ये व्यापारी नाव द्वारा गणिम (गिनती), धरिम (तौल), परिच्छेद तथा मेय (नाप) की वस्तुओं का विदेशों से व्यापार करते थे। चम्पा से यह सब माल बैलगाड़ियों पर लाद दिया जाता था। यात्रा के समय मित्रों और रिश्तेदारों का भोज होता था। व्यापारी सबसे मिल-मिलाकर शुभ मुहूर्त में गम्भीर नाम के बन्दर (पोयपत्तण) की यात्रा पर निकल पड़ते थे। बन्दरगाह पर पहुँचकर गाड़ियों पर से सब तरह का माल उतारकर जहाज पर चढ़ाया जाता था और उसके साथ ही खाने-पीने का भी सामान जैसे चावल, आटा, तेल, घी, गोरस, मीठे पानी की द्रोणियाँ,

---

१ आवश्यकचूर्णि, पृ० ७०६ अ

२ वही, पृ० ९९

३ आवश्यकचूर्णि, ३८६ और ३८७ अ०

ओषधियाँ तथा बीमारों के लिए पथ्य भी लाद दिये जाते थे। समय पर काम आने के लिए पुआल, लकड़ी, पहनने के कपड़े, अन्न, शस्त्र तथा और बहुत-सी वस्तुएँ और कीमती माल भी साथ रख लिये जाते थे। जहाज छूटने के समय व्यापारियों के मित्र और सम्बन्धी शुभकामनाएँ तथा व्यापार में पूरा फायदा करके कुशलपूर्वक लौट आने की हार्दिक इच्छा प्रकट करते थे। व्यापारी, समुद्र और वायु की पुष्प और गन्धद्रव्य से पूजा करने के बाद, मस्तूलों (वलयबाहासु) पर पताकाएँ चढ़ा देते थे। जहाज छूटने के पहले वे राजाज्ञा भी ले लेते थे। मंगलवाद्यों की तुमुलध्वनि के बीच जब व्यापारी जहाज पर सवार होते थे तो उस बीच बन्दी और चारण उन्हें यात्रा के शुभ मुहूर्त का ध्यान दिलाते हुए, यात्रा में सफल होकर कुशल-मंगल-पूर्वक वापस लौट आने के लिए, उनके प्रति अपनी शुभकामनाएँ प्रकट करते थे। कर्णधार, कुच्छिधार (डाँड़ चलानेवाले) और खलासी (गर्भिजका) जहाज की रस्सियाँ ढीली कर देते थे। इस तरह बन्धन-मुक्त होकर पाल हवा से भर जाते थे और पानी काटता हुआ जहाज आगे चल निकलता था अपनी यात्रा सकुशल समाप्त करके जहाज पुन. वापस लौटकर बन्दर में लंगर डाल देता था।[1]

एक दूसरी कहानी में भी जहाजी व्यापारियों द्वारा सामुद्रिक विपत्तियों का सामना करने का अच्छा चित्र आया है। इस कहानी के नायक एक समय समुद्रयात्रा के लिए हत्थिसीस नगर से बंदरगाह को रवाना हुए। रास्ते में तूफान आया और जहाज डगमगाने लगा, जिससे घबराकर निर्यामक किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया, यहाँ तक कि जहाजरानी की विद्या भी उसे विस्मृत हो गई। गड़बड़ी में उसे दिशा का भी ध्यान नहीं रहा। इस विकट परिस्थिति से रक्षा पाने के लिए निर्यामक, कर्णधार, कुच्छिधार, गर्भिज्जक और व्यापारियों ने नहा-धोकर इन्द्र और स्कन्द की प्रार्थना की। देवताओं ने उनकी प्रार्थना सुन ली और निर्यामकों ने बिना किसी विघ्न-बाधा के कालियद्वीप में अपना जहाज लाकर वहाँ लंगर डाल दिया। इस द्वीप में व्यापारियों को सोने-चाँदी की खानें, हीरे और दूसरे रत्न मिले। वहाँ धारीदार घोड़े वाली जेब्रे भी थे। सुगन्धित काष्ठों की गमगमाहट तो बेहोशी लानेवाली थी। व्यापारियों ने अपना जहाज सोने-जवाहरात इत्यादि से खूब भरा और अनुकूल दक्षिण-वायु में जहाज चलाते हुए सकुशल बन्दरगाह में लौट आये और वहाँ पहुँचकर राजा कनककेतु को सौगात देकर भेंट की। कनककेतु ने उनसे पूछा कि उनकी यात्राओं में सबसे विचित्र देश कौन सा देख पड़ा। उन्होंने तुरन्त कालियद्वीप का नाम लिया। इसपर राजा ने व्यापारियों को वहाँ से जेब्रे लाने के लिए राजकर्मचारियों के साथ कालियद्वीप की यात्रा करने को कहा। इस बात पर व्यापारी राजी हो गये और उन्होंने व्यापार के लिए जहाज में माल भरना शुरू किया। इस माल में बहुत-से बाजे भी थे जैसे, वीणा, भ्रमरी, कच्छपवीणा, भाण, षट्भ्रमरी और विचित्र वीणा। माल में काठ और मिट्टी के खिलौने (कट्ठकम्म, पोत्थकम्म), तसवीरें, पुते खिलौने (लेप्पकम्म), मालाएँ (ग्रथिम), गुँथी वस्तुएँ (वेढिम), भरावदार खिलौने (पूरिम), बटे सूत से बने कपड़े (संघाइम) तथा और भी बहुत-सी नेत्र-सुखद वस्तुएँ थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने जहाज में कोष्ठ (कोट्ठपुडाग), मोंगरा, केतकी, पत्र, तमालपत्र, लायची, केसर और खस के सुगन्धित तेल के कुप्पे भी भर लिये। कुछ व्यापारियों ने खाँड़, गुड़, शक्कर, बूरा (मत्स्यण्डी) तथा पुष्पोत्तरा और पद्मोत्तरा नाम की शक्करें अपने माल में रख लीं। कुछ ने रोएँदार कम्बल (कोजव), मलयवृक्ष की छाल के रेशे से बने कपड़े, गोल तकिये इत्यादि विदेशों में बिक्री के सामान भर

[1] ज्ञाताधर्मकथा, ८, ७१।

लिये। कुछ जौहरियों ने हंसगर्भ इत्यादि रत्न रख लिये। खाने के लिए जहाज में चावल भर लिया गया। कालियद्वीप में पहुँचकर छोटी नावों (अस्थिका) से माल नीचे उतारा गया। इसके बाद जेब्रा पकड़ने की बात आती है।[1]

कालियद्वीप का तो ठीक-ठीक पता नहीं चलता, पर बहुत सम्भव है कि यह जंजीबार हो, क्योंकि जंजीबार के वही अर्थ होते हैं जो कालियद्वीप के। जो कुछ भी हो, जेब्रा के उल्लेख से तो प्राय निश्चित-सा है कि कालियद्वीप पूर्वी अफ्रिका के समुद्रतट पर ही रहा होगा।

उपर्युक्त विवरणों से हमें पता चल जाता है कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष का भीतरी और बाहरी व्यापार बड़े जोर से चलता था। इस देश से सुगन्धित द्रव्य, कपड़े, रत्न, खिलौने इत्यादि बाहर जाते थे और बाहर से बहुत-से सुगन्धित द्रव्य, रत्न, सुवर्ण इत्यादि इस देश में आते थे। दालचीनी, मुरा (लोबान), अनलद, बालछड़, नलद, अगर, तगर, नत, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, कुठ, जटामांसी इत्यादि का इस देश से दूसरे देशों के साथ व्यापार होता था।[2] कपड़ों का व्यापार भी काफी उन्नत अवस्था में था। रेशमी वस्त्र बहुधा चीन से आता था। गुजरात की बनी पटोला साड़ियाँ काफी विख्यात थीं। मध्य-एशिया और बलख से समूर और पशमीने आते थे। इस देश से मुख्यत सूती कपड़े बाहर जाते थे।[3] काशी के वस्त्र इस युग में भी विख्यात थे तथा अपरान्त (कोंकण), सिन्ध और गुजरात में भी अच्छे कपड़े बनते थे। बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य[4] के अनुसार, नेपाल, ताम्रलिप्ति, सिन्धु और सोवीर अच्छे कपड़ों के लिए विख्यात थे।

जैन-साहित्य से यह भी पता चलता है कि इस देश में विदेशी दास-दासियों की भी खूब खपत थी। अन्तगडदसाओ[5] से पता चलता है कि सोमालीलैण्ड, वंक्षुप्रदेश, यूनान, सिंहल, अरब, फरगना, बलख और फारस इत्यादि से इस देश में दासियाँ आती थीं। ये दासियाँ अपने-अपने मुल्क के कपड़े पहनती थीं और इस देश की भाषा न जानने के कारण, इशारों से ही बातचीत कर सकती थीं।

देश में हाथीदाँत का व्यापार होता था और वह यहाँ से विदेशों को भी भेजा जाता था। हाथीदाँत इकट्ठा करने के लिए व्यापारी पुलिंदों को बयाना दे रखते थे। इसी तरह शंख इकट्ठा करनेवाले माँझियों को भी बयाने का रुपया दे दिया जाता था।[6]

उत्तरापथ के तगण नाम के म्लेच्छ, जिनकी पहचान तराई के तंगणों से की जा सकती है, सोना और हाथीदाँत बेचने के लिए दक्षिणापथ आया करते थे। किसी भारतीय भाषा के न जानने से वे केवल इशारों से सौदा पटाने का काम करते थे। अपने माल की वे राशियाँ लगा देते थे और उन्हें अपने हाथों से ढँक देते थे और उन्हें तबतक नहीं उठाते थे जबतक पूरा सौदा नहीं पट जाता था।[7]

---

१ वही, १७, पृ० १२७ से

२ जे० आई० एस० ओ० ए०, ८ (१९४०), पृ० १०१ से

३ वही, ८ (१९४०), पृ० १८८ से

४ बृ० क० सू० भा०, ३६१२

५ अन्तगडदसाओ, बारनेट का अनुवाद, पृ० २८ से २९, लंदन, १९०७

६ आवश्यकचूर्णि, पृ० ८२६

७ वही, पृ० १२०

जैन-साहित्य से पता लगता है कि इस देश में उत्तरापथ के घोड़ों का व्यापार खूब चलता था और सीमाप्रान्त के व्यापारी, घोड़ों के साथ, देश के कोने-कोने में पहुँचते थे। कहानी है कि उत्तरापथ से एक घोड़े का व्यापारी द्वारका पहुँचा। वहाँ और राजकुमारों ने तो उससे ऊँचे-पूरे और मोटे-ताजे घोड़े खरीदे; पर कृष्ण ने सुलक्षण और दुबले-पतले घोड़े खरीदे।[1] दीवालिया के खच्चर भी प्रसिद्ध होते थे।[2] जैन-साहित्य से पता चलता है कि गुप्त-युग में भारत का ईरान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध काफी बढ़ गया था। इस व्यापार में आदान-प्रदान की मुख्य वस्तुओं में शंख, सुपारी, चंदन, अगर, मजीठ, सोना, चाँदी, मोती, रत्न और मूँगे होते थे।[3] माल की उपर्युक्त तालिका में, शंख, चन्दन, अगर और रत्न तो भारत से जाते थे और ईरान इस देश को मजीठ, चाँदी, सोना, मोती और मूँगे भेजता था।

जैन-प्राकृत कथाओं में एक जगह एक ईरानी व्यापारी की सुन्दर कथा आई है। ईरान का यह व्यापारी बेन्नयड नामक बन्दर को अपने बड़े जहाज में शंख, सुपारी, चन्दन, अगर, मजीठ तथा ऐसे ही दूसरे पदार्थ भरकर चला। हमें कहानी से पता चलता है कि जब ऐसा जहाज किसी टापू अथवा बन्दरगाह में पहुँचता था तो वहाँ उसपर लदे माल की इसलिए जाँच होती थी कि उसपर वही माल लदा है जिसके निर्यात के लिए मालिक को राजाज्ञा प्राप्त है अथवा दूसरा माल भी। बेन्नयड में जब ईरानी जहाज पहुँचा तो वहाँ के राजा ने जहाज पर के माल की जाँच के लिए एक श्रेष्ठि को नियुक्त कर दिया और उसे आज्ञा दी कि आधा माल राजस्व में लेकर बाकी आधा व्यापारी को लौटा दे। बाद में, राजा को कुछ शक हो गया और उसने माल को अपने सामने तौलने की आज्ञा दी। श्रेष्ठि ने राजा के सामने माल तौला। माल की गाँठों को झकझोरने और परखी लगाने पर पता चला कि मजीठ की गाँठों में कुछ बेशकीमती वस्तुएँ छिपी हैं। राजा का सन्देह अब विश्वास में परिणत हो गया और उसने दूसरी गाँठें भी खोलने की आज्ञा दी। सब गांठों की जाँच के बाद यह पता चला कि ईरानी व्यापारी सोना, चाँदी, रत्न, मूँगे और दूसरी कीमती वस्तुएँ जहाँ-तहाँ छिपाकर निकाल ले जाना चाहता था। व्यापारी गिरफ्तार कर लिया गया और न्याय के लिए आरक्षकों के हाथ सौंप दिया गया।[4]

जैन-साहित्य से पता चलता है कि उस समय के सभी व्यापारी ईमानदार नहीं होते थे। विदेशों से कीमती माल लाने पर बहुत-से व्यापारी यही चाहते थे कि किसी-न-किसी तरह, उन्हें राजस्व न चुकाना पड़े। रायपसेणिय[5] में अंक, शंख और हाथीदाँत के उन व्यापारियों का उल्लेख है जो राजमार्ग छोड़कर कच्चे और बीहड़ रास्ते इसलिए पकड़ते थे कि शुल्कशालाओं से बच निकलें। पकड़ लिये जाने पर ऐसे व्यापारियों को कठिन राजदण्ड मिलता था।[6]

---

१ वही, पृ० ४२४ अ

२ दशवैकालिकचूर्णि, पृ० २१३

३ उत्तराध्ययन टीका, पृ० ६४ अ

४ मेयर, हिन्दू टेल्स, पृ० २१६-१७

५ रायपसेणियसूत्र, ९०

६ उत्तराध्ययन टीका, पृ० २९२ अ

दसवाँ अध्याय

गुप्तयुग के यात्री और सार्थ

गुप्तयुग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं को पार करके मध्यएशिया और और मलय-एशिया में छा गई। इस संस्कृति के संवाहक व्यापारी, बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण पुरोहित थे जिन्होंने जल और स्थलमार्ग की अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए भी विदेशों से कभी सम्पर्क नहीं छोड़ा।

हिन्द-एशिया में, गुप्तयुग के पहले भी, भारतीय उपनिवेश बन चुके थे, पर गुप्तयुग में भारत और पूर्वी देशों का सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध और बढ़ा। इस युग के संस्कृत-साहित्य में पूर्वी द्वीपपुंज के लिए, जैसा कालिदास से पता चलता है (द्वीपांतरानीत लवंगपुष्पैः), द्वीपांतर शब्द चल निकला था। मार्कण्डेयपुराण (५७।५-७) में समुद्र से आवेष्टित इन्द्रद्वीप, कशेरुमान्, ताम्रपर्ण (ताम्रपर्णी ?), गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व और वारुण (बोर्नियो ?) द्वीप का उल्लेख है। वामनपुराण[1] के अनुसार, इन नव द्वीपों को भारतीयों ने युद्ध और वाणिज्य द्वारा पावन किया (इज्यायुद्धवाणिज्याभि कर्मभिः कृतपावना)।

उस युग में व्यापारियों और धर्म-प्रचारकों की कहानी जानने के पहले हमें उस युग का इतिहास भी जान लेना आवश्यक है, क्योंकि इतिहास जानने से ही यह पता चल सकता है कि किस तरह इस देश में एक ऐसे राज्य की स्थापना हुई जिसने संस्कृति के सब अंगों को, चाहे वह कला हो या साहित्य, धर्म हो अथवा राजनीति, व्यापार हो अथवा जीवन का सुख, सभी को समान रूप से प्रोत्साहन दिया। सम्राट् समुद्रगुप्त की विजयों ने देश की विभिन्न शक्तियों को एक सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न किया। उसकी विजय-यात्राओं से पुन. भारत के राजमार्ग जाग-से उठे। पहले धक्के में, पश्चिम युक्तप्रदेश तक उसकी विजय का डंका बज गया। इसके बाद पद्मावती और उत्तर-पूर्वी राजपुताने की बारी आई और उसकी फौजों ने मारवाड में पुष्करणा (पोखरन) तक फतह कर ली। पूर्वी भारत में उनकी विजय-यात्रा से समतट, डवाक (ढाका ?), कामरूप और नेपाल उसके बस में आ गये। मध्य-भारत में उसकी विजय-यात्रा कौशाम्बी से शुरू हुई होगी। वहाँ से डाहल जीतने के बाद उसे पूर्व-मध्य प्रदेश में कई जंगली राज्यों को जीतना पड़ा।

अपनी पंजाब की विजय-यात्रा में समुद्रगुप्त ने पूर्वी पंजाब और राजस्थान के यौधेयों को जीता। जलन्धर और स्यालकोट के मद्र लोगों ने उसकी अधीनता स्वीकार की। अन्त में उसकी शाहानुशाहियों से भी मुठभेड़ हुई। यहाँ इसके बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। इतिहास के अनुसार, कनिष्क के वंश की, तीसरी सदी में, समाप्ति हो गई जिसका कारण ईरानियों का पुनर्जीवन था। अर्देशर प्रथम (२२४-२४१ ई०) ने खुरासान यानी मर्ग, बलख और खारिजम, जो

---

[1] जर्नल ऑफ दि ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी, (१९४०), पृ० ४१

तुखार-साम्राज्य के उत्तरी भाग के द्योतक थे, जीत लिया। आर्देशर और उसके उत्तराधिकारियों का शकस्तान पर भी अधिकार हो गया। उस समय शकस्तान में सीस्तान, अरखोसिया और भारतीय शकस्तान शामिल थे। इस बृहद् ईरानी-साम्राज्य का पता हमें सासानी सिक्कों से लगता है जो हमें बतलाते हैं कि कुछ ईरानी राजे कुषाणशाह, कुषाणशाहानुशाह और शकानशाह की पदवी धारण करते थे।

हमें समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तम्भ-लेख से पता चलता है कि उसका दैवपुत्र शाहानुशाहियों से दौत्य सम्बन्ध था। समुद्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिमी भारत की सीमा को अपनी विजय-यात्रा से बाहर छोड़ दिया था। गुप्तों और भारतीय ससानियों के अच्छे सम्बन्ध की झलक हम उत्तर-भारत के एक नये पहलू पर पाते हैं जिसके अनुसार भारतीय, शकों को अपने में मिलाकर, हिन्दूकुश के रास्ते मध्य-एशिया में उपनिवेश बनाने लगे। उस युग में गुप्तयुग के व्यापारी मध्य-एशिया के सब रास्तों का व्यवहार करते थे। तारीम की घाटी के उत्तरी नखलिस्तानों में भारतीय प्रभाव बहुत मजबूत था। वहां स्थानीय ईरानी बोली के अतिरिक्त भारतीय प्राकृत का व्यवहार होता था तथा वहाँ की कला पर भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप है।

समुद्रगुप्त की दक्षिण में विजय-यात्रा, मालूम होता है, दक्षिणकोसल, उड़ीसा (बिलासपुर, रायपुर और सम्भलपुर) और उसकी राजधानी श्रीपुर (सीरपुर, रायपुर से चालीस मील पूर्व), महाकान्तार (पूर्वी गोंडवाना), एरण्डपल्ली (चीकाकोल के पास गंजम जिले में), देवराष्ट्र (येल्लमञ्चिलि) विजगापटम्, गिरिकोट्टूर (कोठूर, गंजम जिला), अवमुक्त (गोदावरी जिले में शायद नीलपल्ली नामक एक पुराना बन्दर), पिष्टपुर (पीठपुरम्), कौराल (शायद पीठपुरम् के पास कोल्लूर झील), पलक्क (पलक्कड, नेलोर जिला), कुस्थलपुर (उत्तरी आर्कट में कुद्दलूर) और कांची तक पहुँचकर उसकी सेनाओं ने विजय की।

पर समुद्रगुप्त के साथ भारत की प्राचीन पथ-पद्धति पर गुप्त-युग की विजय यात्राएँ समाप्त नहीं होतीं। समुद्रगुप्त के यशस्वी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भी इन रास्तों पर अपनी विजय का चमत्कार दिखलाया। इस बात के मानने के कारण हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मथुरा में अपनी विजय को मजबूत किया।[1] लगता है कि मथुरा में अपनी शक्ति मजबूत हो जाने पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८८ और ४०६ ई० के बीच मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र को जीता। इन सब विजय-यात्राओं से चन्द्रगुप्त द्वितीय का साम्राज्य काफी बढ़ गया। अभी तक यह ठीक-ठीक पता नहीं लगा है कि 'मेहरौली-स्तम्भ' का राजा चन्द्र कौन था। पर अधिकतर विद्वान उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ही मानते हैं। अगर यह बात सही है तो महाप्रतापशाली चन्द्रगुप्त ने वाह्लीक तक अपनी विजय-पताका उड़ाई थी। इतना ही नहीं, प्रतीत होता है कि उसकी सेना ने सिन्ध को भी विजित कर लिया था। मीरपुर खास में गुप्त-कालीन एक बहुत बड़े स्तूप का होना ही इस बात का परिचायक है कि गुप्तों की शक्ति वहाँ तक पहुँच गई थी। विष्णुपदगिरि यानी शिवालिक की पहाड़ियों पर विजय-स्तम्भ खड़ा करने के भी शायद यही मानी होते हैं कि चन्द्रगुप्त की सेनाएँ महापथ से होकर वलख में घुसीं।

कुमारगुप्त प्रथम (४१५-४५६) को, सबसे पहले, हूणों के धावे का धक्का लगा, पर उसके उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त (४५८-४७८) को तो उनका भयंकर सामना करना पड़ा। लगता

---

[1] फ्लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स ३, पृ० ३७

है, हूण पंजाब और उत्तर-प्रदेश से होते हुए सीधे पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे और उस नगर को लूटकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। कुम्हरार के पास की खुदाई से बात की पुष्टि होती है कि स्कन्दगुप्त के समय पाटलिपुत्र पूरा तहस-नहस कर दिया गया था, पर लगता है, हूणों का अधिकार बहुत दिनों तक इस नगर पर नहीं रह सका। स्कन्दगुप्त ने फिर उन्हें अपनी सेनाओं से खदेड़ दिया। हटती हुई हूण-सेना के साथ बढ़ते हुए स्कन्दगुप्त का, गाजीपुर के नजदीक, भीतरी सैदपुर के पास, प्रसिद्ध विजय-स्तम्भ है। लगता है, हूण-सेना परास्त की गई और इस तरह थोड़े दिनों तक गुप्त-साम्राज्य समाप्त होने से बच गया, किन्तु उसमें ह्रास के लक्षण प्रकट हो गये थे और इसीलिए वह बहुत दिनों तक नहीं चल सका। सातवीं सदी की अराजकता से उत्तरभारत का श्रीहर्ष ने उद्धार किया और गुप्त-संस्कृति की परम्परा कायम रखी। इसके बाद का इतिहास मध्यकालीन भारत का इतिहास हो जाता है।

हूणों का आक्रमण इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है। चीनी ऐतिहासिकों के अनुसार, हूणों ने बाम्यान, कापिशी, लम्पक और नगरहार जीतने के बाद गन्धार जीता। उन्होंने भागते हुए किदार-कुषाणों को कश्मीर में ढकेल दिया और पंजाब में घुसकर गुप्तों को हराया। भारतीय राजाओं द्वारा ५२६ ई० में हराये जाकर हूण दक्षिण की ओर घूम गये जहाँ सासानी लोग केवल तुर्कों की मित्रता से बच सके। खगान तुर्कों द्वारा हूणों की शक्ति तोड़ दिये जाने पर, खुसरो नौशीरवाँ बलख का मालिक बन बैठा। बाद में, ईरानियों और बाइजेंटिनों की दुश्मनी से तुर्कों का प्रभाव बढ़ गया।

इस युग में बहुत-से चीनी बौद्ध भिक्षु भारत-यात्रा को आये। इनमें से फाहियान (करीब ४०० ई०) ने भारत की भौगोलिक और राजनैतिक अवस्थाओं का कम वर्णन किया है। सोंगयुन, गन्धार में, करीब ५२१ ई० में पहुँचा, जब हूणों का उपद्रव बहुत जोरों से चल रहा था, पर उसके यात्रा-विवरण में भी जनता की तकलीफों का कोई उल्लेख नहीं है। फाहियान और सोंगयुन, दोनों ही भारत में उड्डीयान के रास्ते घुसे; पर सातवीं सदी के मध्य में, युवानच्वाङ् ने बलख से तक्षशिला का रास्ता पकड़ा। लौटते समय उसने कन्धारवाला रास्ता पकड़ा। उस समय तुर्फान और कपिश के बीच का प्रदेश तुर्कों के अधीन था। इसिककोल में खगान तुर्क ने युवानच्वाङ् की बड़ी खातिर की। ताशकुर्गन पर पहुँचकर वह ईरान और पामीर के बीच फैले हुए प्राचीन कुषाण-साम्राज्य की सीमाओं का ठीक-ठीक वर्णन करता है[1]।

उस समय तुर्कों के साम्राज्य की सीमा ताशकुरगन तक थी; पर हिन्दूकुश के उत्तर और दक्षिण से सासानियों की सत्ता गायब हो चुकी थी। उत्तर में तुखारिस्तान छोटे-छोटे बीस राज्यों में बँट चुका था। ये राज्य खगान तुर्क के खाँ के सबसे बड़े भाई के अधिकार में थे। युवानच्वाङ् ताशकुर्गन में कुछ दिन तक ठहरने के बाद कापिशी, नगरहार, पुरुषपुर, पुष्करावती, उदभाण्ड होते हुए तक्षशिला पहुँचा। बाम्यान पहुँचने के पहले वह तुखारिस्तान की सीमाएँ छोड़ चुका था। कापिशी के राजा के अधिकार में दस छोटे-छोटे राज्य थे।

चौदह बरस बाद, जब युवानच्वाङ् भारत से वापस लौटा, तब भी, अफगानिस्तान की राजनीतिक अवस्था वही थी। इस यात्रा में कापिशी के राजा ने उसकी बड़ी खातिर की।

---

1 फूशे, वही, पृ० २२१ से

इस यात्रा में वह उदभाण्ड से लम्पक पहुँचा। यहाँ से खुर्रम की ही घाटी से होकर वह बन्नू पहुँचा। उस युग में बन्नू की सीमा वजीरिस्तान से बढ़ी थी और उसमें गोमल, झोब (यव्यावती) और कन्दर की घाटियाँ आ जाती थीं। वहाँ से चलकर उसने तोबा काकेर की पर्वतश्रेणी पार की और गजनी और तर्नाक की घाटी पहुँचा। यहाँ से भारतीय सीमा पार करके वह केलात-ए-गजनी के रास्ते से साम्रो-क्यू-त, यानी, जागुड पहुँचा (जिसका आधुनिक नाम जगुरी है)। जागुड के उत्तर में वृजिस्थान था, जिसका नाम उजरिस्तान अथवा गजिस्तान है। यहाँ के बाद हजारा लोगों का प्रदेश पड़ता था। युवानच्वाङ् के अनुसार, इस प्रदेश का अधिकारी एक तुर्क राजा था। यहाँ से उत्तर चलता हुआ वह दस्त-ए-नावुर और बोकान के दर्रों से होकर लोएर की ऊँची घाटी पर पहुँचा। यहाँ से चलकर उसका रास्ता हेरात काबुल के रास्ते से जलरेज पर अथवा कन्धार-गजनी-काबुल के रास्ते से मैदान में मिलता था। कपिशा से पगमान होते हुए, उसने कपिश की सीमा पर बहुत-से छोटे-छोटे राज्य पार किये और खावक होते हुए अन्दराब की घाटी से खोस्त पहुँचा और वहाँ से बदख्शाँ, वखाँ होते हुए वह पामीर पहुँच गया।

इतिहास बतलाता है कि गुप्तयुग में राजनीतिक एकच्छत्रता की वजह से भारतीय व्यापार की बड़ी उन्नति हुई और उज्जैन तथा पाटलिपुत्र अपने व्यापार के लिए मशहूर हो गये। पद्मप्राभृतकम्[1] में, उज्जैन में घोड़े, हाथी, रथ और सिपाहियों तथा तरह-तरह के माल से भरे बाजारों का उल्लेख है। उभयाभिसारिका[2] में कुसुमपुर की, माल से खचाखच भरी दूकानों और लेने-बेचनेवालों की, भीड़ का उल्लेख है। पादताडितकम् के अनुसार, सार्वभौम-नगर (उज्जैन) के बाजारों में देशी और समुद्र-पार से लाये माल का ढेर लगा रहता था[3]।

इस रोजगार को चलाने के लिए सराफे होते थे जिनके चौधरी (नगरश्रेष्ठि) का नगर में बड़ा मान होता था। जैसा हमें मुद्राराक्षस से पता चलता है, नगरसेठ व्यापार और लेन-देन के सिवा अदालत में कानूनी सलाह भी देता था। हमें कुमारगुप्त और बुधगुप्त के लेखों से पता चलता है कि कोटिवर्ष विषय का राज्यपाल वेत्रवर्मन्, एक समिति की सहायता से (जिसके सदस्य नगरश्रेष्ठि, सार्थवाह, प्रथम कुलिक, प्रथम शिल्पी और प्रथम कायस्थ होते थे) राज्य करता था। 'नगरसेठ' नगर का सबसे बड़ा व्यापारी और महाजन होता था तथा 'सार्थवाह' एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने और ले आने का काम करता था। उभयाभिसारिका[4] में तो धनदत्त सार्थवाह के पुत्र समुद्रदत्त को उस युग का कुबेर कहा गया है। एक दूसरी जगह, धनमित्र सार्थवाह के वर्णन से पता चलता है कि गुप्तकाल के सार्थवाह खूब माल खरीदकर देशावर जाते थे। कभी-कभी चोर उन्हें लूट लेते थे और यदा-कदा राजा

---

१. चतुर्भाणि, श्री एम० आर० के० कवि और श्री एस० के० आर० शास्त्री द्वारा सम्पादित १, पृ० ४-५, पटना, १९२२

२. वही, ३, पृ० १-३

३. वही, ४, पृ० १०

४. फ्लीट, वही, पृ० १३१

५. चतुर्भाणि, ३, पृ० ५

भी उनका धन हर लेता था[1]। प्रथम कुलिक भी नगर का कोई बड़ा व्यापारी होता था। शायद इस युग में नगर का द्वितीय कुलिक भी होता था। अभिलेखों से तो उसका पता नहीं चलता, पर महावस्तु[2] के अनुसार, वह नगरसेठ के लिए काम करता था। नगरसेठ, सार्थवाह और निगम के सदस्यों के मान का पता इस बात से भी चलता है कि वे खास-खास अवसरों पर राजा के साथ होते थे[3]।

गुप्तकाल के व्यापार और लेन-देन में निगम का भी बड़ा हाथ रहता था। इसमें शक नहीं कि निगम मध्यकालीन सराफे का द्योतक था। बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (१०६१-१११०) के अनुसार, निगम दो तरह के होते थे। एक तो केवल महाजनी का काम करता था और दूसरा महाजनी के अतिरिक्त दूसरे काम भी कर लेता था।

निगम, सेठ, सार्थवाह और कुलिकों में घना सम्बन्ध होता था। गुप्त-युग में इनकी संयुक्त मण्डली होने का प्रमाण हमें बसाढ़ से मिली मुद्राओं से मिलता है[4]। ऐसा होना आवश्यक भी था, क्योंकि इन सबका व्यापार में समान रूप से सम्बन्ध होता था।

गुप्तयुग में श्रेणियाँ होने के भी अनेक प्रमाण हैं। अभाग्यवश,श्रेणियों पर उस काल के लेखों से बहुत अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। कुमारगुप्त प्रथम के समय के मन्दसोर के लेख[5] से पता चलता है कि लाट देश से आये हुए रेशमी वस्त्र के बुनकरों की एक श्रेणी थी और उस श्रेणी के सदस्य अपने व्यवसाय पर अभिमान करते थे। स्कन्दगुप्त के समय के एक लेख से[6] पता लगता है कि तेलियों की भी श्रेणी होती थी।

विष्णुषेण के ५९२ ई० के एक लेख से पश्चिम-भारत में राजा और व्यापारियों के सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।[7] उसके राज्य में रहनेवाले व्यापारियों ने आचारस्थिति-पात्र की माँग की, जिससे वे अपनी रक्षा कर सकें। पूर्व समय से चले आते हुए इन नियमों में से बहुत-से नियम तत्कालीन व्यापार पर काफी प्रकाश डालते हैं। राजा व्यापारी की सम्पत्ति को, बिना उसके पुत्र के मरे, जबरदस्ती नहीं ले सकते थे। व्यापारियों पर झूठा मुकदमा चलाने की मनाही थी। उन्हें केवल शक से कोई नहीं पकड़ सकता था। पुरुष के अपराध में स्त्री गिरफ्तार नहीं की जा सकती थी। मुद्दई और मुद्दालेह की उपस्थिति में ही मुकदमा सुना जा सकता था। माल बेचने में लगे दूकानदार की गवाही नहीं मानी जाती थी। राजा और सामन्तों के आने पर बैलगाड़ी, खाद और रसद जबरदस्ती नहीं वसूली जा सकती थी। यह भी नियम था कि सब श्रेणी के लोग एक ही बाजार में दूकान नहीं लगा सकते थे, अर्थात् भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लोगों को शहर के भिन्न-भिन्न भागों में बसने

---

१. वही, ३, पृ० १०

२. महावस्तु, ३, पृ० ४०१-४०६

३. वही, ३, पृ० १०२

४. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, १९०३-१९०४, पृ० १०४

५. फ्लीट, वही, नं० १८, पृ० ८६ से

६. फ्लीट, वही, नं० १६, पृ० ७१

७. प्रोसीडिंग्स ऐण्ड ट्रैन्जेक्शन्स ऑफ दी आल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फरेन्स फिफ्टीन्थ सेशन, बम्बई, १९४९, पृ० २७१ से

की अनुमति थी, एक ही जगह नहीं। श्रेणियों के सदस्यों को शायद बाजार का कर नहीं देना पड़ता था। राजकर केवल महल में राजा के पास अथवा उस काम के लिए नियुक्त किसी कर्मचारी के पास लाया जाता था, दूसरे के पास नहीं। दूसरे देश से आये हुए व्यापारी को, कानून की निगाह में, वे अधिकार नहीं थे जो उस देश के व्यापारियों को थे। ढेंकुल चलानेवाले और नील निकालनेवाले को कोई कर नहीं देना पड़ता था। बावली भरनेवाले और ग्वाले से किसी तरह की बेगारी नहीं ली जा सकती थी। घर में अथवा दूकान पर काम करनेवाले व्यक्ति अदालत की मुहर, पत्र और दूत से तभी बुलवाये जा सकते थे जबकि उनपर फौजदारी का मुकद्दमा हो। देवपूजा, यज्ञ और विवाह में लगे हुए लोगों को जबरदस्ती अदालत में नहीं बुलवाया जा सकता था। कर्जदार की जमानत हो जाने पर उसे हथकड़ी नहीं लग सकती थी, न उसे अदालत के पहरे में ही रखने की अनुमति थी। आषाढ़ और पूस में उन गोदामों की जाँच होती थी जहाँ अन्न भरा जाता था। लगता है कि इनपर सवा रुपया धर्मादा देना पड़ता था। बिना राजकर्मचारियों को सूचना दिये हुए अगर पोतेदार धर्मांश वसूल करके अन्न बेच देता था तो उसे शुल्क का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था। लगता है कि कोई सरकारी कर्मचारी हर पाँच दिन पर राजकर की वसूली जमा करता था। ऐसा न करने पर उसे छ रुपये का दण्ड लगता था और शायद चवन्नी धर्मादा। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रथम कुलिक (जिसे लेख में उत्तर-कुलिक कहा गया है), जब नापने और जोखने के सम्बन्ध का कोई मुकदमा होता था तब अदालत के बाहर नहीं जाने पाते थे। उन्हें यह भी आवश्यक होता था कि अदालत के तीन बार बुलाने पर वे अवश्य वहाँ हाजिर हों। ऐसा न करने पर सवा दो रुपये दण्ड लगते थे। नकली रुपये बनानेवाले को सवा छः रुपये दण्ड लगते थे। लगता है कि नील बनानेवाले को तीन रुपये कर में भरने पड़ते थे और उतना ही तेलियों को भी। जो व्यापारी एक बरस के लिए बाहर जाते थे उन्हें अपने देश में वापस आने पर कोई कर नहीं देना पड़ता था, पर बार-बार बाहर जाने पर उन्हें बाहर जाने का कर भरना पड़ता था। माल से भरी नाव का किराया और शुल्क बारह रुपये होता था और उसपर धर्मादा सवा रुपये लगता था। भैंस और ऊँट के बोझ पर सवा पाँच रुपया धर्मादे के संग लगता था। बैल के बोझ पर ढाई रुपया, गदहे के बोझ पर सवा रुपया धर्मादे के साथ और गठरियों पर सवा रुपये कर लगता था और जिन अँकुड़ों पर वे लटकाई जाती थीं उनपर चार आना। सौ फल की गठरियों पर दो विंशोपक मासूल धर्मादे के साथ लगता था। एक नाव धान का कर तीन रुपया लगता था। सूखी-गीली लकड़ी से भरी-पूरी नाव का मासूल सवा रुपये धर्मादे के साथ होता था। बाँस-भरी नाव का धर्मादे के संग मासूल सवा रुपया होता था। अपने सिर पर धान उठाकर ले जानेवाले को किसी तरह का कर नहीं देना पड़ता था। जीरा, धनिया, राई इत्यादि दो पसर, नमूने के लिए, निकाल लिये जाते थे। विवाह, यज्ञ, उत्सव के समय कोई शुल्क नहीं लगता था। मद्य-भरी नाव पर पाँच रुपया मासूल और सवा रुपये धर्मादा लगता था। शायद खाल-भरी नाव पर धर्मादे सहित सवा रुपया मासूल लगता था। सीधु नाम की मदिरा पर उसका एक चौथाई भाग मासूल भरना होता था। छीपी, कोली, और मोचियों को अपनी वस्तुओं के मूल्य का शायद आधा, कर में दे देना पड़ता था। लोहार, रथकार, नाई और कुम्हार से जबरदस्ती बेगारी ली जा सकती थी।

उपर्युक्त आचारपात्रस्थिति से हमें व्यापार के कई पहलुओं का ज्ञान होता है। लगता है, व्यापारियों ने अदालत से अपनी रक्षा करने का पूरा बन्दोबस्त कर लिया था। हमें यह भी पता

लगता है कि व्यापार पर उस समय मासूल की क्या दर थी। यह भी मालूम पड़ता है कि व्यापारियों से मासूल के साथ-साथ धर्मादा भी वसूल किया जाता था। छीपी, कोली इत्यादि कारीगरों से गहरा राजकर वसूल किया जाता था।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[1] में, जिसका समय शायद गुप्तकाल काल हो सकता है, तथा महावस्तु में भी अनेक श्रेणियों का उल्लेख है। हम महावस्तु की श्रेणियों का वर्णन कर आये हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञति में अठारह श्रेणियों का उल्लेख है। बौद्ध-साहित्य में अठारह श्रेणियों का उल्लेख तो आता है, पर उनके नाम नहीं आते। वे अठारह श्रेणियाँ इस प्रकार हैं।—
(१) कुम्हार, (२) रेशम बुननेवाला (पट्टइल्ला), (३) सोनार (सुवर्णकार), (४) रसोइया (सुवकार), (५) गायक (गन्धव्व), (६) नाई (कासवग), (७) मालाकार, (८) कच्छकार (काछी), (९) तमोली, (१०) मोची (चम्मयरु), (११) तेली (जन्तपीलग), (१२) अंगोछे बेचनेवाले (गंछी), (१३) कपड़े छापनेवाले (छिम्प), (१४) ठठेरे (कंसकार), (१५) दर्जी (सीवग), (१६) ग्वाले (गुआर), (१७) शिकारी (भिल्ल) तथा (१८) मछुए।

गुप्तयुग के साहित्य में अक्सर व्यापार की बहुत बड़ाई की गई है। पंचतन्त्र[2] में बहुत-से व्यवसायों को बताने के बाद व्यापार की इसलिए तारीफ की गई है कि उससे धन और इज्जत, दोनों मिलती थी। व्यापार के लिए माल सात विभागों में बाँटा गया है ; यथा—
(१) गन्धी का व्यवसाय (गन्धिक व्यवहार), (२) रेहन-बट्टे का काम (निक्षेप-प्रवेश), (३) पशुओं का व्यापार (गोष्ठीकर्म), (४) परिचित ग्राहक का आना, (५) माल का झूठा दाम बताना, (६) झूठी तौल रखना और (७) विदेश में माल पहुँचाना (देशान्तरभाण्डनयनम्)। गन्धी के व्यापार की इसलिए तारीफ की गई है कि उससे काफी फायदा मिलता था। महाजन नित्य मनाया करते थे कि कैसे जमा करनेवाला मरे कि उसका माल गायब हो जाय। पशु के व्यापारी सोचते थे कि उसके पशु ही उसकी सम्पत्ति हैं। व्यापारी सोचता था कि परिचित ग्राहकों के आने पर सौदा अच्छा बिकेगा। चोर-व्यापारी झूठी तौल में मजा लेता था।

विदेशी व्यापार पर दो सौ से तीन सौ तक प्रति बार फायदा होता था। इस उन्नत व्यापार के लिए सड़कों के प्रबन्ध की आवश्यकता थी। गुप्तयुग में, लगता है, सड़कों के प्रबन्ध के लिए एक अधिकारी होता था। उसके काम का तो हमें पता नहीं, पर यह माना जा सकता है कि वह यात्रियों की देख-रेख करता था और उन्हें सीमान्त-प्रदेश के दुश्मनों से बचाता था। यशोवर्मन् के नालन्दा के शिलालेख से पता चलता है कि उसके तिक्नि (तिगिन) नाम का एक मन्त्री मार्गपति था[3]। तिगिन शब्द से मालूम पड़ता है कि वह शायद कोई तुर्क रहा होगा।

हम ऊपर देख आये हैं कि गुप्तयुग में गुप्त नरेशों की सेनाएँ बराबर मार्गों पर इधर से उधर जाती रहती थीं। इस युग में कूच करती हुई सेना का बहुत ही सुन्दर वर्णन बाण के

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३, ४३, पृ० १९३-९५
२. पंचतन्त्र, पृ० ६ से, बम्बई १९५०
३. एपिग्राफिया इण्डिका, २०, ४५

हर्षचरित[1] में दिया हुआ है। हर्ष, कुलोपचार करने के बाद, कपड़े पहनकर गद्दी पर बैठ गये। लोगों में इनाम बाँटने के बाद उन्होंने कैदियों को छोड़ देने की आज्ञा दी और जयजयकार के साथ सेना-सहित चल पड़े। सेना की कूच सरस्वती नदी के पास एक बड़े मन्दिर से शुरू हुई। वहाँ गाँव के महत्तर की प्रार्थना पर उन्होंने सेना को कूच करने का हुक्म दिया।

रात का तीसरा पहर बीतते ही कूच के नगाड़े बजने लगे। नगाड़े पर आठ चोटों से सेना को यह बता दिया गया कि उसे आठ कोस जाना था। नगाड़ों की गड़गड़ाहट के साथ ही अजीब गड़बड़ी मच गई। कर्मचारी उठा दिये गये और सेनापतियों ने पाटिपतियों को जगा दिया। हजारों मशालें जला दी गईं और सेनापति की कठोर आज्ञा से अश्वारोही आँख मलते हुए उठ बैठे। हाथीखानों में हाथी और घुड़साल में घोड़े जाग उठे। तम्बू-कनात खड़ा करनेवाले फर्राशों (गृहचिन्तक) ने रावटियाँ (पटकुटी), कनातें (काण्डपट), मण्डप और वितान लपेट लिये। मालखाने के अध्यक्षों ने थालियाँ, कटोरे और दूसरे सामान हाथियों पर लाद लिये। मोटी-ताजी कुटनियाँ बड़ी मुश्किल से चल रही थीं। ऊँट बलबला रहे थे। सम्भ्रान्त स्त्रियाँ गाड़ियों पर चल रही थीं और घोड़े पर चढ़ी हुई राजसेविकाओं के आगे पैदल सिपाही चल रहे थे। बहादुरों ने कूच करने के पहले अपने मस्तक पर तिलक कर लिये थे। बड़े-बड़े सेनापति खूब सजे-सजाये घोड़ों पर चल रहे थे। बीमारी से बचने के लिए घोड़ों के झुण्ड में बन्दर रख दिये गये थे। चलने के पहले स्त्रियों ने हाथियों पर चित्र खींच दिये थे। फौज के चलने के बाद कुछ बदमाशों ने पीछे बचा हुआ अनाज लूट लिया। गाड़ियों और बैलों पर नौकर चल रहे थे। व्यापारियों के बैल शोर-गुल से भड़क गये। लोग टाँगनों की तारीफ कर रहे थे। कहीं-कहीं खच्चर गिर पड़े।

कूच करने की घड़ी में बड़े सरदार हाथियों पर चढ़े थे तथा उनके साथ हथियार-बन्द घुड़सवार चल रहे थे। ठीक सूर्योदय के समय कूच का शंख बजा और राजा की सवारी एक हथिनी पर निकली। लोग भागने लगे। हथिनी आसावरदारों से घिरकर आगे बढ़ने लगी। राजा, लोगों के अभिवादन, हँसकर, सिर हिलाकर अथवा भ्रूक्षेप करके स्वीकार करने लगे।

उसके बाद बाजे बजने लगे और आगे-आगे चमर और छत्रों की भीड़ बढ़ी। लोग बात करने लगे—'बढ़ो बेटा, आगे।' 'अरे भाई, तुम पीछे क्यों पड़े हो?' 'लीजिए, भागनेवाला घोड़ा है।' 'क्यों तुम लँगड़े की तरह भचक रहे हो? देखते नहीं कि हरौल हमपर टूट रहा है। 'अरे निर्दय बदमाश, ऊँट क्यों बढ़ाये जा रहा है, देखता नहीं, एक लड़का पड़ा है।' 'दोस्त, रामिल, इस बात का ध्यान रखना कि कहीं धूल में गिर न जाओ।' 'अरे बेहूदे, देखता नहीं कि सत्तू का बोरा फट गया है? जल्दी क्या है, सीधे से चल।' 'अरे बैल, अपना रास्ता छोड़कर तू घोड़ों में घुसा जा रहा है।' 'अरे धीमरिन, क्या तू आ रही है?' 'अरे तेरी हथिनी हाथियों में घुसना चाहती है।' 'अरे, भारी बोरा एक तरफ झुक गया है। जिससे सत्तू गिर रहा है, फिर भी तू मेरा चिल्लाना नहीं सुनता।' 'तू खन्दक में चला जा रहा है, जरा ख्याल कर।' 'अरे खीरवाले, तेरा मेटा टूट गया है!' 'अरे काहिल, रास्ते में गन्ने चूसना।' 'चुप रह बैल।' 'अरे गुलाम, कितनी देर तक बेर चुनता रहेगा?' 'हमें बहुत रास्ता तै करना है। अरे द्रोणक, तू रुकता क्यों है? एक बदमाश के लिए पूरी फौज रुकी

---

1. हर्षचरित, पृ० २०३ से

हुई है।' 'अरे बुड्ढे, देख, आगे सड़क बड़ी ऊबड़-खाबड़ है, कहीं शक्कर का बरतन न तोड़ देना।' 'गंडक, अन्न की गहरी लदान है, बैल उसे ढो नहीं सकता।' 'अरे, जल्दी से बढ़कर खेत से थोड़ा चारा काट ले, हमारे जाने पर कौन पूछ करनेवाला है।' 'अरे भाई, अपने बैल दूर रख, खेत पर रखवारे हैं।' 'अरे, गाड़ी फँस गई; उसे निकालने के लिए एक मजबूत बैल जोत।' 'पागल, तू औरतों को कुचल रहा है! क्या तेरी आँखें फूट गई हैं?' 'अरे बदमाश महावत, तू क्यों मेरे हाथी की सूँड़ से खिलवाड़ कर रहा है।' 'अरे जंगली, कुचल दे उसे।' 'अरे भाई, तुम कीचड़ में फिसल रहे हो।' 'अरे दीनबन्धु, जरा बैल को कीचड़ से निकालने में मदद करो।' 'अरे लड़के, इस तरफ से चल, हाथियों के दल में से निकलने की गुञ्जाइश नहीं है।'

इधर शोहदे तो लश्कर का छोड़ा हुआ खाना उड़ा रहे थे, उधर बेचारे गरीब सामन्त बैलों पर चढ़े अपनी किस्मत को रो रहे थे। राजा के बरतन मजदूर ढो रहे थे। रसोईखाने के नौकर जानवर, चिड़िया, छाछ के बरतन और रसोईखाने के बरतन ढो रहे थे।

जिन देहातियों के खेतों से होकर फौज गुजरती थी, वे डर जाते थे। बेचारे दही, गुड़, खाँड़ और फूल लाकर अपने खेतों के बचाने की प्रार्थना करते थे और वहाँ के अधिकारियों की निन्दा अथवा स्तुति करते थे। कुछ राजा की बड़ाई करते थे तो कुछ अपनी जायदाद के नष्ट होने से डरते थे। हर्ष की सेना का चाहे जितना बल रहा हो, इसमें शक नहीं कि उसमें अनुशासन की कमी थी और शायद इसीलिए उसे पुलकेशिन द्वितीय से हार खानी पड़ी।

गुप्तयुग में चीन और भारत का सम्बन्ध पहले से भी अधिक दृढ़ हुआ। हमें पता है कि शायद चीन और भारत का सम्बन्ध ६१ ई० में आरम्भ हुआ जब हान राजा मिंग ने पश्चिम की ओर भारत से बौद्ध भिक्षु बुलाने के लिए दूत भेजे। धर्मरक्षित और कश्यप-मातंग भारत से अनेक ग्रन्थों के साथ आये और चीन में प्रथम विहार बना[1]।

दक्षिण-चीन का भारत के साथ सम्बन्ध तो शायद ईसा-पूर्व दूसरी सदी में ही हो चुका था। पर बाद में बौद्धधर्म के कारण यह सम्बन्ध और बढ़ा।

जैसा हम पहले देख आये हैं, हान-युग से, चीन से भारत की सड़कें मध्य-एशिया होकर गुजरती थीं। मध्य-एशिया में भारत और चीन, दोनों ने मिलकर एक नवीन सभ्यता को जन्म दिया। जिस प्रदेश में इस नवीन सभ्यता का विकास हुआ, उसके उत्तर में तियानशान, दक्षिण में कुनलुन्, पूर्व में नानशान् और पश्चिम में पामीर हैं। इन पर्वतों से नदियाँ निकलकर तकलामकान के रेगिस्तान की ओर जाती हुई धीरे-धीरे बालू में गायब हो जाती हैं। भारत के प्राचीन उपनिवेश इन्हीं नदियों के दूनों में बसे हुए थे। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, मध्य-एशिया में, कुषाण-युग में, बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। काश्मीर और उत्तर-पश्चिमी भारत के रहनेवाले भारतीय खोतान और काशगर की ओर बढ़े, और वहाँ छोटे-छोटे उपनिवेश बनाये जिनके वंशज अपने को भारतीय कहने में गर्व मानते थे और जिन्हें भारतीय सभ्यता का अभिमान था।

गुप्तयुग में, पहले की ही तरह, मध्य-एशिया का रास्ता काबुल नदी के साथ-साथ हिड्डा, नगरहार होता हुआ बाम्यान पहुँचता था। बाम्यान से रास्ता बलख चला जाता था, जैसा हम पहले देख आये हैं। यहाँ से एक रास्ता सुग्ध होता हुआ सीर दरिया पार करके ताशकन्द पहुँचता

---

1. बागची, इण्डिया ऐण्ड चाइना, पृ० ६-७, बम्बई, १९५०

थी और वहाँ से पश्चिम की ओर चलता हुआ तियानशान के दर्रों से होकर उचतुरफान पहुँचता था। दूसरा रास्ता बदख्शाँ और पामीर होते हुए काशगर पहुँचता था। भारत और काशगर का सबसे छोटा रास्ता सिन्धु नदी की ऊपरली घाटी में होकर है। यह रास्ता गिलगिट और यासीन नदी की घाटियों से होता हुआ ताशकुरगन पहुँचता है, जहाँ उससे दूसरा रास्ता आकर मिल जाता है। काशगर पहुँचकर मध्य-एशिया का रास्ता फिर दो शाखाओं में बँट जाता था। दक्खिनी रास्ता तारीम की द्रन के साथ-साथ चलता था। इस रास्ते पर काशगर, यारकन्द, खोतान और नीया के समृद्ध राज्य और बहुत-से छोटे-छोटे भारतीय उपनिवेश थे। यहाँ के बाशिन्दे अधिकतर ईरानी नस्ल के थे जिनमें भारतीयों का समावेश हो गया था। खोतान तो शायद अशोक के समय में ही भारतीय उपनिवेश बन चुका था। यहीं गोमती विहार नाम का मध्य-एशिया में सबसे बड़ा बौद्ध-विहार था जिसमें अनेक चीनी यात्री बौद्धधर्म की शिक्षा पाने आते थे। मध्य-एशिया के उत्तरी रास्ते पर उच-तुरफान के पास मरुक, कूची, अग्नि (काराशहर) और तुरफान पड़ते थे। कूची के प्राचीन शासकों के सुवर्णपुष्प, हरदेव, सुवर्णदेव इत्यादि भारतीय नाम थे। कूची भाषा भारोपीय भाषा की एक स्वतन्त्र शाखा थी।

मध्य-एशिया के उत्तरी और दक्षिणी मार्ग यशब के फाटक पर मिलते थे। उसी के कुछ ही पास तुनहुआग की प्रसिद्ध गुफाएँ थीं जहाँ चीन जानेवाले बौद्ध यात्री आकर ठहरते थे।

जिस समय भारतीय व्यापारी और बौद्ध भिक्षु अनेक कठिनाइयों को सहते हुए मध्य-एशिया से चीन पहुँच रहे थे, उसी युग में भारतीय नाविक मलय-एशिया के साथ अपना व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ा रहे थे। हम ऊपर देख आये हैं कि कुषाण युग में भारतीय व्यापारी सुवर्णभूमि में जाकर बसने लगे थे। गुप्तयुग में और अधिक संख्या में भारतीय मलय-एशिया और हिन्दचीन में जाने लगे।

ईसा की प्राथमिक शताब्दियों में भारतीय भूसंस्थापकों ने सुदूर-पूर्व में अनेक उपनिवेश स्थापित किये जिनमें फूनान, चम्पा और श्रीविजय मुख्य थे। फूनान में कम्बुज और स्याम के कुछ भाग आ जाते थे और उसकी स्थापना वहाँ की रानी से विवाह कर ब्राह्मण कौण्डिन्य ने की थी। ईसा की छठी सदी में फूनान को आधार मानकर भारत से नये आनेवाले भूसंस्थापकों ने कम्बुज की स्थापना की। अपने सुवर्ण-युग में कम्बुज में आधुनिक कम्बुज, स्याम और अगल-बगल की दूसरी रियासतों के भाग आ जाते थे।

ईसा-पूर्व दूसरी सदी में चम्पा, यानी, आधुनिक अनाम की भी नींव पड़ी। चम्पा का चीन के साथ, जल और स्थल, दोनों से ही सम्बन्ध था। कम्बुज और चम्पा, दोनों ही बहुत कालतक भारतीय संस्कृति के आभारी रहे। संस्कृत वहाँ की राजभाषा हो गई और ब्राह्मण-धर्म वहाँ का धर्म।

मलय-प्रायद्वीप के दक्षिण, समुद्र में, जावा तथा सुमात्रा के पूर्वी किनारे पर, श्रीविजय-राज्य इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुआ। श्रीविजय के विस्तृत राज्य में मलय प्रायद्वीप, जावा इत्यादि प्रदेश शामिल थे। हमें फाहियन से पता लगता है कि पाँचवीं सदी में यवद्वीप हिन्दू-धर्म का केन्द्र था। बौद्धधर्म वहाँ छठी सदी में चीन जानेवाले बौद्ध भिक्षुओं द्वारा लाया गया।

सातवीं सदी से, जावा का नाम हटकर श्रीविजय का नाम आ जाता है। श्रीविजय के राजाओं ने भारत और चीन के संग बराबर सम्बन्ध रखा। इत्सिंग से हमें पता लगता है कि श्री विजय में बौद्ध और ब्राह्मण-ग्रन्थों को पढ़ने का प्रबन्ध था।

चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण से हमें पता लगता है कि भारत से हिन्द-एशिया और चीन तक बराबर जहाज चलते रहते थे तथा इस मार्ग का बौद्ध यात्री और भारतीय व्यापारी, दोनों ही समानरूप से उपयोग करते थे। सातवीं सदी के मध्य में, जब मध्य-एशिया पर से चीन का अधिकार हट गया, तब, भारत के संग उसका सीधा सम्बन्ध केवल समुद्र-मार्ग से रह गया।

हमें बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि गुप्तयुग में भी भरुकच्छ, सुपारा और कल्याण (भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर) तथा ताम्रलिप्ति (पूर्वी तट पर) बड़े बन्दरगाह थे। कॉसमॉस इण्डिकोप्लाएस्टस अपने ग्रन्थ क्रिश्चियन टोपोग्रैफी[1] (छठी सदी) में बतलाते हैं कि उस युग में सिंहल समुद्री व्यापार का एक बड़ा भारी केन्द्र था और वहाँ ईरान और हब्श से जहाज आते थे तथा विदेशों को वहाँ से जहाज जाते थे। चीन और दूसरे बाजारों से वहाँ रेशमी कपड़े, अगर, चन्दन और दूसरी चीजें आती थीं जिन्हें सिंहल के व्यापारी मालाबार और कल्याण भेज देते थे। उस युग में कल्याण का बन्दरगाह ताँबा, तीसी और बहुत अच्छे कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था। सिंहल स जहाज सिन्धु के बन्दरगाह में जाते थे जहाँ कस्तूरी, एरण्डी और जटामासी का व्यापार होता था। सिन्ध से जहाज सीधे ईरानी, हिमयारी तथा अदुलिस के बन्दर में भी जाते थे। इन प्रदेशों की उपज सिंहल आती थी। कॉसमॉस ने निम्नलिखित बन्दरगाहों का उल्लेख किया है—सिन्दुस (सिन्धु), ओरोंहोथा (सौराष्ट्र), कलियाना (कल्याण), सिबोर (चौल) और माले (मालाबार)। उस समय के बड़े-बड़े बाजारों में पार्ती, मंगरोथ (मंगलोर), सलोपतन, नलोपतन और पौडुपतन थे, जहाँ से मिर्च बाहर भेजी जाती थी। भारत के पूर्वी समुद्रतट पर मरल्लो के बन्दरगाह से शंख बाहर जाते थे तथा कावेरीपट्टीनम् के बन्दरगाह से अलबाडेनम्। इसके बाद, लेखक लवंग-प्रदेश और चीन का उल्लेख करता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि गुप्तयुग में हिन्द-एशिया के लिए 'द्वीपान्तर' शब्द प्रचलित हो चुका था। ईशानगुरुदेवपद्धति से हमें पता लगता है कि भारतीय बन्दरगाहों में द्वीपान्तर के जहाज बराबर लगा करते थे।[2]

स्थल और जलमार्ग से बहुत व्यापार बढ़ जाने पर भी यात्रा की तो वही कठिनाइयाँ थीं, जैसी पहले। फाहियान, जिसने भारत की यात्रा ३९९ ई० से ४१४ ई० तक की, समुद्रयात्रा की कठिनाइयों का उल्लेख करता है[3]। सिंहल से फाहियान् ने एक बड़ा व्यापारी जहाज पकड़ा जिसपर दो सौ यात्री थे और जिसके साथ एक छोटा जहाज बँधा था कि किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण बड़े जहाज के नष्ट होने पर वह काम में आ सके। अनुकूल वायु में वे पूर्व की ओर दो दिनों तक चले; इसके बाद उन्हें एक तूफान का सामना करना पड़ा जिससे जहाज में पानी रसने लगा। व्यापारी दूसरे जहाज पर चढ़ने की आतुरता दिखाने लगे, लेकिन दूसरे जहाज के आदमियों ने, इस डर से कि कहीं दूसरे अपनी बड़ी संख्या से उन्हें दबोच न लें, फौरन अपने जहाज की लहासी काट दी। आसन्न मृत्युभय से व्यापारी भयभीत हो गये और इस डर से कि कहीं जहाज में पानी न भर जाय, वे अपने भारी माल को जल्दी से समुद्र में फेंकने लगे। फाहियान् ने भी अपना घड़ा, गड़ुआ, और जो भी कुछ हो सका, समुद्र में फेंक दिया,

१. मैक्क्रिण्डल, नोट्स फ्रॉम ऐन्शेन्ट इण्डिया, पृ० १६० से
२. मेमोरियल सिलवाँ लेवी, पृ० ३१२-३१७
३. गाइल्स, दी ट्रैवेल्स आफ् फाहियान्, केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२३

लेकिन उसे इस बात का भय था कि व्यापारी कहीं उसकी पुस्तकें और मूर्तियां न फेंक दें। इस भय से रक्षा पाने के लिए उसने कुआनयिन् पर अपना ध्यान लगाया और अपना जीवन चीन के बौद्धसंघ के हाथों में रखने का संकल्प करते हुए कहा—'मैंने धर्म के लिए ही इतनी दूर की यात्रा की है। अपनी प्रचण्ड शक्ति से, आशा है, आप मुझे यात्रा से सकुशल लौटा दें।'

तेरह रात और दिन तक हवा चलती रही। इसके बाद वे एक द्वीप के किनारे पहुँचे और वहाँ, भाटा के समय, उन्हें जहाज में उस जगह का पता लगा जहाँ से पानी रसता था। वह छेद फौरन बन्द कर दिया गया और उसके बाद जहाज पुनः यात्रा पर चल पड़ा।

"समुद्र जल-डाकुओं से भरा है और उनसे भेंट के मानी मृत्यु है। समुद्र इतना बड़ा है कि उसमें पूरब-पच्छिम का पता नहीं चलता; केवल सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गतिविधि देखकर जहाज आगे बढ़ता है। बरसाती मौसम की हवा में हमारा जहाज बह चला और अपना ठीक रास्ता न रख सका। रात के अँधियारे में, टकराती और आग की लपटों की तरह चकाचौंध करनेवाली लहरों, विशाल कछुओं, समुद्री गोहों और इसी तरह के भीषण जल-जन्तुओं के सिवा और कुछ नहीं दीख पड़ता था। वे कहाँ जा रहे हैं, इसका पता न लगने से व्यापारी पस्तहिम्मत हो गये। समुद्र की गहराई से जहाज को कोई ऐसी जगह भी न मिली जहाँ वह लंगर-शिला डालकर रुक सके। जब आकाश साफ हुआ तब उन्हें पूरब और पश्चिम का ज्ञान हुआ और जहाज पुनः ठीक रास्ते पर आ गया। इस बीच में अगर जहाज कहीं जलगत शिला से टकरा जाता तो किसी के बचने की सम्भावना नहीं थी।"

इस तरह यात्रा करते सब लोग जावा पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण-धर्म की उन्नति थी और बौद्धधर्म की अवनति। पाँच महीने वहाँ रहने के बाद, फाहियान एक दूसरे बड़े जहाज पर, जिसपर २०० यात्री भरे थे, सवार हुआ। सब लोगों ने अपने साथ पचास दिनों तक का सीधा-सामान ले लिया था।

कैण्टन पहुँचने के लिए जहाज का रुख उत्तर-पूरब में कर दिया गया। उस रास्ते पर चलते-चलते, एक रात उन्हें गहरे तूफान और पानी का सामना करना पड़ा। इसे देखकर घर लौटनेवाले व्यापारी बहुत डरे, लेकिन फाहियान ने फिर भी कुआनयिन् और चीन के भिक्षु-संघ की याद की और उन्होंने अपनी शक्ति का उसे बल दिया। इतने में सवेरा हो गया। जैसे ही रोशनी हुई कि ब्राह्मणों ने आपस में सलाह करके कहा—'जहाज पर इस श्रमण के कारण ही यह दुर्गति हुई है और हमें इस कठिनाई का सामना करना पड़ा है। हमें इस भिक्षु को किसी टापू पर उतार देना चाहिए। एक आदमी के लिए सबकी जान खतरे में डालना ठीक नहीं।' इसपर फाहियन के एक संरक्षक ने जवाब दिया—'अगर आप इस भिक्षु को किनारे उतार देना चाहते हैं तो मुझे भी आपको उसके साथ उतारना होगा, अगर आप ऐसा नहीं करना चाहते तो मेरी जान ले सकते हैं, क्योंकि, मान लीजिए, आपने इन्हें उतार दिया, तो मैं चीन पहुँचकर इसकी खबर वहाँ के बौद्ध राजा को दूँगा।' इसपर ब्राह्मण घबराये और फाहियान को उसी समय उतार देने की उन्हें हिम्मत नहीं पड़ी। इसी बीच में आकाश में अँधेरा छाने लगा और नियामक को दिशाज्ञान भूल गया। इस तरह वे सत्तर दिनों तक बहते रहे। सीधा-सामान और पानी समाप्त हो गया। खाना बनाने के लिए भी समुद्र का पानी लेना पड़ता था। मीठा पानी आपस में बाँट लिया गया और हर मुसाफिर के हिस्से में केवल दो पाइण्ट पानी आया। जब सब खाना-पानी समाप्त हो गया तब व्यापारियों ने आपस में सलाह की—'कैण्टन की यात्रा

का साधारण समय पचास दिन का है, हम इस अवधि के ऊपर बहुत दिन बिता चुके हैं। ऐसा पता चलता है कि हम रास्ते के बाहर चले गये हैं।' इसके बाद उन्होंने उत्तर-पश्चिम का रुख किया और बारह दिनों के बाद शानतुंग अन्तरीप के दक्षिण में पहुँच गये। वहाँ उन्हें ताजा पानी और सब्जियाँ मिलीं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, गुप्तयुग और उसके बाद भी भारतीय संस्कृति का मध्य-एशिया और चीन में प्रसार करने का मुख्य श्रेय बौद्ध भिक्षुओं को था। सौभाग्यवश, चीनी भाषा के त्रिपिटक से ऐसे भिक्षुओं के चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है जिससे पता लगता है कि उनका उत्साह धर्म-प्रसार में अकथनीय था। कोई कठिनाई उन्हें आगे बढ़ने से रोक नहीं सकती थी। इनमें से कुछ प्रधान भिक्षुओं के पर्यटन के बारे में हम कुछ कह देना चाहते हैं।

गुप्तयुग में धर्मयशस् एक कश्मीरी बौद्ध भिक्षु, मध्य-एशिया के रास्ते, ३९७ से ४०१ के बीच, चीन पहुँचे। तमाम चीन की सैर करते हुए उन्होंने बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थ चीनी में अनुवाद किये। पुष्यत्रात नाम के एक दूसरे बौद्ध भिक्षु ३९८ और ४१५ के बीच चीन पहुँचे और अनेक बौद्ध ग्रन्थों का उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया[१]।

गुप्तयुग में भारत से चीन जानेवालों में कुमारजीव का विशेष स्थान था। इनके पिता कुमारदत्त, कश्मीर से कूचा पहुँचे और वहाँ के राजा की बहन से विवाह कर लिया। इसी माता से कुमारजीव का जन्म हुआ। नौ वर्ष की अवस्था में, वे अपनी माता के साथ कश्मीर आये और वहाँ बौद्ध-साहित्य का अध्ययन किया। कश्मीर में तीन वर्ष रहने के बाद कुमारजीव अपनी माता के साथ काशगर पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद, वे तुरफान पहुँचे। ३८३ ई० में कूचा चीनियों के अधिकार में आ गया और कुमारजीव बन्दी बनाकर लागचाउ लाये गये। वहीं वे लीकुआग के साथ ३९८ ई० तक रहे। बाद में, वे चागतागू चले गये और वहीं उनकी मृत्यु हुई[२]।

एक दूसरे बौद्ध भिक्षु, बुद्धयशस्, घूमते-घामते कश्मीर से काशगर पहुँचे जहाँ उन्होंने कुमारजीव को विनय पढ़ाया। कूचा की विजय के बाद वे काशगर से कहीं चले गये और, दस बरस बाद, फिर कूचा पहुँचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि कुमारजीव कूत्साग में हैं। वे उनसे मिलने के लिए रात ही को निकल पड़े और रेगिस्तान पार करके कूत्साग पहुँचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि कुमारजीव चागगान् चले गये। ४१३ ई० में वे कश्मीर लौट आये[३]।

गौतम प्रज्ञारुचि बनारस के रहनेवाले थे। वे, मध्य-एशिया के रास्ते, ५१६ ई० में लोयग् पहुँचे। उन्होंने ५३८ और ५७३ ई० के बीच बहुत-से ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया[४]। उपशून्य उज्जैन के राजा के पुत्र थे। वे ५४६ ई० में दक्षिण-चीन पहुँचे। किग्लिंग् में उन्होंने चीनी भाषा में कई ग्रन्थ अनुवाद किये। ५४८ ई० में वे खोतन पहुँचे[५]।

जिनगुप्त गन्धार के निवासी थे और पुरुषपुर में रहते थे। बौद्धधर्म का अध्ययन करने के बाद, सत्ताईस वर्ष की उम्र में, वे अपने गुरु के साथ बौद्धधर्म का प्रचार करने निकल

१. सी० सी० बागची, ल कैनों बुधीक आं चीन १, पृ० १७४-१७७
२. वही, पृ० १७८-१८५
३. वही, पृ० २००-२०३
४. वही, पृ० २६१
५. वही, पृ० २६२-२६६

पड़े। कपिश में एक साल रहने के बाद, वे हिन्दूकुश के पश्चिम पाद को पार करके श्वेतहूणों के राज्य में पहुँचे और वहाँ से ताशकुरगन होते हुए खोतान पहुँचे। यहाँ कुछ दिन ठहरकर वे चांग्चाउ (सिनिंगफ़ासू) पहुँचे। रास्ते में जिनगुप्त को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं और उनके साथियों में से अधिकतर भूख-प्यास से मर गये। ५५६-५६० में वे चाग्गान् पहुँचे जहाँ रहकर उन्होंने अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। बाद में वे उत्तर-पश्चिमी भारत को लौट आये और दस बरस तक वे कागान तुर्कों के साथ रहे। ५०५ ई० में वे पुन चीन लौट गये[१]।

बुद्धभद्र कपिलवस्तु के रहनेवाले थे। तीस वर्ष की अवस्था में, बौद्धधर्म का पूरा ज्ञान प्राप्त करके, उन्होंने अपने साथी संघदत्त के साथ यात्रा करने की सोची। कुछ दिन कश्मीर में रहने के बाद, वे संघ द्वारा चीन जाने के लिए चुने गये। फाहियान के साथी चेयेन् के साथ वे घूमते-घामते पामीर के रास्ते से चीन में पहुँचे। उनकी जीवनी में इस बात का उल्लेख है कि वे ताग्किंग् पहुँचे थे। शायद वे आसाम तथा ईरावदी की ऊपरली घाटी और यूनान के रास्ते वहाँ पहुँचे होंगे। जो भी हो, ताग्किंग् से उन्होंने चीन के लिए जहाज पकड़ा। राजा से अनबन होने के कारण, उन्हें दक्षिण-चीन छोड़ देना पड़ा। यहाँ से वे पश्चिम में कियांगलिन् पहुँचे, जहाँ उनकी युवानचाउ (४२०-४२२) से भेंट हुई और उसके निमन्त्रण पर वे नानकिंग् पहुँचे[२]।

गुप्तयुग के यात्रियों में गुणवर्मन् का विशेष स्थान था। वे कश्मीर के राजवंश के थे। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने शील ग्रहण किया। जब वे तीस वर्ष के थे, उन्हें कश्मीर का राज्यपद देने की बात आई। पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। वे राज्य छोड़कर बहुत दिनों तक इधर-उधर घूमते रहे, पर अन्त में, लंका पहुँचकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। लंका से वे जावा पहुँचे और वहाँ के राजा को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। गुणवर्मन् की ख्याति चारों ओर बढ़ने लगी। ४२४ ई० में उन्हें चीन-सम्राट् का बुलावा आया, पर गुणवर्मन् की इच्छा चीन जाने की नहीं थी। वे भारतीय सार्थवाह नन्दि के जहाज पर एक छोटे-से देश को जाने के लिए तैयार हो चुके थे। लेकिन जहाज बहककर कैण्टन पहुँच गया और, इस तरह, ४३१ ई० में, चीनी सम्राट् से उनकी भेंट हुई। कियेनये के जेतवन-विहार में ठहरकर उन्होंने बहुत-से ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया[३]।

धर्ममित्र कश्मीर के रहनेवाले थे और उन्होंने बहुत-से बड़े-बड़े बौद्ध भिक्षुओं से शिक्षा पाई थी। वे बड़े भारी घुमक्कड़ भी थे। पहले वे कुछ दिनों तक कूचा जाकर रहे, फिर वहाँ से तुन्हुआग् पहुँचे। ४२४ ई० में उन्होंने में दक्षिण चीन की यात्रा की। उनकी मृत्यु ४४७ ई० में हुई[४]।

नरेंद्रयशस् उड्डीयान के रहनेवाले थे। बचपन में उन्होंने घर छोड़कर सम्पूर्ण भारत की यात्रा की। बाद में अपने घर लौटकर, वे हिन्दकुश पार करके मध्य-एशिया में पहुँचे। उस समय

---

१. वही, पृ० २७६-२७८

२. वही, पृ० ३४१-३४३

३. वही, पृ० ३७०-३७२

४. वही, पृ० ३८८-३८९

तुर्कों और अवरेसों की लड़ाई हो रही थी जिसमें तुका ने अवरेसों को समाप्त कर दिया। इनकी मृत्यु ५८६ ई० में हुई[1]।

धर्मगुप्त लाट देश के रहनेवाले थे। तेईस वर्ष की अवस्था में वे कन्नौज के कौमुदी संघाराम में रहते थे। इसके बाद, वे पाँच साल तक टक्क देश के देव-विहार में रहे। वहाँ से चीन-यात्रा के लिए वे कपिश पहुँचे और वहाँ दो बरस तक रहे। वहाँ उन्होंने सार्थों से चीन में बौद्ध-धर्म के फलने-फूलने की बात सुनी। हिन्दूकुश के पश्चिमी पाद की यात्रा करते हुए उन्होंने बदख्शाँ और वखाँ की यात्रा की। इसके बाद ताशकुरगन में एक साल रहकर वे काशगर पहुँचे और वहाँ दो साल रहकर कूचा पहुँचे। वहाँ कई साल रहकर वे किया चाऊ जाते समय, रेगिस्तान में, ६१६ में, बिना पानी के मर गये[2]।

नन्दी मध्य-देश के रहनेवाले एक बौद्ध भिक्षु थे। वे सिंहल में कुछ काल तक ठहरे थे और दक्षिण-समुद्र के देशों की यात्रा करके उन्होंने वहाँ के रहनेवालों के साहित्य और रीति-रिवाजों का अध्ययन किया था। ६५५ ई० में वे चीन पहुँचे। ६५६ में चीनी सम्राट् ने उन्हें दक्षिण-समुद्र के देशों में जड़ी-बूटियों की खोज के लिए भेजा। वे ६६३ ई० में पुनः चीन लौट आये[3]।

बौद्ध भिक्षुओं के यात्रा विवरणों से, कहीं-कहीं, उन कठिनाइयों का पता चलता है जो यात्रियों को उन निर्जल रेगिस्तानों में उठानी पड़ती थीं। ऐसा ही एक वर्णन हमें फाहियान के यात्रा-विवरण में मिलता है। फाहियान की यात्रा का आरम्भ ३६६ ईसवी में चागन (शेंसे के सेगन जिला) से हुआ। चाङ्गन से फाहियान अपने साथियों के साथ लुंग् (पश्चिमी शेंसे) पहुँचे और वहाँ से चाङ्यिह (कांसे का कौंचाव जिला)। वहाँ उन्हें पता लगा कि रास्ते में बड़ी गड़बड़ी है। वहाँ कुछ दिन रहकर वे तुनहुआँग (शाचु, जिला कांसे) पहुँचे। तुनहुआँग के हाकिम ने उन्हें रेगिस्तान पार करने के साधनों से लैस कर दिया। यात्रियों का यह विश्वास था कि रेगिस्तान भूत-प्रेतों का अड्डा है और वहाँ गरम हवा बहती है। इन उत्पातों का सामना होने पर यात्रियों की मृत्यु निश्चित थी। रेगिस्तान में थलचरों और नभचरों का पता भी नहीं था। बहुत गौर करने पर भी यह पता नहीं चलता था कि रेगिस्तान किस जगह पार किया जाय। रास्ते का पता बालू पर पड़ी पशुओं और मनुष्यों की सूखी हड्डी से चलता था[4]। इस भयंकर रेगिस्तान को पार करके फाहियान और उसके साथी शेन्शेन् (लोपनोर) पहुँचे और वहाँ से, पन्द्रह दिन बाद, वूती (काराशहर) पहुँचे। वहाँ से खोतन पहुँचकर वे गोमती-विहार में ठहरे और वहाँ की प्रसिद्ध रथ-यात्रा देखी। वहाँ से फाहियान यारकन्द होते हुए स्कर्दू के रास्ते लदाख पहुँचे। वहाँ से सिन्धु नदी के साथ-साथ वे उड्डीयान और स्वात होते हुए पुरुषपुर पहुँचे और वहाँ से तक्षशिला। वहाँ से उन्होंने नगरहार की यात्रा की। रोह प्रदेश में कुछ दिन ठहरने के बाद वे बन्नू पहुँचे। बन्नू से, राजपथ द्वारा, वे मथुरा पहुँचे। वहाँ से, संकास्य होकर, कान्यकुब्ज में गंगा पार करके वे साकेत पहुँचे और फिर वहाँ से श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र,

१. वही, ४४२-४४३

२. वही, ४४४-४४५

३. वही, पृ० ५०० ५०२

४. जेम्स लेगे, ट्रैवल्स ऑफ फाहियान, पृ० १८, ऑक्सफोर्ड, १८८६

राजगृह, गया और वाराणसी की यात्रा की। तीर्थयात्रा समाप्त करने के बाद फाहियान तीन साल तक पाटलिपुत्र में रहे। इसके बाद वे चम्पा पहुँचे और वहाँ से गंगा के साथ-साथ ताम्रलिप्ति पहुँचे। वहाँ से एक बड़े जहाज पर चढ़कर, पन्द्रह दिन में, वे सिंहल पहुँचे[1]। वहाँ सबा के अरब-यात्रियों से उनकी भेंट हुई[2]।

---

१. वही, पृ० १००
२. वही, पृ० १०१

ग्यारहवाँ अध्याय

यात्री और व्यापारी

(सातवीं से ग्यारहवीं सदी तक)

हर्ष की मृत्यु के बाद देश में बड़े-बड़े साम्राज्यों का समय समाप्तप्राय हो गया और देश में चारों ओर अराजकता फैल गई। कन्नौज ने पुन: सिर उठाने की कोशिश की, पर कश्मीर के राजाओं ने उनकी एक न चलने दी। इसके बाद देश की सत्ता पर अधिकार करने के लिए बंगाल और बिहार के पालों, मालवा और पश्चिम-भारत के गुर्जर प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों में गंगा-यमुना की घाटियों के लिए लड़ाई होने लगी। करीब आधी सदी के लड़ाई-झगड़े के बाद, जिसमें कभी विजयलक्ष्मी एक के हाथ आती थी तो कभी दूसरे के, अन्त में उसने गुर्जर प्रतिहारों को ही वर लिया। ८३६ ई० के पूर्व उन्होंने कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया और अपने इतिहास-प्रसिद्ध राजा भोज और महेन्द्रपाल की वजह से वे पुन उत्तर-भारत में एक बड़ा साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए। इन दोनों राजाओं का अधिकार करनाल से बिहार तक और काठियावाड़ से उत्तर बंगाल तक फैला हुआ था। इस साम्राज्य की प्रतिष्ठा से सिन्ध के मुस्लिम-साम्राज्य को बहुत बड़ा धक्का लगा और इसीलिए गुर्जर प्रतिहार इस्लाम के सबसे बड़े शत्रु माने जाने लगे। अगर इन अरबों को दक्षिण के राष्ट्रकूटों की सहायता न मिली होती तो शायद सिन्ध का अरब-साम्राज्य कभी का समाप्त हो गया होता।

अब हमें सातवीं सदी के मध्य के बाद से भारत के इतिहास पर एक सिंहावलोकन कर लेना चाहिए। हर्ष की मृत्यु के समय के राज्यों का पता हमें युवानच्वाङ् के अध्ययन से लगता है। उत्तर-पश्चिम में कपिश की सीमा में काबुल नदी की घाटी तथा हिन्दूकुश से सिन्धु तक का प्रदेश शामिल था। इस राज्य की सीमा सिन्धु नदी के दाहिने किनारे से होती हुई सिन्ध तक पहुँचती थी और उसमें पेशावर, कोहाट, बन्नू, डेरा इस्माइल खाँ और डेरा गाजी खाँ शामिल थे। कपिश के पश्चिम की ओर जागुड पड़ता था जहाँ से केसर आती थी। इस जागुड की पहचान अरब भौगोलिकों के जाबुल से की जा सकती है। कपिश के उत्तर में ओपियान् था। पर लगता है कि कपिश का अधिकतर भाग सरदारों के अधीन था। कपिश का सीधा अधिकार तो काबुल से लेकर उदभाण्ड के मार्ग तक, कपिश से अरखोसिया के मार्ग तक, और जागुड से निचले पंजाब के मार्ग तक था।

कपिश के पश्चिम में गोर पड़ता था। उत्तर-पश्चिम में कोहबाबा और हिन्दूकुश की पर्वत-शृंखलाएँ बाम्यान तथा तुर्क-साम्राज्य के दक्षिणी भाग को अलग करती थीं। उसके उत्तर में लम्पक से सिन्धु नदी तक काफिरिस्तान पड़ता था। नदी के बाएँ किनारे पर कश्मीर के दो सामन्त-राज्य उरशा और सिंहपुर पड़ते थे। सिंहपुर से टक्कराज्य शुरू होता था जो व्यास से सिंहपुर और स्यालकोट से मूलस्थानपुर तक फैला हुआ था। दक्खिन में सिन्ध के तीन भाग थे जिसमें आखिरी भाग समुद्र पर फैला हुआ था। इसका शासक मिहिरकुल का एक वंशज था।

अपनी यात्रा में युवानच्वांग् ने सिन्ध की सैर तो की ही, साथ-ही-साथ वह दक्षिणी बलूचिस्तान में हिंगोल नदी तक गया। यह भाग ससानियों के अधिकार में था, पर इतना होते हुए भी ईरान और कपिश के राज्य एक दूसरे से, एक जगह के सिवा, जहाँ बलख को कन्धार का रास्ता दोनों देशों की सीमा छूता था, नहीं मिलते थे। इस प्रदेश में दोनों देशों की चौकियाँ रहती थीं। इस जगह के सिवा ईरान, अफ़गानिस्तान और कपिश के बीच में किसी का प्रदेश नहीं था। पश्चिम में एक ओर गोरिस्तान और गर्जिस्तान, सीस्तान और हेरात तथा दूसरी ओर जागुड पड़ते थे। दक्षिण-पूर्व की ओर किरन्दरों का देश था जिसका नाम युवानच्वाङ्‌ की-किआङ्‌ना बतलाता है, जो अरब भौगोलिकों काकान है। ब्राहूइयों का यह देश बोलान के दक्षिण तक फैला हुआ है।[1]

उपर्युक्त भौगोलिक छानबीन से यह पता लग जाता है कि श्वेत हूणों के साम्राज्य का कौन-सा भाग याज्दीगिर्द के साम्राज्य में गया और कौन-सा हर्षवर्धन के। इससे हमें यह भी पता लगता है कि सातवीं सदी का भारत सिन्धु नदी के दक्षिणी किनारे से ईरानी पठार तक फैला हुआ था। इस देश की प्राचीन सीमा लम्पक से आरम्भ होकर कपिश को दो भागों में बाँट देती थी। पश्चिम में ग़ज़िस्थान और जागुड छूट जाते थे। सीमा हिंगोल तक पहुँच जाती थी।

भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा का यह राजनीतिक नक्शा आगंतुक घटनाओं की ओर भी इशारा करता है। युवानच्वाङ्‌ के पहले अध्याय से पता चलता है कि ईरानी राज्य प्राचीन तुखारिस्तान के पश्चिम मुर्गाब से सटकर चलता था। उसके ग्यारहवें अध्याय में रोमन-साम्राज्य की स्थिति ईरान के उत्तर-पश्चिम मानी गई है। इन दोनों में बराबर लड़ाई होती रहती थी और अन्त में दोनों ही अरबों द्वारा हराये गये। हमें यह भी पता लगता है कि उस समय सासानी बलूचिस्तान, कन्धार, सीस्तान और दंगियाना के कब्जे में थे। अरब सेना ने इस प्रदेश को जीतने के लिए कौन-सा रास्ता लिया इसे इतिहासकार निश्चित नहीं कर सके हैं। इस सम्बन्ध में एक समस्या यह है कि सिन्ध और मुलतान लेने के बाद मुसलमानों को उस प्रदेश से सटे पंजाब के ऊँचे प्रदेश को लेने में तीन सौ वर्ष क्यों लग गये। श्री फूशे के अनुसार, इसका कारण यह है कि कारमानिया से बलूचिस्तान होकर सिन्ध का रास्ता कादिसिया (ई० ६३६) और निहावन्द की लड़ाइयों के बाद मुसलमानों के हाथों में आ गया था, पर कपिश से कन्धार तक के उत्तर से दक्खिन और उत्तर से पश्चिम के राजमार्ग उनके अधिकार में नहीं आये थे। ईरानियों के हाथ से निकलकर भी उनका कब्जा ऐसे हाथों में पड़ गया था जो उनकी पूरी तौर से रक्षा कर सकते थे।

ऐतिहासिकों को इस बात का पूरा पता है कि मुसलमानों ने किस फुर्ती के साथ एशिया और अफ्रिका जीत लिये। बाइजेंटिनों और ईरानियों की लड़ाइयों में कमजोर होकर सासानी एक ही झटके में समाप्त हो गये। करीब ६५२ में याज्दीगिर्द तृतीय उसी रास्ते से भागा, जिससे हखामनी दारा भागते हुए मर्व में मारा गया था। अरब आगे बढ़ते हुए बलख पहुँच गये और इस तरह भारत और चीन का स्थलमार्ग से सम्बन्ध कट गया। देखने से तो यह पता लगता है कि भारत-ईरानी प्रदेश अरबों के अधिकार में चला गया था, पर ताज्जुब की बात है कि काबुल का पतन ८७१ में और पेशावर का पतन १००६ ई० में हुआ। ७५१ और ७६४ के बीच में

---

1 फूशे, वही, पृ० २१२ से

यूकोंग की कन्धार-यात्रा से तो ऐसा पता चलता है कि जैसे कुछ हुआ ही न हो। यह भी पता चलता है कि इस सदी में मध्य-एशिया पर चीनियों का पूरा अधिकार था।

जिस समय अरब भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर विजय कर रहे थे, उसके भी पहले, ६३६ ई० में, अरबों के बेड़े ने भड़ोच और थाना पर आक्रमण कर दिया था। यह आक्रमण जल और स्थल, दोनों ही ओर से हुआ, पर इसका कोई विशेष नतीजा नहीं निकला। सिन्ध के सूबेदार जुनैद ने ७२४-४३ ई० के बीच काठियावाड़ और गुजरात पर धावे मारे, पर अवनिजनाश्रय पुलकेशिन् ने, जैसा कि नौसारी ताम्रपट्ट (७३८-३६) से पता चलता है, उसकी एक न चलने दी। अरबों की यह सेना सिन्ध, कच्छ, सौराष्ट्र, चावोटक और गुर्जर देश पर धावा करके, लगता है, नवसारी तक आई थी। सिन्ध से यह धावा कच्छ कीरन से होकर हुआ होगा। गुर्जर प्रतिहार भोज प्रथम ने, करीब ७५५ में, शायद इन्हीं म्लेच्छों को हराया था। वलभी का पतन भी इन्हीं अरबों के धावे का नतीजा था। पर, लाख सिर मारने पर भी, इन धावों का विशेष असर नहीं हुआ, और इसका कारण गुर्जर प्रतिहारों की वीरता ही थी। अगर राष्ट्रकूट अरबों की मदद न करते तो शायद उनका सिन्ध में टिकना भी मुश्किल हो गया होता।

धर्म और केन्द्रीकरण में द्वैधीभाव से ससानी फौज अरबों के सामने गिर गये। इसके विपरीत, हिन्दू अपने देशत्व और विकेन्द्रीकरण की वजह से काफी दिनों तक टिके रह गये। अरबों की उद्दीप्त वीरता भी उन्हें जीत देनी थी। पर अरबों की यह वीरता बहुत दिनों तक नहीं चली, भारत की विजय तो इस्लामी मजहब माननेवाले तुर्कों और अफगानों द्वारा हुई। पर ऐसा होने में कुछ समय लगा। ऐसा लगता है कि जब उत्तर-पश्चिम भारत के शूर कबीलों का जोर टूट चुका तब विजेताओं का आगे बढ़ना सरल हो गया। फिर भी, अरबों के इस देश में कदम रखने के पाँच सौ बरस बाद ही, १२०६ ई० में, कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली के तख्त पर बैठ सका और, उसके भी सौ बरस बाद, अलाउद्दीन अधिकांश भारत का सुलतान बन सका।

मध्य-एशिया में चीन ने ६३० में दक्षिणी तुर्की-साम्राज्य और ६५६ में उसका पूर्वी भाग जीत लिया, पर चीनियों का यह ढीला-ढाला साम्राज्य अरबों का मुकाबिला नहीं कर सकता था। करीब ७०५ में अरबों ने परिवक्षु प्रदेश जीत लिया। जिस समय उत्तर में यह घटना घट रही थी, उसी समय अफगानिस्तान में भी ऐसी ही घटना घटी। सीस्तान, कन्धार, बलूचिस्तान और मकरान पर धावे मार-मार करके थक चुके थे। ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिकन्दर का रास्ता पकड़ा और पूरे सिन्ध की घाटी को जीत लेने की ठान ली। उसकी इच्छा पूरी तो नहीं हो सकी; पर मुसलमान सिन्ध और मुलतान में पूरी तरह से जम गये। उस समय अफगानिस्तान का ऊँचा पठार दो सँड़सी के बाजुओं के बीच में आ गया था, पर मुहम्मद कासिम के पतन और मृत्यु ने काबुल के शाहियों को बचा दिया, क्योंकि मुहम्मद कासिम अपने भारतीय प्रदेश और खुरासान से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका था। भारत के महामार्ग का जीतने में मुसलमानों को ३५० वर्ष (ई० ६४४ से १०२२) लग गये।

६५२ ईसवी में ससानियों के पतन के बाद, ६५६ में, तुर्कों को चीनियों से काफी नुकसान उठाना पड़ा।[1] जिस समय मुसलमानों के धावे शुरू हुए, उस समय तुखारिस्तान, कुन्दुज और काबुल तुर्कों के हाथ में थे। तुर्कों द्वारा चीनी दरबार को लिखे गये ७१८ ई० के पत्र से पता

---

१. राय, डायनास्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, १, पृ० ६ से

लगता है कि उनका साम्राज्य ताशक़ुरगन से जाबुलिस्तान तक और मुरगाव से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उसी तुर्क राजा के लड़के के ७२७ ई० में लिखे एक पत्र से पता लगता है कि उसका बाप अरबों का कैदी हो चुका था, पर चीनी सम्राट् ने उसकी बात अनसुनी कर दी। कपिश की भी वही दशा हुई। ६६४ ई० में वह अरबों का करद राज्य हो गया। ६८२ में, अरबों को कपिश के धावे में मुँह की खानी पड़ी। आठवीं सदी के पहले भाग में कपिश चीनी साम्राज्य के अधीन था। पर ७५१ ई० में चीनी गुब्बारा फट गया, फिर भी, ओमाइयाद और अब्बासी लोगों के गृहकलह के कारण तथा खुरासान के स्वतन्त्र होने के कारण, उत्तर-पश्चिम भारत को शान्ति मिलती रही।

७५१ ई० में चीनियों का प्रभुत्व अपने पश्चिमी साम्राज्य पर से जाता रहा। उसी साल सम्राट् ने वूकुंग नामक एक छोटे मण्डारिन को कपिशा के राजदूत को अपने साथ लाने को कहा। पर यह दूतमण्डल परिवंक्षु प्रदेश का रास्ता लेने में डरता था। इसलिए, उसने खोतान और गन्धार के बीच का मुश्किल रास्ता पकड़ा। गन्धार में पहुँचकर वूकुंग् बीमार पड़ गया। इसके बाद भारत में बौद्ध-तीर्थों की यात्रा करते हुए, चालीस बरस बाद, वह अपने देश को लौटा। उसके अनुसार, कपिश और गन्धार के तुर्क राजकुमार अपने को कनिष्क का वंशधर मानते थे और वे बराबर बौद्ध-विहारों की देख-रेख करते रहते थे। ललितादित्य के अधिकार में कश्मीर की भी बड़ी उन्नति हो चुकी थी। तीन-चार पुश्तों तक तो कोई विशेष घटना नहीं घटी; लेकिन, एकाएक, ८७०—८७१ में, खुरासान का सूबेदार बनने के बाद ही याकूब ने बाम्यान, काबुल और अरखोसिया जीत लिये। याकूब की सेना हिरात और बलख की राजधानियों को कब्जे में करके दक्षिण में सीस्तान की ओर झुकी और इस तरह मुसलमानों का भविष्य की विजय का रास्ता खुल गया।

मुसलमान इतिहासकारों का एकस्वर से कहना है कि उस समय काबुल में शाही राज्य कर रहे थे। उनकी यह राय प्रायः सभी इतिहासकारों ने मान ली है। पर, श्री फूशे की राय में, इस प्रदेश की राजधानी कापिशी थी, काबुल नहीं। अरब इतिहासकार कापिशी का जो ७९२-९३ ई० में लूट ली गई थी, उल्लेख नहीं करते। इस घटना के बाद, लगता है, शहर दक्खिन की ओर काबुल में चला गया था और शायद इसीलिए मुसलमान इतिहासकार, काबुल के शाहियों का नाम लेते हैं।

कापिशी से राजधानी हटाकर काबुल ले जाने की घटना ७९३ ई० के बाद घटी होगी। शेवकी और कमरी के गाँवों के पास यह पुराना काबुल ८७१ ई० में याकूब ने जीत लिया। मुसलमानों ने जिस तरह सिंध में मंसूरा में नई राजधानी बनाई, उसी तरह उन्होंने काबुल में भी अपना काबुल बसाया। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि उन्हें हिन्दुओं के पुराने नगरों में बुतपरस्ती नजर आती थी। इस्ताखरी के अनुसार, काबुल के मुसलमान बालाहिसार के किले में रहते थे और हिन्दू उपनगर में बसे हुए थे। हिन्दू व्यापारियों और कारीगरों के धीरे-धीरे मुसलमान हो जाने पर, नवीं सदी के अन्त तक, काबुल एक बड़ा शहर हो गया। फिर भी, २५० साल तक, इसका गौरव गजनी के आगे धीमा पड़ता था। पर, ११५० में गजनी के नष्ट हो जाने पर, काबुल की महिमा बढ़ गई।

काबुल नदी की निचली घाटी और तक्षशिला प्रदेश को जीतने में मुसलमानों को लगभग २५० वर्ष लगे। ८७२ से १०२२ ईसवी तक, लगमान से गन्धार तक काबुल की घाटी और

उत्तर पंजाब भारतीय राजाओं के अधिकार में थे जो अपनी स्वतंत्रता के लिए बराबर लड़ा-भिड़ा करते थे। अन्तिम शाही राजा, जिसका नाम अलबेरुनी लगतुरमान देता है, अपने मन्त्री लल्लिय द्वारा पदच्युत कर दिया गया। राजतरंगिणी से ऐसा पता लगता है कि यह घटना याकूब के आक्रमण के पहले घटी, क्योंकि काबुल में याकूब के हाथ केवल एक फौजदार लगा। प्राय लोग ऐसा समझ लेते हैं कि काबुल के पतन के बाद ही उसके बाद के प्रदेश का भी पतन हो गया और इसीलिए शायद हिन्दू राजे न तो काबुल में अपने मन्दिरों में दर्शन कर सकते थे और न तो वे लोग नदी में अभिषेक या स्नान ही कर सकते थे। प्राचीन समय की तरह, पेशावर उनकी जाड़े की राजधानी नहीं रह गया थी। वे वहाँ से हटकर उदभाण्डपुर में अपने राज्य की रक्षा के लिए चले आये थे। इस बड़े साम्राज्य के होते हुए भी बिना कोहिस्तान और काबुल के हिन्दूशाहियों का पतन अवश्यम्भावी था, पर मुसलमानों के साथ इस असमान युद्ध में उन्होंने बड़ी वीरता दिखलाई और लड़ते-लड़ते ही उनका अन्त हो गया। अलबेरुनी और राजतरंगिणी का कहना है कि उनके पतन के बाद उत्तर-पश्चिमी भारत का दरवाजा उसी तरह खुल गया, जिस तरह पृथ्वीराज के पतन के बाद उत्तरभारत का।

पर, शाहियों के शत्रु—मुसलमानों की हम उतनी प्रशंसा नहीं कर सकते। उनसे प्रतिद्वन्द्वी मुसलमान गुलाम तुर्क थे। इन सेल्जुक तुर्कों ने न केवल एशिया-माइनर को ही जीता; वरन् उनके धावों से यूरप भी तंग आ गया और वहाँ से क्रूसेड चलने लगे। बुखारा के एक अमीर द्वारा देशच्युत होने पर अलप्तगीन ने गजनी में शरण ग्रहण की। इसके बाद सुबुक्तगीन हुआ जिसके पुत्र महमूद ने भारत पर लूट-पाट के लिए बहुत-से धावे किये। ९९७ और १०३० ई० के बीच, उसने भारत पर सत्रह धावे मारकर कांगड़ा से सोमनाथ, और मथुरा से कन्नौज तक की भूमि को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बहुत-सा धन इकट्ठा करने के बाद भी वह लालची बना रहा। उसने केवल गजनी की सजावट की, पर उस गजनी को भी उसकी मृत्यु के १२७ वर्ष बाद अफगानों ने बदला लेने के लिए लूटकर नष्ट कर दिया।

हमें यहाँ गजनवियों और हिन्दू शाहियों की लड़ाई के बारे में कुछ अधिक नहीं कहना है, पर, १०२२ ई० में त्रिलोचनपाल की मृत्यु के बाद भारत का महाजनपथ पूरी तौर से मुसलमानों के हाथ में आ गया। हुदूदए आलम (९८२-९८३ ई०) के आधार पर हम दसवीं सदी के अन्त में उत्तर-पश्चिम भारत का एक नक्शा खड़ा कर सकते हैं। ओमान के समुद्रतट से सिन्धु नदी के पूर्वी किनारे तक के प्रदेश में सिन्ध और मुलतान के सूबे स्वतन्त्र थे। इस प्रदेश की सीमा लाहौर तक फैली हुई थी; पर जलन्धर तक कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों का राज्य था। उत्तर-पश्चिम भारत हिन्दू शाहियों के अधिकार में था और उसके दक्खिन-पश्चिम में—सुलेमान और हजारजात के पहाड़ी इलाके में—काफिर रहते थे। लगता है, इस इलाके की पूर्वी सीमा गर्देज से होती हुई गजनी के पूरब तक जाती थी। पश्चिमी सीमा उस जगह थी, जहाँ मुसलमानों द्वारा विजित प्रदेश और हिन्दुओं के अधिकृत प्रदेश की सीमा मिलती थी। यह सीमा जगदालिक से शुरू होकर सुर्खरूद की घाटी को छोड़ती हुई नगरहार की ओर चली जाती थी। यहाँ से वह पहाड़ियों से होकर प्राचीन कापिशी के पूर्व में गोरबन्द और पंजशीर के संगम तक जाती थी। इस संगम के ऊपर पर्वान खुरासानियों के हाथ में था। उत्तरी काफिरों के देश की सीमा पंजशीर से काफी दूर पड़ती थी और नदी के दक्खिनी किनारे से होकर वर्दों की सीमा से जा मिलती थी।

उपर्युक्त राजनीतिक नक्शा द्वितीय मुस्लिम आक्रमण के बाद बदल गया। पूर्व की ओर

मुसलमानों का साम्राज्य पंजाब और हिन्दुस्तान की ओर बढ़ गया। पश्चिम में वह समानियों और बुइदों के राज्य से होकर निकल पड़ा। विजेताओं ने पहले बुखारा और समरकन्द के साथ परिवंक्षु प्रदेश जीता; इसके बाद उन्होंने खुरासान के साथ बलख, मर्व, हेरात और निशापुर पर कब्जा करके उन्हें काबुल और सीस्तान के साथ मिला दिया। बुइद, जिनके अधिकार में ईरान का दक्षिणी-पश्चिमी भाग था, किरमान और मकरान के साथ सिन्ध के दक्षिणी रास्तों पर कब्जा किये हुए थे। शाहियों का अधिकार सिन्धु नदी के दक्षिणी तट के बड़े प्रदेश पर था। हमें इस बात का पता चलता है कि पूरब से पश्चिम तक शाहियों का साम्राज्य लगमान से ब्यास तक फैला हुआ था और उसके बाद कन्नौज का राज्य शुरू होता था। उत्तर में, शाहियों की सीमा कश्मीर से मुलतान तक फैली हुई थी। चीनी स्रोतों से यह पता लगता है कि स्वात भी शाहियों के अधिकार में था। पर, अभाग्यवश, दक्खिन-पश्चिम का पर्वतीय इलाका स्वतन्त्र था। कल्हण के शब्दों में, भारतीय स्वतन्त्रता के अनन्योपासक शाही इस तरह, दक्षिण के जंगली भैंसे—तुर्कों और उत्तर के जंगली सूअर—दरदों के बीच में फँस गये।

इस बात का समर्थन हुदूद ए आलम से भी होता है कि दसवीं सदी के अन्त में मुसलमान अफगानिस्तान के पठार के मालिक थे। काबुल से बलख और कन्धार के बीच रास्ता साफ होने से लगमान होकर कापिशी और नगरहार के रास्ते की उन्हें परवाह नहीं थी। शायद इसी कारण से पशाइयों ने निजराओ में एक छोटा-सा स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया था। वे खुरासान के अमीर अथवा हिन्द शाही, इनमें से किसी का अधिकार नहीं मानते थे।

हुदूद ए आलम से हमें यह भी पता लगता है कि गोर का प्रदेश—हेरात के दक्षिण-पूर्व में फरहरूद की ऊँची घाटी—दसवीं सदी के अन्त तक हिन्द-देश था।

हम ऊपर देख आये हैं कि किस तरह त्रिलोचनपाल की हार के बाद ही भारत का उत्तरी-पश्चिमी फाटक मुस्लिम विजेताओं के लिए खुल गया। गजनी के महमूद ने १०१८ ई० में महापथ से चलते हुए बुलन्द शहर, मथुरा होते हुए कन्नौज को लूटकर समाप्त कर दिया। इस तरह से, मुसलमानों के लिए उत्तरी भारत का दरवाजा खुल गया। यामिनी सल्तनत लाहौर में बस गई और गांगेयदेव के राज्य में तो, १०३३ ईसवी में, मुसलमानों ने बनारस तक घुसकर वहाँ के बाजार लूट लिये।[1] उत्तर-प्रदेश के गाहडवालों को भी इस नया उपद्रव का सामना करने के लिए तैयारी करनी पड़ी। जब चारों ओर महमूद के आक्रमण से त्राहि-त्राहि मच रही थी और कन्नौज का विशाल नगर सर्वदा के लिए भूमिसात् कर दिया गया था, उसी समय, यवनों के अत्याचार से मध्यदेश को बचाने के लिए चन्द्रदेव ने गाहडवाल वंश की स्थापना की। उनकी दो राजधानियाँ, कन्नौज और बनारस, कही जाती हैं; पर इसमें शक नहीं कि मुसलमानों के सान्निध्य से दूर होने के कारण बनारस से ही राजकाज चलता रहा। बारहवीं सदी के आरम्भ में गोविन्दचन्द्रदेव को पुनः मुसलमानों के धावों का कई बार सामना करना पड़ा। गोविन्दचन्द्र की रानी कुमार देवी के एक लेख से पता चलता है कि एक समय तो मुसलमानों की लपेट में बनारस भी आ गया था; पर गोविन्दचन्द्रदेव ने उन्हें हराकर अपने साम्राज्य की रक्षा की। महापथ पर इसके बाद की कहानी तो बड़ी करुणामय है। जयचन्द्रदेव ११७० ई० में बनारस की गद्दी पर बैठे। इन्हीं के समय में दिल्ली का पतन हुआ और इस तरह

---

१. इलियट ऐण्ड डाउसन, भा० ३, पृ० १२३-१२४

महापथ का गंगा-यमुना का फाटक सर्वदा के लिए मुसलमानों के हाथ में आ गया। ११६४ ई० में काशी का पतन हुआ। इसके बाद उत्तर-भारत के इतिहास का दूसरा अध्याय शुरु होता है।

२

हम उपर्युक्त खण्ड में भारत की राजनीतिक उथल-पुथल का वर्णन कर चुके हैं। इस युग में भारतीय व्यापार और यात्रियों के सम्बन्ध में हमें चीनी, अरब तथा संस्कृत-साहित्य से काफी मसाला मिलता है। हमें चीनी स्रोत से पता लगता है कि गुप्तयुग और उसके बाद तक चीन और भारत का व्यापार अधिकतर ससानियों के हाथ में था। हिन्दचीन, सिंहल, भारत, अरब और अफ्रिका के पूर्वी समुद्र-तट से आये हुए सब माल को चीन में फारस के माल के नाम से ही जाना जाता था, क्योंकि उस माल के लानेवाले व्यापारी अधिकतर फारस के लोग थे।[1]

सातवीं सदी में चीन के सामुद्रिक आवागमन में अभिवृद्धि हुई। ६०१ ई० में एक चीनी प्रतिनिधि-मण्डल समुद्र-मार्ग से स्याम गया जो ६१० ई० में वहाँ से वापस लौटा। इस यात्रा को चीनियों ने बड़ी बहादुरी मानी। जो भी हो, चीनियों को इस युग तक भारत के समुद्री मार्ग का बहुत कम पता था। युवान्च्वांग तक को सिंहल से सुमात्रा, जावा, हिन्दचीन और चीन तक की जहाजरानी का पता नहीं था। पर यह दशा बहुत दिनों तक नहीं बनी रही। करीब सातवीं सदी के अन्त में, चीनी यात्रियों ने जहाज इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और कैण्टन से पश्चिमी जावा और पालेमबँग (सुमात्रा) तक बराबर जहाज चलने लगे। यहाँ पर अक्सर चीनी जहाज बदल दिये जाते थे और यात्री दूसरे जहाज पर चढ़कर नीकोबार होते हुए सिंहल पहुँचते थे और वहाँ से ताम्रलिप्ति के लिए जहाज पकड़ लेते थे। इस यात्रा में चीन से सिंहल पहुँचने में करीब तीन महीने लगते थे। चीन से यह भारत-यात्रा उत्तर-पूरबी मौसमी हवा के साथ जाड़े में की जाती थी। भारत से चीन को जहाज दक्खिन-पश्चिमी मौसमी हवा में अप्रैल से अक्तूबर के महीने तक चलते थे।[2]

चीनी व्यापार में भारत और हिन्द-एशिया के साथ व्यापार का पहला उल्लेख लि-चान के तांग-कुओ-शि-पु में मिलता है। इस व्यापार में लगे कैण्टन आनेवाले जहाज काफी बड़े होते थे तथा पानी की सतह से इतने ऊपर निकले होते थे कि उनपर चढ़ने के लिए ऊँची सीढ़ियों का सहारा लेना पड़ता था। इन जहाजों के विदेशी निर्यामकों की नावध्यक्ष के दफ्तर में रजिस्ट्री होती थी। जहाजों में समाचार ले जाने के लिए सफेद कबूतर रखे जाते थे जो हजारों मील उड़कर खबर पहुँचा सकते थे। नाविकों का यह भी विश्वास था कि अगर चूहे जहाज छोड़ दें तो उन्हें दुर्घटना का सामना करना पड़ेगा। हर्थ का अनुमान है कि यहाँ ईरानी जहाजों से मतलब है।[3] जो भी हो, समुद्रतट पर चलनेवाले भारतीय नाविकों का यह विश्वास अबतक है।

अभाग्यवश, भारतीय साहित्य में हमें इस युग के चीन और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के बहुत-से उल्लेख नहीं मिलते, पर भारतीय साहित्य में कुछ ऐसी कहानियाँ अवश्य बच गई हैं जिनसे बंगाल की खाड़ी और चीनी समुद्र में भारतीय जहाजरानी पर काफी प्रकाश पड़ता है।

---

१. फ्रेडरिक हर्थ और डबल्यू-डबल्यू० राकहिल, चाओ जुकुआ, पृ० ७८, सेण्ट पीटर्सबर्ग, सन् १९११

२. वही, पृ० ८-९

३. हर्थ, जे० आर० ए० एस०, १८९६, पृ० ६७-६८

आचार्य हरिभद्र सूरि ने (करीब ६७८-७२८ ई०) ऐसी ही कई कहानियाँ समराइच्चकहा में दी हैं। पहली कहानी धन की है।[1]

धन ने अपनी गरीबी से निस्तार पाने के लिए समुद्र-यात्रा का निश्चय किया। उसके साथ उसकी पत्नी और उसका भृत्य नन्द भी हो लिये। धन ने विदेश का माल (परतीरकं भाण्डं) इकट्ठा किया और उसे जहाज पर भेज दिया। उसकी पत्नी के मन में पाप था। उसने अपने पति को मारकर नन्द के साथ भाग जाने का निश्चय कर लिया था। इसी बीच में जहाज तैयार हो गया (संपाचिउप्रवहणं) और उसपर भारी माल (गुरुकं भांडं) लाद दिया गया। दूसरे दिन धन समुद्र की पूजा करके और गरीबों को दान देकर अपने साथियों के साथ जहाज पर चढ़ गया। जहाज का लंगर उठा दिया गया। पालें (सितपट) हवा से भर गईं तथा जहाज पानी चीरता हुआ नारियल वृक्षों से भरे समुद्रतट को पार करता हुआ आगे बढ़ा।

नाव पर धनश्री ने धन को विष देना आरम्भ किया। अपने जीवन से निराश होकर उसने अपना माल-मता नन्द को सुपुर्द कर दिया। कुछ दिनों बाद, जहाज महाकटाह पहुँचा और नन्द सौगात लेकर राजा से मिला। वहां नन्द ने जहाज से माल उतरवाया और धन की दवा का प्रबन्ध किया, पर उससे कोई फायदा नहीं हुआ। इसपर नन्द ने मालिक के साथ देश लौटने की सोची। उसने साथ का माल बेचना और वहाँ का माल (प्रतिभाण्ड) लेना शुरु कर दिया। राजा से मिलने के बाद जहाज खोल दिया गया।

जब धनश्री ने देखा कि उसका पति जहर से नहीं मर रहा है तब उसने एक दिन धन को समुद्र में गिरा दिया और झूठ-मूठ रोने-पीटने लगी। नन्द बड़ा दुखी हुआ। जहाज रोक दिया गया और सवेरे धन को पानी में खोज की गई, पर उसका कोई पता नहीं चला।

धन का भाग्य अच्छा था। समुद्र में एक तख्ते के सहारे सात दिन बहने के बाद आप-से-आप उसकी बीमारी ठीक हो गई और वह किनारे जा लगा। अपनी स्त्री की बदमाशी पर रो-कलप कर वह आगे बढ़ा। रास्ते में उसे श्रावस्ती की राजकन्या का हार मिला जो उसने जहाज टूटने के समय अपनी दासी को सुपुर्द कर दिया था। आगे चलकर उसने महेश्वरदत्त से रास्ते में गारुडी विद्या प्राप्त की। इसके बाद कहानी का समुद्र-यात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है।

वसुभूति की समुद्र-यात्रा से भी हमें इस युग की जहाज-रानी का सुन्दर चित्र मिलता है।[2] कथान्तर मे कहा गया है कि ताम्रलिप्ति से बाहर निकलकर कुमार और वसुभूति सार्थवाह समुद्रदत्त के साथ चल निकले। जहाज दो महीने में सुवर्णभूमि पहुँच गया। वहाँ उतरकर वे श्रीपुर पहुँचे। यहाँ उनकी अपने बाल-मित्र श्वेतविका के मनोरथदत्त से, जो यहाँ व्यापार के लिए आया था, मुलाकात हुई। बड़ी खातिरदारी के बाद, उसने उनके वहाँ आने का कारण पूछा। कुमार ने बतलाया कि उनका उद्देश्य अपने मामा—सिंहल के राजा से भेंट करना था। इस तरह कुछ दिन बीत गये। सिंहल के लिए सुवर्णद्वीप से जहाज तो बहुत मिलते थे, पर मनोरथ-दत्त ने अपने मित्र को रोकने के लिए उसे इसकी खबर नहीं दी। पर, कुछ दिनों के बाद, कुमार को यह पता लग गया और जब मनोरथदत्त को पता लगा कि उनके मित्र का काम जरूरी है तो उन्होंने तुरंत एक सजे-सजाये जहाज का प्रबन्ध कर दिया। मनोरथदत्त कुमार

---

1. समराइच्चकहा, पृ० २६४ से, बंबई, १९३८

2. वही, पृ० ३६८ से

के साथ समुद्रतट पर पहुँचे। जहाज के मालिक ईश्वरदत्त ने उन्हें नमस्कार किया और बैठने के लिए उन्हें आसन दिये। मनोरथदत्त ने ईश्वरदत्त को बहुत तनदेही के साथ अपने मित्रों को हवाले कर दिया। समुद्र को बलि चढ़ाने के बाद, पाल खोल दिये गये (उच्छ्रतसितपट)। निर्यामक ने जहाज को इच्छित दिशा की ओर घुमा दिया। जहाज लंका की ओर चल दिया। तेरह दिन के बाद, एक बड़ा भारी तूफान उठा और जहाज काबू के बाहर हो गया। निर्यामक चिन्तित हो उठे, पर उन्हें उत्साह देते हुए कुशल नाविकों की भाँति कुमार और वसुभूति ने पाल की रस्सियाँ काटकर उन्हें बटोर लिया (छिन्ना सितपटनिबन्धनारज्जव, मुकुलितः सितपटः) और लंगर छोड़ दिये (विमुक्ता नांगरा)। इतना सब करने पर भी, माल के बोझ से, क्षुभित समुद्र से और ओले पड़ने से जहाज टूट गया। कुमार के हाथ एक तख्ता लग गया जिसके सहारे तीन रात बहते हुए वे किनारे पर आ लगे। पानी से बाहर निकलकर उन्होंने अपने कपड़े निचोड़े और एक बँसवारी में बैठ गये। कुछ देर बाद, वे पानी और फलों की खोज में एक गिरिनदी के किनारे जा पहुँचे। यहाँ से कथा का विषय दूसरा हो जाता है और कथाकार हमें बताता है कि किस तरह कुमार की अपनी प्रियतमा विलासवती से भेंट हुई और उसने अपने देश लौटने की किस तरह सोची। उन्होंने द्वीप पर एक टूटा हुआ पोतध्वज खड़ा किया। कई दिनों के बाद, ध्वज देखकर बहुत-से नाविक अपनी नावों में कुमार के पास आये और उनसे बतलाया कि महाकटाह के सार्थवाह सानुदेव ने मलय देश जाते हुए भिन्न पोतध्वज देखकर उन्हें तुरंत कुमार के पास भेजा। कुमार अपनी स्त्री विलासवती के साथ जहाज पर गये। इस घटना के बाद भी उन्हें अनेक आपत्तियाँ उठानी पड़ीं और वे अन्त में मलय पहुँच गये।

समराइच्चकहा[1] में धरण की कहानी से भी भारत, द्वीपान्तर और चीन के बीच की जहाजरानी का पता चलता है। एक समय सार्थवाह धरण ने खूब अधिक धन पैदा करके दूसरों की मदद करने की सोची। धन पैदा करने के लिए वह अपने माता-पिता की आज्ञा से एक बड़े सार्थ के साथ पूर्वी समुद्रतट पर वैजयन्ती नाम के एक बड़े बन्दर की तरफ चल पड़ा। वहाँ विदेशों में खपनेवाला माल (परतीरकं भाण्डं) उसने एक जहाज पर लाद लिया। एक अच्छी सायत में वह नगर के बाहर समुद्रतट पर पहुँचा और वहाँ समुद्र की पूजा करके गरीबों को धन बाँटा। इसके बाद, अपने गुरु को मन-ही-मन नमस्कार करके, वह जहाज पर सवार हो गया। वेगहारिणी शिलाओं के फेंकने के बाद जहाज हल्का हो गया (आकृष्टा वेगहारण्यः शिला) और पाल में हवा भरने से जहाज चीन द्वीप की ओर चल पड़ा।

कुछ दिनों तक तो जहाज की प्रगति ठीक रही, लेकिन उसके बाद एक भयंकर तूफान आया। समुद्र को क्षुब्ध देखकर नाविक खिन्न हो उठे। जहाज को सीधा करने के लिए पाल उतार लिया गया (तत समेन गमनारम्भेणापसारित सितपट) और जहाज को रोकने के लिए नागर शिला ढील दी गई। इन सब प्रयत्नों के बाद भी जहाज नहीं बच सका। धरण एक तख्ते के सहारे बहता हुआ सुवर्णद्वीप में आ लगा। वहाँ पहुँचकर उसने केले खाकर अपनी भूख मिटाई। रात में, सूरज डूबने पर, उसने आग जलाई और पत्तियाँ बिछाकर उसपर सो गया। सबेरे उठने पर उसने देखा कि जिस जगह उसने आग जला दी थी वह सोने की हो गई है और तब उसे पता लगा कि वह संयोग से धातुक्षेत्र में पहुँच गया था। अब उसने सोने की ईंटें बनाना शुरू किया

---

1. वही, पृ० ३१० से

और दस-दस ईंटों के सौ ढेर लगाकर उनपर अपनी मुहर कर दी। इसके बाद उसने अपना पता देने के लिए भिन्नपोतध्वज लगा दिया।

इस बीच चीन से सार्थवाह सुवदन ने जो जहाज पर मामूली किस्म का माल (सारभाण्ड) लादकर देवपुर की ओर जा रहे थे, भिन्न पोतध्वज देखा। तुरत जहाज रोककर उन्होंने कई नाविकों को धरण के पास भेजा। नाविकों से पूछने पर धरण को पता लगा कि भाग्य के फेर से सुवदन गरीब हो चुके थे और उनके जहाज पर कोई खास माल नहीं लदा था। इस पर धरण ने सुवदन को बुलाया। उससे पूछने पर भी यही पता लगा कि वह देवपुर को एक हजार सुवर्ण का माल ले जा रहा था। यह सुनकर धरण ने उससे माल फेंक देने का आग्रह किया और उसका सोना लाद लेने के लि कहा। उसके लिए उसने उसे तीन लाख मुहरें देने का वादा किया। सुवदन ने सोना लाद लिया। इसके बाद कहानी आती है कि बिना आज्ञा के सोना ले जाने से सुवर्णद्वीप की अधिष्ठात्री देवी का धरण पर कोप हुआ और उसे मनाने के लिए धरण ने अपने को समुद्र में फेंक दिया। वहाँ से हेमकुण्डल ने उसकी रक्षा की। धरण ने उससे श्रीविजय का समाचार पूछा। अपने रक्षक के साथ धरण सिंहल पहुँचा और वहाँ से रत्न खरीदकर वह फिर देवपुर वापस आ गया और टोप्प श्रेष्ठि से मिलकर अपनी मुसीबतें बतलाईं। इसी बीच में सुवदन सार्थवाह ने धरण का सोना पचा जाना चाहा। राजाज्ञा से बिना मासूल दिये वह देवपुर पहुँचा। वहाँ उसकी धरण से मुलाकात हुई और दोनों ने चीन जाने का निश्चय किया। रास्ते में सुवदन ने उसे समुद्र में गिरा दिया। पर टोप्प श्रेष्ठ के आदमियों ने उसकी जान बचाई। बाद में धरण ने सुवदन पर राजा के यहाँ नालिश की और उसमें उसकी जीत हुई।

अगर ऊपर की कथाओं से अतिरंजिता निकाल दी जाय तो सातवीं सदी की भारत से चीन तक की, जहाजरानी पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त कथाओं से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं। (१) ताम्रलिप्ति और वैजयन्ती भारत के समुद्र-तट पर बड़े बन्दरगाह थे जहाँ से जहाज सिंहल, महाकटाह (पश्चिमी मलाया में केदा) और चीन तक बराबर आते-जाते थे। देवपुर, जिसके सम्बन्ध में हम कुछ आगे जाकर कहेंगे, एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। सुवर्णभूमि के श्रीपुर बन्दर में भारतीय व्यापारी व्यापार के लिए जाया करते थे। श्रीविजय उस समय बड़ा राज्य था। (२) भारतीय जहाजों को बंगाल की खाड़ी और दक्षिण-चीन के समुद्र में भयंकर तूफानों का सामना करना पड़ता था जिनसे जहाज टूट जाते थे। उनसे बचे हुए जहाजी कभी-कभी तख्तों के सहारे बहते हुए किनारे लग जाते थे। वहाँ वे भिन्न पोतध्वज खड़ा करते थे जिन्हें देखकर दूसरे जहाजवाले नाव भेजकर उनका उद्धार करते थे। (३) सुवर्णभूमि से व्यापारी सोने की ईंटें, जिनपर उनके नाम छपे होते थे, लाते थे।

हम पहले देख आये हैं कि ईसा की आरंभिक सदियों में किस तरह सुवर्णभूमि और चीन के साथ भारत का सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ रहा था। गुप्तयुग में भी इस व्यापार और सांस्कृतिक प्रसार को अधिक उत्तेजना मिली। यूनानी और भारतीय स्त्रोतों के अध्ययन से यह पता चलता है कि सुवर्णभूमि में उपनिवेश बनाने का श्रेय ताम्रलिप्ति से लेकर पूर्वी भारत के समुद्र-तट के प्रायः सब बन्दरगाहों को था; पर दक्षिण-भारत के बन्दरगाहों को उसका विशेष श्रेय था। हरिभद्र की कहानियों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। सुवर्णभूमि में भारतीय व्यापारी प्रायः जलमार्ग से होकर ही पहुँचते थे। पर इस बात की सम्भावना है कि हिन्दचीन से मलय-प्रायद्वीप को शायद स्थलमार्ग भी चलते थे। इन मार्गों पर भयंकर प्राकृतिक बाधाएँ थीं,

पर, जैसा हम भारत से पामीर होकर चीन के रास्ते के सम्बन्ध में देख आये हैं, व्यापारियों के लिए कठिनाइयाँ कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखती थीं। बंगाल की खाड़ी में जल-डाकुओं के उपद्रव से तो प्राकृतिक कठिनाइयाँ सरल ही पड़ती रही होंगी। इत्सिंग का कहना है कि ७वीं सदी में भारतीय बन्दरगाहों से दक्षिण-पूर्व जानेवाले जहाजों को अण्डमन द्वीप के रहनेवाले नरभक्षकों से सदा डर बना रहता था। मलाका के जलडमरूमध्य में व्यापार की अभिवृद्धि से मलय के निवासियों को भी लूटपाट का मौका मिला। बाद में, श्रीविजय-द्वारा मलाया के जलडमरूमध्य की कड़ी निगरानी होने से भी स्थलमार्गों का महत्त्व बढ़ गया होगा। विद्वानों का विचार है कि डमरू-मध्य के चक्कर से बचने के लिए भारतीय यात्रियों को क्रा की तंग गर्दन पार करके प्रायद्वीप के पूर्वी किनारे पर पहुँचने का पता चल गया था। दक्षिण-भारत के नाविक बंगाल की खाड़ी पार करके अण्डमन और नीकोबार के बीच का पतला समुद्री रास्ता अथवा उसके दक्खिन नीकोबार और आचीन के बीच का रास्ता पकड़ते थे। वे पहले रास्ते से तक्कोल पहुँचते थे और दूसरे रास्ते से केडा। केडा से सिंगोरा और त्रांग से पातालुंग होते हुए कराडोन खाड़ी पर लिगोर और क्रा से चुम्पोन पहुँचना सरल था। तक्कोल से चैय को भी रास्ता था।

मध्य-भारत तथा समुद्री किनारे के यात्रियों के स्याम की खाड़ी पहुँचने के लिए रास्ता तराय से चलकर पर्वत पर होता हुआ तीन पगोडा के दर्रे से निकलकर कनबॉबुरी नदी से होता हुआ मेनाम के डेल्टा पर पहुँचता था। उत्तर में मेनाम की घाटी का रास्ता पश्चिम में मोल-मीन के बन्दर और राहेंग के गाँव को मिलानेवाला रास्ता था।[1] अन्त में हम एक और रास्ते की कल्पना कर सकते हैं जो कोरत के पठार से मिलेन होकर मेनाम और मेकोंग और मुन नदी की घाटी को मिलाता था और उत्तर में आसाम से ऊपरी बर्मा और युन्नान होकर भारत और चीन का रास्ता चलता था। श्री क्वारिट्च वेल्स की राय में, मुन नदी की घाटीवाला रास्ता जहाँ पूर्वी स्याम के पठार को पार करता था वहीं पासोक नदी के बायें किनारे पर एक बड़ा शहर था जिसे आज भी श्रीदेव कहते हैं।[2] यहाँ बसनेवाले यात्री शायद कृष्णा और गोदावरी के बीच के हिस्से से आये थे। श्रीदेव स्याम के पठार और मेनाम नदी की घाटी के बीच के रास्ते में, एक बड़ा व्यापारिक शहर था। शायद इस श्रीदेव से हम समराइच्चकहा के देवपुर की पहचान कर सकते हैं।

इस युग में पल्लव-साम्राज्य के भू-स्थापकों ने भी हिन्द-एशिया में अपना काफी प्रभाव बढ़ाया। नरसिंहवर्मन् (करीब ६३०-६६०ई०) ने तो सिंहल के राजा माणवम्म की सहायता के लिए दो बार जहाजी बेड़े भेजे। मवालिपुरम् और काजीवरम् उस युग में बन्दरगाह थे और यहीं से होकर शायद सिंहल और सुवर्णभूमि को जहाज चलते थे।[3] सिंहल में मिले हुए ८वीं सदी के एक संस्कृत-लेख से पता चलता है कि समुद्र-यात्रा में कुशल भारतीय व्यापारियों का सार्थ, जो माल खरीदने-बेचने और जहाजों में भरने में कुशल था, सिंहल में व्यापार करता था।[4] ये दक्षिण के व्यापारी थे अथवा नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर इन उल्लेखों से हरिभद्र द्वारा सिंहल और भारत के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध की पुष्टि हो जाती है।

---

१ के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, हिस्ट्री ऑफ श्रीविजय, पृ० १८-१९, मद्रास, १९४९

२. क्वारिट्च वेल्स, टुवर्ड्स् अंगकोर, पृ० १०० से

३. जे० आर० ए० एस० बी०, १९३९, भा० १, पृ० ५

४. वही, पृ० १२

हम ऊपर बता चुके हैं कि ७वीं सदी में किस तरह भारतीय व्यापारी और भू-स्थापक विदेशों में अपनी कीर्ति बढ़ा रहे थे। देश की भीतरी पथ-पद्धति पर भी, पहले की तरह ही, व्यापार चल रहा था और सार्थों की असुविधाओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा था। यात्रा पर निकलने के पहले, सार्थवाह अपने साथ यात्रियों को सुविधा के साथ ले जाने की घोषणा मुनादी से करा देते थे। सार्थिकों के इकट्ठा हो जाने पर सार्थवाह उन्हें उपदेश देता था, "सार्थिको, देखो, मंजिल पर पहुँचने के दो रास्ते हैं। एक रास्ता सीधा जाता है पर दूसरा जरा घूमकर। घुमावदार रास्ते से कुछ समय अवश्य लगता है, पर सीमा पार करके सीधे-सीधे गन्तव्य नगर पहुँचने में आसानी पड़ती है। सीधा रास्ता कठिन है। इसमें समय तो कम लगता है किन्तु इसपर खूँखार जानवर लगते हैं और इसपर के पेड़ों के फल और पत्तियाँ विषैली होती हैं। इस रास्ते पर मधुर-भाषी ठग साथ देने को तैयार रहते हैं, पर इनके फेर में नहीं पड़ना चाहिए। सुसार्थिक यात्रा में यात्री कभी एक दूसरे से अलग नहीं होते; क्योंकि अलग होने में खतरे की सम्भावना रहती है। रास्ते में दावानल मिल सकता है, पहाड़ भी पार करना पड़ता है। बँसवाड़ियों के पास कभी नहीं ठहरना चाहिए; क्योंकि उनके पास ठहरने से विपत्ति की आशंका बनी रहती है। नजदीक के रास्ते में खाना-पीना भी मुश्किल से मिलता है। रास्ते में सबको दो पहर तक पहरेदारी करनी चाहिए।"[1]

धरण की कहानी से भी यह पता लगता है कि रास्ते में चोर-डाकुओं और जंगली जातियों का भय रहता था। धरण अपनी यात्रा में कुछ पड़ावों (प्रयाणक) के बाद उत्तरापुर में अचलपुर पहुँचा। वहाँ माल बेचकर उसने अठगुना फायदा किया। वहाँ से माल लादकर वह माकन्दी की ओर चला। यात्रा में एक जंगल मिला जहाँ जंगली जानवर लगते थे। यहाँ सार्थ ने पड़ाव डाला और पहरे का प्रबन्ध करके लोग सो गये। आधी रात में सिंगे बजाकर शबरों और भिल्लों ने सार्थ पर धावा बोल दिया जिससे साथ की स्त्रियाँ भयभीत हो गईं। सार्थ के सैनिकों ने उनका मुकाबला किया पर उन्हें भागना पड़ा। बहुत-से सार्थिक मारे गये। उनका माल लूट लिया गया। कुछ यात्रियों को शबर पकड़कर भी ले गये।[2]

३

हम पहले खण्ड में सातवीं और आठवीं सदी की जहाजरानी पर प्रकाश डाल चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि ७ वीं सदी के मध्य भाग में किस तरह मुसलमान अपनी प्रभुता बढ़ा रहे थे। ७ वीं सदी के अन्त तक तो फारस की खाड़ी की जहाजरानी अरबों के कब्जे में आ गई थी। ७ वीं सदी के मध्य में अरबों का भड़ोच और थाने पर धावा भी शायद वहाँ के व्यापार पर कब्जा करने के लिए ही हुआ था। नवीं सदी तक तो अरब इतने प्रबल हो गये थे कि चौदहवीं सदी तक लाल-सागर से लेकर दक्षिण-चीन के समुद्र तक इन्हीं की जहाज-रानी का बोलबाला रहा। १२ वीं सदी में तो चीनी लोग अरबों को ही एकमात्र विदेशी अधिष्ठापक मानने लगे थे। इस युग में भारतीय जहाजरानी पर भी प्रकाश डालने के लिए हमें अरब भौगोलिकों की शरण में जाना पड़ता है, क्योंकि अरबों का जैसे-जैसे समुद्र पर अधिकार

---

१. समराइच्चकहा, पृ० ४७६ से

२. वही, पृ० ५१० से

बढ़ता गया वैसे-वैसे भारतीयों की जहाजरानी कम होती गई, गोकि द्वीपान्तर को भारत से जहाज इस युग में भी जाते रहे।

अरब तीन तरफ से—यथा, पूर्व में फारस की खाड़ी से, दक्षिण में हिन्दमहासागर से और पश्चिम में लालसागर से घिरा हुआ है। इसीलिए हिज्रा की पहली दो सदियों में इसे जजीरत-अल-अरब कहते थे। अरब एक वीरान देश है और इसीलिए यहाँ के वाशिन्दों को अपनी जीविका चलाने के लिए न जाने कब से व्यापार का आश्रय लेना पड़ा। हम देख आये हैं कि सुदूर पूर्वकाल से ही भारत और अरब में व्यापारिक सम्बन्ध था। लालसागर के आगे भारतीय माल ले जाने का काम तो अरब ही करते थे; क्योंकि ईसा की आरंभिक सदियों में इस व्यापार में रोमनों ने भी हाथ बटाया था।

अरब में इस्लाम के आ जाने के बाद वहाँ के लोगों ने अपनी जहाजरानी में आशातीत उन्नति की। भारत के साथ उनका अधिक सम्पर्क बढ़ने से अरबी में बहुत-से जहाजरानी के शब्द आ गये। अरबी बार (किनारा) संस्कृत के पार शब्द का ही रूप है। दोनीज डोंगी का, बारजद बेड़े का, हूरी (एक छोटी नाव) होड़ी का तथा बानाई वणिक का रूप है।

भारतीयों की तरह अरब भी जहाजरानी में बड़े कुशल थे। वे लक्षणों से जान जाते थे कि तूफान आनेवाला है और उससे बचने के लिए वे पूरा प्रयत्न करते थे। उन्हें समुद्री हवाओं का भी पूरा ज्ञान था। अबूहनीफा दैनूरी [मृ० हि० २८२] ने निर्यामक-शास्त्र पर किताब-उल अनवा नाम का ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने बारह तरह की हवाओं का उल्लेख किया है—यथा जनूब (दखिनाहट), शुमाल जरबिया (उतराहट), तैमनादाजन (दखिनाहट), कबूल दबूल (पछिवा), नकबा (उत्तर-पूर्वी), अजीब (काली हवा), बादखुश (अच्छी हवा), हरजफ (उतराहट), और सारफ।[१] इस सम्बन्ध में हम अपने पाठकों का ध्यान आवस्यकचूर्णि में उल्लिखित सोलह तरह की हवाओं की ओर दिलाना चाहते हैं। अबू हनीफा के प्रायः सब नाम इस तालिका में आ गये हैं। संस्कृत का गर्जभ यहाँ हरजफ हो गया है और कालिकावात अजीब। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अबूहनीफा की हवाओं की तालिका का स्रोत क्या है। शायद भारतीय साहित्य से यह तालिका ली गई हो तो कोई ताज्जुब नहीं।

भारतीय जहाजों की तरह अरबों के जहाज भी रात-दिन चला करते थे। दिन में अरब जहाजी पहाड़ों, समुद्री नक्शों और समुद्रतट के सहारे अपने जहाज चलाते थे, पर रात में नक्षत्रों की गति ही उनका सहारा थी।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, खलीफा उस्मान के समय, बहरैन के शासक हकम ने अपने जहाजी बेड़े से थाना और भड़ोच पर आक्रमण किया। अब्दुल मलिक के राज्यकाल में हज्जाज बिन युसुफ पूर्वी प्रदेश का शासक नियुक्त किया गया। यह प्रदेश ईराक से तुर्किस्तान और सिन्ध तक फैला हुआ था। हज्जाज के शासनकाल में अरबों के व्यापारी-जहाज सिंहल तक पहुँचने लगे। एक समय, कुछ ऐसे ही जहाज समुद्री डाकुओं द्वारा लूट लिये गये। इसपर खफा होकर हज्जाज ने जल, थल, दोनों ओर से सेना भेजकर सिन्ध को फतह कर लिया।[२]

---

१. इस्लामिक कल्चर, अक्टूबर, १९४१, पृ० ४४३

२. इस्लामिक कल्चर, जनवरी, १९४१, पृ० ७२

हज्जाज के पहले, फारस की खाड़ी और सिन्ध नदी पर चलनेवाले जहाज रस्सी से सिले तख्तों से बने होते थे, लेकिन भूमध्यसागर में चलनेवाले जहाज कील ठोककर बनते थे। हज्जाज ने ऐसे ही जहाज बनवाये और पानी को रोकने के लिए अलकतरे का प्रयोग किया। उसने नोकदार नावों की जगह चौरस नावें भी बनवाईं।

अपने चाचा अलहज्जाज की मृत्यु के बाद मुहम्मदबिन-कासिम ने सुराष्ट्र के लोगों से, जो उस समय द्वारका के उत्तर बेट के समुद्री डाकुओं से लड़ रहे थे, मेल कर लिया।[1] सिन्ध फतह करने में अरबी बेड़े का काफी हाथ था। १०७ हिजरी में जब जुनैद-बिन-अब्दुल रहमान अलमुर्री सिन्ध का शासक नियुक्त हुआ तब उसने राजा जयसी से समुद्री लड़ाई लड़कर मण्डल और भड़ोच फतह कर लिया।

भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर अरबों के ये धावे केवल नाममात्र के थे, पर जल्दी ही एक ऐसा धावा हुआ जिससे वलभी का अन्त हो गया। अलबेरुनी का कहना है कि ७५० से ७० के बीच वलभी के एक गद्दार ने अरबों को रुपये देकर वलभी के विरुद्ध मन्सूरा से जहाजी बेड़ा भेजने को तैयार कर लिया।[2] इस भारतीय अनुश्रुति का समर्थन अरब के इतिहास से भी होता है। १५६ हिजरी में, अरबों ने अब्दुल मुल्क के सेनापतित्व में गुजरात पर जहाजी हमला किया। हिजरी १६० में वे बारबुद पहुँचे (इब्न-असीर)। लगता है कि अरबी का बारबुद वलभी का विकृत रूप है।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरबों ने सिन्ध और काठियावाड़ पर हमला करके अपने लिए समुद्री मार्ग साफ कर लिया। उन्होंने साथ-ही-साथ यह भी साबित कर दिया कि उनके नये जहाजी बेड़े भारतीय राजाओं के बेड़ों से कहीं मजबूत थे। पर आठवीं और नवीं सदी में अरबों का यह प्रभाव सिन्ध, गुजरात और कोंकण के समुद्रतट तक ही सीमित रहा; भारत का पूर्वी समुद्री तट उनके हमलों से सुरक्षित रहा और वहाँ से भारतीय सार्थवाह अपने जहाज बराबर द्वीपान्तर और चीन तक चलाया करते थे।

अरब भौगोलिकों के अनुसार अरब और चीन के बीच में सात समुद्र पड़ते थे। मासूदी के अनुसार[3], फारस की खाड़ी ओबुल्ला से आबदान तक पहुँचती थी। इसकी आकृति त्रिभुजाकार थी जिसकी चोटी पर ओबुल्ला पड़ता था। इसकी पूर्वी भुजा पर ईरान का समुद्रतट पड़ता था और इसके बाद हुरमुज का समुद्रतट। उसके बाद मकरान का समुद्रतट शुरू होता था। सिन्ध का समुद्री तट सिन्धु नदी के मुहाने तक चलता था और वहाँ से भड़ोच का समुद्री तट शुरू हो जाता था।

याकूबी के अनुसार[4] लाड़ का समुद्र रास अल् जुमजुमा से आरम्भ होता था। इस समुद्र में पूर्वी अफ्रिका का समुद्रतट पड़ता था। इस समुद्र में बिना नक्षत्रों की सहायता के नाव चलाना कठिन था। मासूदी के अनुसार, फारस की खाड़ी छोड़ने पर लाड़-समुद्र मिलता था। यह इतना बड़ा था कि जहाज उसे दो महीने में पार कर सकते थे, पर अनुकूल वायु में,

---

१. ईलियट, भा० १, पृ० १२३

२. सचाऊ, अलबेरुनी, १, पृ० १९३

३. लीव्र दे मेयरि दोर, भा० १, पृ० २३८ से २४१

४. फेराँ, ले रिलेसियाँ, भाग १, पृ० ४९

यात्रा एक महीने में भी समाप्त हो जाती थी। गुजरात के समुद्रतट पर सैमूर (चौल), सुबारा (सोपारा), थाना, सिन्दान (दमान) और खम्मात पड़ते थे।

तीसरे समुद्र को हरकिन्द कहते थे। यह नाम शायद हरकेलि से पड़ा। इसकी पहचान बंगाल की खाड़ी से की जाती है। लाट समुद्र और हरकिन्द के बीच में मालदी और लकादी पड़ते थे जो इन दोनों समुद्रों को अलग करते थे। इन द्वीपों में अम्बर बड़ी तादाद में मिलता था और नारियल की बड़ी पैदावार होती थी।[1]

इसके बाद, हिन्दमहासागर में, सिरनदीब (सिंहल) पड़ता था जो मोतियों और रत्नों का घर था। यहाँ से द्वीपान्तर की ओर समुद्री रास्ते निकलते थे। इसके बाद रामनी (सुमात्रा) पड़ता था जिसे हरकिन्द और शलाहत (मलक्का स्ट्रेट) के समुद्र घेरे हुए थे।[2]

सिंहल के बाद लागबालूस (निकोबार) पड़ता था जहाँ नंगे जगली रहते थे। जब जहाज निकोबार के द्वीपों के पास से गुजरते थे तब वहाँ के रहनेवाले अपनी नावों में चढ़कर जहाज के पास जाते थे और नारियल और अम्बर से लोहे बदलते थे। निकोबार के टापू अण्डमन के समुद्र से अलग होते थे। दो टापुओं में नरभक्षक रहते थे जो किनारे पर आनेवालों को खा जाते थे। कभी-कभी अनुकूल हवा के न मिलने से जहाजों को यहाँ ठहरना पड़ता था, और पानी समाप्त होने पर नाविकों को किनारे पर जाना पड़ता था।[3]

हरकिन्द के बाद, मासूदी, कलाह, सिम्फ (चम्पा), तथा चीन के समुद्रों का नाम लेता है और इस तरह, सब मिलाकर, सात समुद्र हो जाते हैं।

सुलेमान एक दूसरी जगह कहता है कि चीनवाले जहाज सीराफ पर लदते और उतरते थे। वहाँ बसरा और ओमान से माल चीन जाने के लिए आता था। यहाँ पानी गहरा न होने से छोटे जहाज बड़े जहाजों पर सुभीते से माल लाद सकते थे। बसरा और सीराफ के बीच का रास्ता १२० फरसंग (करीब ३२० समुद्री मील) पड़ता था। सीराफ से माल लादकर और पानी भरकर जहाज मशकत को, जो ओमान के छोर पर पड़ता था, चल देता था। सीराफ और मशकत के बीच का रास्ता दो सौ फरसंग (५४० मील) था। मशकत से जहाज पश्चिम-भारत के समुद्र-तट और मलाया के लिए चलते थे। मशकत से क्वीलन की यात्रा में एक महीना लगता था।[4]

क्वीलन में मीठा पानी भरकर जहाज बंगाल की खाड़ी की तरफ चल देते थे। रास्ते में लागबालूस पड़ता था। यहाँ से जहाज कलाहबार पहुँचकर मीठा पानी लेते थे। इसके बाद जहाज तियुमा पहुँचते थे जो कलाहबार से छ: दिनों के रास्ते पर था। वहाँ से वे कुदंग होते हुए चम्पा की खात (अनाम और कोचीन चीन) पहुँचते थे। यहाँ से सुन्दूरफूलात का रास्ता दस दिनों का था। इसके बाद दक्षिण चीन-समुद्र आता था। इस समुद्र के पूर्वी भाग में मव्हान नाम का टापू सरंदीब और कलाह के बीच में पड़ता था और लोग इसे भारत का ही भाग मानते थे।[5]

१. फेरॉ, वोइयाज दु मार्शां अरब सुलेमान, पृ० ३१-३२, पेरिस १९२२
२. वही, पृ० ३१-३४
३. वही, पृ० ३५
४. वही, पृ० ३९-४०
५. वही, पृ० ४०-४१

सुलेमान जिस रास्ते से चीन गया, उसके समझने में हमें किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। सीराफ से उसका जहाज सीधे मसकत पहुँचा और वहाँ से क्वीलन। क्वीलन से बंगाल की खाड़ी को पार कर अण्डमन-समुद्र से होकर जाने में निकोबार-द्वीपसमूह के एक द्वीप में जहाज ठहरता था। वहाँ से वह कलाहबार (कला का बन्दर, मलायाप्रायद्वीप के उत्तर में) पहुँचता था। वहाँ से तियोमा का टापू (मलय के दक्खिन पूर्व में तियोमन टापू), तियोमा से कुंदंग (कोजाक की खाड़ी में मेकांग नदी के मुहाने पर), कुदंग से चम्पा (यानी चम्पा की उस समय की राजधानी), चम्पा से सुन्दरफूलात (आज का हैनान का टापू) और अन्त में सुन्दरफूलात से पोर्ट द ला चीन की खाड़ी से खानफू यानी कैन्टन।

इस यात्रा में सीराफ से कैन्टन तक करीब पाँच महीने लगते थे।

इब्नखुर्दाज़्बह (हिजरी की तीसरी सदी) इस रास्ते का और ब्योरेवार बयान करता है[1]। उसके अनुसार, यह रास्ता बसरा, खारक का टापू, लावान का टापू, ऐरोन का टापू, चैन, कैस, इब्नकावान, हुरमुज होता हुआ तारा पहुँचता था। तारा उस समय सिन्ध और फारस के बीच की सीमा था और वहाँ से देबल के लिए जहाज चलते थे। तारा से देबल, सिन्ध नदी का मुहाना और औतकीन जहाज पहुँचता था। यहाँ से भारत की सीमा आरम्भ होती थी। औतकीन से आगे कोली, सन्दान, मली और बलीन पड़ते थे। बलीन के आगे मार्ग अलग-अलग हो जाते थे। समुद्रतट पर चलनेवाले जहाज पापटन चले जाते थे। वहाँ से सजली-कन्दरकान, गोदावरी का मुहाना, और कीलकान होते हुए जहाज चीन पहुँचते थे। दूसरे जहाज बलीन से सरन्दीप और वहाँ से जावा जाते थे। कुछ बलीन से सीधे चीन चले जाते थे।

भारत के पश्चिमी और पूर्वी तट के बन्दरगाहों के बारे में हमें अलबेरुनी से भी कुछ पता चलता है। उसके अनुसार, भारतीय समुद्रतट मकरान की राजधानी तीज से आरम्भ होकर दक्खिन-पूरब को देबल की ओर जाता था। देबल के आगे चलकर लोहारानी (कराची), कच्छ, सोमनाथ, खम्भात, भड़ोंच, सन्दान (दमन), सुबारा और थाना पड़ते थे। इस समुद्रतट पर कच्छ और सोमनाथ के जल-डाकुओं का जिन्हें बवारिज (बावरिए) कहते थे, बड़ा डर रहता था। थाना के बाद, जिमूर, वल्लभ, कंजी होते हुए जहाज सिंहल पहुँचते थे और वहाँ से चोलमण्डल पर रामेश्वर[2]।

सुलेमान के अनुसार, बसरा और बगदाद को चीनी माल बहुत थोड़ी तायदाद में पहुँचता था। इसका कारण खानफू में बड़ी-बड़ी आग लगना कहा गया है जिससे निर्यात के माल को बहुत नुकसान पहुँचता था। अरब में चीनी माल न पहुँचने का कारण समुद्र में बहुत-से जहाजों का टूटना था जिससे माल आने-जाने में बड़ी कमी पड़ जाती थी। रास्ते में जल-डाकुओं से भी बड़ा नुकसान पहुँचता था। अरब और चीन के बीच के बन्दरगाहों में भी अरब जहाजों को काफी दिन तक ठहरना पड़ता था जिससे अरब व्यापारियों को अपना माल लाचार होकर बेच देना पड़ता था। कभी-कभी हवा जहाजों को ठीक रास्ते से हटाकर यमन अथवा दूसरे देशों की ओर ढकेल देती थी जहाँ व्यापारी अपना माल बेच देते थे। चीन और अरब के बीच व्यापार की कमी का एक यह भी कारण था कि व्यापारियों को जहाजों की मरम्मत के

---

१. सुलेमान नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ४८-५१, प्रयाग, १९३०

२. सखाऊ, अलबेरूनी, पृ० २०१

लिए अथवा और किसी दुर्घटना की वजह से काफी दिन तक ठहरना पड़ता था।[1] जो भी हो, ऐसा मालूम पड़ता है कि नवीं सदी में अरबों का व्यापार अधिकतर भारत, मलाया, सिंहल से ही था, चीन से कम।

चीन के बाहरी व्यापार को ताग सम्राट् हि-त्सुङ्ग (८७४-८८६) के समय की एक दुर्घटना से भी काफी धक्का लगा। उस समय सेना ने बगावत करके कई नगरों को लूट लिया जिससे व्यापारियों को मलय के पश्चिमी समुद्रतट पर कलाह को भागना पड़ा और यह बन्दर, कम-से-कम १०वीं सदी के आरम्भ तक, अरब-व्यापार का मुख्य केन्द्र बना रहा। १०वीं सदी के अन्त में केण्टन और त्सुआनचू पुन. चीन के बाहरी व्यापार के मुख्य केन्द्र बन गये और चीन का अरब, मलय, ताम्लिंग, स्याम, जावा, पश्चिमी सुमात्रा तथा पश्चिमी बोर्नियो से पुन: सीधा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया[2]। इस युग में भारत का चीन के साथ व्यापार का क्या हाल हुआ, इसका हमें पता नहीं, पर बहुत सम्भव है कि अरबों के साथ शायद उन्हें भी अपना व्यापार मलय-प्रायद्वीप, स्याम, सुमात्रा और जावा के साथ ही कुछ दिनों तक सीमित रखना पड़ा हो।

अरबों की नजर में भारतीय व्यापार का बड़ा महत्त्व था। हजरत उमर ने जब एक व्यापारी से भारत के बारे में पूछा तो उसने कहा—'उसकी नदियाँ मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वृक्ष इत्र हैं।' अरब और भारत के व्यापार का सबसे बड़ा बन्दर उस समय ओबुल्ला था। इस बन्दर का भारत के साथ इतना घना सम्बन्ध था कि अरब उसे भारत का ही एक अंग समझते थे। २५६ हिज्रा में ओबुल्ला के नष्ट हो जाने पर बसरा भारतीय व्यापार का केन्द्र बन बैठा। अरबों का सिन्ध पर अधिकार हो जाने पर यह व्यापार और बढ़ा और इसका महसूल खिलाफत की आय का एक बड़ा साधन हो गया। सीराफ ३३६ हिज्रा में नष्ट हो गया। उम्मान के पास, कैस नामक एक टापू था। याकूत का कहना है कि भारतीय राजाओं में इस टापू के शासक का बहुत मान था, क्योंकि उसके पास बहुत-से जहाज थे। काजवीनी (हिज्री ६८६) के अनुसार, कैस भारत के व्यापार का मण्डी और उसके जहाजों का बन्दर था। भारत से वहाँ अच्छा-से-अच्छा माल लाया जाता था।[3] अबूजैद सैराफी (ई० ६वीं सदी) इस बात का कारण बतलाते हुए कि जहाज लालसागर होकर मिस्र क्यों नहीं जाते और जद्दा से लौटकर भारत क्यों चले जाते हैं, कहता है—'इसलिए कि चीन और भारत के समुद्र में मोती होते हैं, भारत के पहाड़ों और जंगलों में जवाहिरात और सोने की खानें हैं, उसके जानवरों के मुँह में हाथीदाँत हैं, इसकी पैदावार में आबनूस, बेंत, जद, कपूर, लौंग, जायफल, बक्कम, चन्दन और सब प्रकार के सुगन्धित द्रव्य होते हैं, उसके पक्षियों में तोते और मोर हैं और उसकी भूमि की विष्ठा में कस्तूरी है।"[4]

इब्न खुर्दादबह (हि० २५०) में भारत से ईराक जानेवाली वस्तुओं की सूची में ये सब चीजें हैं—सुगन्धित लकड़ियाँ, चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल, कबाबचीनी, नारियल, सन के कपड़े

---

१. फेर्रां, सुलेमान, पृ० ३७-३८
२. ह्यर्थ, चाओजुकुआ, पृ० १८-१९
३. नदवी, वही, पृ० ४१-४६
४. वही, ४४-४५

और हाथदाँत, सरन्दीब के सब प्रकार के लाल, मोती, बिल्लौर और जवाहरात पर पालिश करने का कोरण्ड, मालाबार से काली मिर्च, गुजरात से सीसा, दक्खिन से बक्कम और सिन्ध से कुस्बाँस और बेंत।

हुदूदए आलम (९८२-८३) से हमें पता चलता है कि १०वीं सदी में अरब में कामरूप से सोना और अगर, उड़ीसा से शंख और हाथीदाँत; मालाबार से मिर्च, खम्भात से जूते, रायबिरुड से पगड़ी के कपड़े, कन्नौज के राज्य से जवाहरात, मलमल, पगड़ियाँ, जड़ी-बूटी और नेपाल से कस्तूरी आती थी।[1] मासूदी और बुखारी भी खम्भात् के जूतों की प्रशंसा करते हैं। थाना के कपड़े प्रसिद्ध थे जो या तो वहीं बनते थे या देश के भिन्न-भिन्न भागों से वहाँ आते थे।[2]

मुसहर बिन मुहलहिल (३३१ हि०) के अनुसार, भारत के गजायर बरतन अरब में चीनी बरतन की तरह बिकते थे। व्यापारी लोग यहाँ से सागौन, बेंत, नेजे की लकड़ियाँ, रेवन्द-चीनी, तेजपात, ऊद, कपूर और लोबान ले जाते थे। इब्नुल फकीह (हि० ३३०) के अनुसार, भारत और सिन्ध से सुगन्धित द्रव्य, लाल, हीरा, अगर, अम्बर, लौंग, सम्बुल, कुलंजन, दालचीनी, नारियल, हर्रें, तूतिया, बक्कम, बेंद, चन्दन, सागौन की लकड़ी और काली मिर्च बाहर जाती थी।[3] अरब लोग भारत से चीन को गैंडे के सींग ले जाया करते थे। वहाँ इनकी बेशकीमत पेटियाँ बनती थीं। भारत से खाने के लिए सुपारियाँ भी जाने लगी थीं।[4] भारत के सुप्रसिद्ध मलमल के बारे में सुलेमान लिखता है—"यहाँ जो कपड़े बुने जाते हैं वे इतने बारीक होते हैं कि पूरा कपड़ा (थान) एक अंगूठी में आ जाता है। ये कपड़े सूती होते हैं और इन्हें मैंने स्वयं देखा है।" लगता है, इस युग में भारत से छपे कपड़े मिस्र जाते थे। ऐसे बहुत से कपड़ों के नमूने मिस्र में मिले हैं।[5]

दसवीं सदी में सिन्ध के सोने के सिक्कों की भारत में बड़ी माँग रहती थी। सुन्दर पेटियों में सजी पन्ने की अँगूठियाँ यहाँ आती थीं। मूँगे और दहंज की भी यहाँ काफी माँग थी। मिस्री शराब की भी कुछ खपत थी। रूम से रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन और तलवारें आती थीं। फारस के गुलाबजल की भी कुछ खपत थी। बसरे से देवल और खजूर आता था। चोल-मण्डल में अरबी घोड़ों की माँग थी।[6]

इस युग की भारतीय जहाजरानी का अरबी अथवा चीनी साहित्य में उल्लेख नहीं है। शायद इसका कारण यह हो सकता है कि अरबों और चीनियों ने सुमात्रा और जावा की जहाजरानी और भारतकी जहाजरानी को एक ही मान लिया हो; क्योंकि वे सुमात्रा और जावा को भारत का ही एक भाग मानते थे। जो भी हो, अरबों के भौगोलिक साहित्य में बहुत-से ऐसे प्रसंग आये हैं जिनसे पता चलता है कि भारतीय व्यापारी फारस की खाड़ी में बराबर जाया करते

---

१. वी० मिनोर्स्की, हुदूद अल-आलम, पृ० ८६ से, लण्डन १९३७
२. नदवी, वही, पृ० ४५-४६
३. वही, पृ० ४७-४८
४. वही, पृ० ६६-६७
५. फिस्तर, ले त्वाल आँप्रिमे द फोस्तात ए ल एन्दूस्तान, पेरिस, १९३८
६ नदवी, वही, पृ० ६८

थे। ईसा की नवीं सदी में, अबूजैद सैराफी, इस प्रसंग में कि भारतीय सहभोज नहीं करते थे, लिखता है—'ये हिन्दू-व्यापारी सीराफ में आते हैं। जब कोई अरब व्यापारी उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रण देता है तब वे सौ और कभी उससे भी अधिक होते हैं। पर उनके लिए यह जरूरी होता है कि हर एक के सामने अलग-अलग थाल रखा जाय जिसमें कोई दूसरा सम्मिलित न हो सके।' यहाँ हम भारतीयों के उस रिवाज का उल्लेख पाते हैं जिसके अनुसार अरबों की तरह दस्तरखान में बैठकर एक साथ खाना मना था। बुजुर्ग इब्न शहरयार ने अजायबुल हिन्द में बीसों जगह बानियाना के नाम से अरब जहाजों के भारतीय यात्रियों का नाम लिया है।[1]

४

दसवीं सदी के बाद भी, चीन के व्यापार में अरबों और भारतीयों का बहुत बड़ा हाथ रहा। चू-कु-फाई (११७८ ई०) लिखता है—'कीमती माल के व्यापार में कोई भी जाति अरबों (ता-शी) का मुकाबला नहीं कर सकती। इनके बाद जावा (शो-पो) के लोगों का नम्बर आता है, तीसरा पालेमबेंग (सान-फो-त्सी) के लोगों का और इसके बाद दूसरों का।'[2] लगता है, चू-कु फाई ने जावा और पालेमबेंग के व्यापारियों में हिन्दुस्तानियों को भी शामिल कर लिया है।

पिंग-चू-को-तान (११२२ ई०) में कहा गया है कि किया-तु नाम के जहाज चीनी समुद्र में बराबर आते-जाते रहते थे। श्री हर्थ का कहना है कि ये जहाज मालबार के समुद्रतट पर चलनेवाले कतुर नाम के जहाज थे। कालीकट के ये जहाज साठ से पैंसठ हाथ तक के होते थे और इनके दोनों सिरे नुकीले होते थे।[3]

पिंग-चू-को-तान से यह भी पता चलता है कि किया-लिंग यानी कलिंग के समुद्रतट पर चलनेवाले बड़े जहाजों पर कई सौ आदमी सफर करते थे, पर छोटे जहाजों पर सौ या उससे कुछ अधिक। ये व्यापारी अपने में से किसी व्यापारी को अपना नायक चुन लेते थे और वह अपने सहायक की मदद से सब काम-काज चलाता था। केप्टन के नावध्यक्ष की आज्ञा से, वह अपने अनुयायियों की मदद से हल्की बेंत की सजा दे सकता था। इस नायक के लिए यह भी आवश्यक था कि वह अपने किसी साथी के मर जाने पर उसके माल की फिहरिस्त तैयार करे।[4]

इन व्यापारियों का यह कहना था कि वे उसी समय समुद्र यात्रा करते थे जब जहाज बड़ा हो और उसमें काफी संख्या में यात्रा करनेवाले हों, क्योंकि रास्ते में बहुत-से जलडाकू अपने देश को न जानेवाले जहाजों को लूट लिया करते थे। भेंट माँगने की प्रथा भी इतनी अधिक थी कि भेंट माँगनेवालों को तृप्त करना भी आसान काम नहीं था। इसके लिए साथ में सौगात का काफी सामान रखना पड़ता था। इसलिए, छोटे जहाज काम के नहीं होते थे।

व्यापारी चिट्ठियाँ डालकर, जहाज की जगह को आपस में बाँट लेते थे और अपनी जगहों में माल लाद लेते थे। इस तरह प्रत्येक व्यापारी को कई फुट जगह माल रखने को मिल

---

१. वही, पृ० ७१
२. हर्थ और रॉकहिल, ज्वाओजुकुआ, पृ० २३
३. वही, पृ० ३०, फु० नो० २
४. वही, पृ० ३१-३२

जाती थी। रात में व्यापारी अपने सामानों पर ही बिस्तर डालकर सो रहते थे। सामान में बरतन-भाँडे काफी होते थे।

नाविकों को तूफान और बरसात का इतना भय नहीं होता था जितना जहाज के समुद्र में टिक जाने का। ऐसा होने पर उसकी मरम्मत केवल बाहर से ही हो सकती थी और इसके लिए विदेशी दास काम में लाये जाते थे।

जहाजों के निर्यामक समुद्र के किनारों से भली-भाँति परिचित होते थे। रात में, नक्षत्रों की गति से, वे अपने जहाजों का संचालन करते थे और दिन में सूर्य की सहायता से। सूर्य के डूब जाने पर वे कुतुबनुमा की सहायता लेते थे अथवा समुद्र की सतह से कँटिया डोरी की मदद से थोड़ी मिट्टी निकालकर और उसे सूँघकर अपना स्थान निश्चित करते थे। यह परीक्षा शायद आर्यशूर के सुपारगजातक की भूमि-परीक्षा थी।

उपर्युक्त वर्णन में हम कुतुबनुमा का उल्लेख पाते हैं। बीजले[1] का कहना है कि चीनी नाविक तीसरी सदी में फारस की खाड़ी की यात्रा में कुतुबनुमा काम में लाते थे, पर इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि चीनी जहाज इस युग में अथवा इसके बाद भी फारस की खाड़ी तक पहुँचते थे। श्री रेनो[2] कुतुबनुमा-सम्बन्धी अनेक अरबी उल्लेखों को जाँचने के बाद इस प्रमाण पर पहुँचते हैं कि बारहवीं सदी के अन्त में और तेरहवीं सदी के आरम्भ में कुतुबनुमा का प्रयोग साधारणतः से होने लगा था। पर हम यहाँ मिलिन्दप्रश्न की जहाजरानी-सम्बन्धी एक उल्लेख की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं। इसमें कहा गया है कि चीन तक चलनेवाले भारतीय जहाजों पर एक यन्त्र होता था जिसकी हिफाजत निर्यामक करता था और उसे किसी को छूने नहीं देता था। इस यन्त्र का किसलिए प्रयोग होता था इसका हमें मिलिन्दप्रश्न से कोई उत्तर नहीं मिलता। हो सकता है कि यह कुतुबनुमा हो। जो भी हो, यह तो निश्चित है कि बारहवीं सदी में इसका प्रयोग होने लगा था। भारतीय साहित्य में तो मुझे इसका कोई पुराना उल्लेख नहीं मिलता है।

चाओ-जु-कुआ भी बारहवीं और तेरहवीं सदियों में चीन और अरब के व्यापार पर काफी प्रकाश डालता है। उससे पता चलता है कि उस युग में चीनियों, अरबों, और भारतीयों का हिन्दमहासागर में काफी पास का व्यापारिक सम्बन्ध था। तार्किंग में अगर, सोना, चाँदी, लोहा, ईंगुर, कौड़ी, गैंडे के सींग, सीप, नमक, लाँकर, कपास और सेमल की रुई का व्यापार होता था।[3] अनम में जहाज के पहुँचने पर राज-कर्मचारी एक चमड़े की बही के साथ उसपर चढ़ जाते थे और इस बही में सफेद रंग से माल का ब्योरा भर देते थे। इसके बाद माल उतारने की आज्ञा दी जाती थी। इसमें से राजस्व माल का ३/१० भाग होता था। बाकी माल का हेर-फेर हो जाता था। खाते में बिना दर्ज माल जब्त कर लिया जाता था।[4] अनाम में विदेशी व्यापारी कपूर, कस्तूरी, चन्दन, लखेरे बरतन, चीनी मिट्टी के बरतन, सीसा, राँगा, सम्शु और शक्कर का व्यापार करते थे। कम्बुज में हाथीदाँत, तरह-तरह के अगर, पीला मोम, मुर्गाब के पर,

---

१. बीजले, डॉन ऑफ जियोग्राफी, १, ४६०

२. ए० डी० रेनो, जियोग्राफी द अबुलफिदा, १, पृ० cciii-cciv

३. चाओजुकुआ, पृ० ४६

४. वही, पृ० ४८—४६

डामर की रजन, विदेशी तेल, सोंठ, सागौन की लकड़ी, ताजा रेशम, और सूती कपड़े का व्यापार होता था। कम्बुज के माल के बदले में विदेशी व्यापारी चाँदी, सोना, चीनी बरतन, साटन, चमड़े से मढ़े ढोल, सम्शु, शक्कर, मुरब्बे और सिरका देते थे।[1] मलय प्रायद्वीप में इलायची, तरह-तरह के अगर, पीला मोम और लाल किनों गोंद का व्यापार होता था।[2] पालेमबँग (पूर्वी सुमात्रा) में कछुए की खपड़ियाँ, कपूर, अगर, लाका की लकड़ी, लवंग, चन्दन और इलायची होती थी। यहाँ बाहर से मोती, लोबान, गुलाबजल, गार्डेनिया के फूल, मुरा, हींग, कुठ, हाथीदाँत, मूँगा, लहसुनिया, अम्बर, सूती कपड़े और लोहे की तलवारें आती थीं। माल की अदला-बदली के लिए सोना, चाँदी, चीनी बरतन, रेशमी किमखाब, रेशम के लच्छे, पतले रेशमी कपड़े, शक्कर, लोहा, सम्शु, चावल, सूखा गलांगल, रुबाब और कपूर काम में लाते थे।[3]

सुमात्रा उस जल-डमरूमध्य का रक्षक था जिससे निकलकर विदेशी जहाज चीन जाते थे। प्राचीनकाल में श्रीविजय के राजाओं ने जल-डाकुओं को रोकने के लिए वहाँ एक लोहे की सिकड़ी, जो ऊपर उठाई-गिराई जा सकती थी, लगा रखी थी। व्यापारी जहाजों के आने पर वह नीचे गिरा दी जाती थी। बारहवीं सदी में शान्ति होने से यह सिकड़ी उतार ली गई थी और लपेटकर किनारे पर रख दी गई थी। कोई भी जहाज बिना मलक्का के जल-डमरूमध्य में आये आगे बढ़ने नहीं दिया जाता था।[4]

मलय-प्रायद्वीप के कर्मातन-प्रान्त में पीला-मोम, लका की लकड़ी, अगर, आबनूस, कपूर, हाथीदाँत और गैंड़े के सींग मिलते थे। इनकी अदला-बदली के लिए विदेशी व्यापारी रेशमी छाते, किटीसोल, हो-ची के रेशमी कपड़े, सम्शु, चावल, नमक, शक्कर, चीनी बरतन और सोने-चाँदी के प्याले काम में लाते थे।[5]

लंकासुक (केदा की चोटी के पास) समृद्ध देश था। यहाँ हाथीदाँत, गैंड़े के सींग और तरह-तरह के अगर होते थे। विदेशी व्यापारी सम्शु, चावल, हो ची के रेशमी कपड़े और चीनी बरतनों से अदल-बदल करते थे। पहले वे माल की कीमत सोने-चाँदी से निर्धारित करते थे। बेरनंग (मलय) में भी अगर, लाका की लकड़ी और चन्दन; हाथीदाँत, सोना-चाँदी, चीनी बरतन, लोहा, लखेरे बरतन, सम्शु, चावल, शक्कर और गेहूँ से बदले जाते थे।[6]

बोर्नियो में चार तरह के कपूर, पीला मोम, लाका की लकड़ी और कछुए की खपड़ियाँ होती थीं। इनसे अदला-बदली के लिए व्यापारी सोना-चाँदी, नकली रेशमी कपड़े, पटोले, रंगीन रेशमी कपड़े, शीशे के मनके और बोतल, राँगा, हाथीदाँत के जन्तर, लखेरी तश्तरियाँ, प्याले तथा नीले चीनी बरतन काम में लाते थे।[7]

---

१. चाओजुकुआ, पृ० २३
२. वही, पृ० ५७
३ वही पृ० ६१
४ वही पृ० ६१-६२
५ वही पृ० ६७
६ वही पृ० ६८-६९
७ वही पृ० १५६

जावा में गन्ना, तारो, हाथीदाँत, मोती, कपूर, कछुए की खपड़ियाँ, सौंफ, लवंग, इलायची, बड़ी पीपल, लाक्षा की लकड़ी, चटाइयाँ, विदेशी तलवारों के फल, मिर्च, सुपारी, गन्धक, केसर, सम्पन की लकड़ी और तोतों का व्यापार होता था। विदेशी व्यापारी माल की अदला-बदली सोना-चाँदी, रेशमी कपड़े, काला दमिश्क, ओरिस की जड़, ईंगुर, फिटकिरी, सोहागा, संखिया, लोहे की तिपाइयाँ तथा सफेद और नीले चीनी बरतनों से करते थे।[1]

पूर्वकाल की तरह, १२वीं सदी में भी, सिंहल रत्नों के लिए प्रसिद्ध था। लहसुनिया, पारदर्शी शीशा, मानिक और नीलम वहाँ से बाहर जाते थे। यहाँ इलायची, मूलान की छाल तथा सुगन्धित द्रव्य भी होते थे जिन्हें व्यापारी चन्दन, लवंग, कपूर, सोना-चाँदी, चीनी बरतन, घोड़े और रेशमी कपड़ों से बदलते थे।[2]

मालाबार के समुद्र-तट से भी बड़ा व्यापार चलता था। यहाँ मोती, तरह-तरह के विदेशी रंगीन सूती कपड़े तथा सादे कपड़े मिलते थे। यहाँ से माल पेराक के समुद्रतट पर क्वालातेरोंग और पालमबेंग जाता था और वहाँ हो-ची के रेशमी कपड़े, चीनी बरतन, कपूर, रुवार्ब, लवंग, भीमसेनी कपूर, चन्दन, इलायची और अगर से बदला जाता था।[3]

गुजरात से नील, लाल किनों, हड़ और छींट अरब के देशों में भेजी जाती थी। गुजरात में मालवा से दो हजार बैलों पर लादकर बाहर भेजने के लिए सूती कपड़े आते थे।[4]

चोलमण्डल से मोती, हाथीदाँत, मूँगा, पारदर्शी शीशा, इलायची, अर्ध पारदर्शी शीशा, रंगीन रेशमी कोर के सूती कपड़े तथा सादे सूती कपड़े बाहर भेजे जाते थे।

आठवीं सदी से बारहवीं सदी तक के[5] साहित्य में भी बहुधा भारतीयों के समुद्री व्यापार का उल्लेख आता है, विशेष कर द्वीपान्तर के साथ। अरबों की तरह भारतीय नाविकों की भौगोलिक वृत्ति जागरित न होने से, हमें भारतीय साहित्य में बन्दरगाहों और उनसे चलनेवाले व्यापार का पता नहीं चलता; पर इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इस युग में भी भारतीय व्यापारी जल और थल की यात्रा से जरा भी नहीं घबराते थे। क्षेमेन्द्र अपनी अवदानकल्पलता[6] में बदर द्वीप-अवदान में कहते हैं—

> "हर्म्यारोहणहेलया पदपथाः स्वभ्रं सदाभ्रंलिहा
> यह्वा गोष्पदलीलया जलभरक्षोभोद्धताः सिन्धवः।
> लंघ्यन्ते भवनस्थलीकलनया ये चाटवीनां तटाः
> तद्वीर्यस्य महात्मनां विलसतः सत्त्वोर्जितं स्फूर्जितम्॥"

इस श्लोक से पता चलता है कि कैसे अदम्य उत्साहवाले, खेल-ही-खेल में ऊँचे पहाड़ पार कर जाते थे, छोटे तालाब की तरह सागर को पार कर जाते थे और किस तरह वे जंगलों को उपवन की तरह पार कर जाते थे।

---

१ चाओजुकुआ, पृ० ७८
२ वही पृ० ७३
३ वही पृ० ८८-८६
४ वही पृ० ६२-६३
५ वही पृ० ६६
६ क्षेमेन्द्र, अवदानकल्पलता, ४।२, कलकत्ता, १८८८

द्वीपान्तर का उल्लेख कथा-सरित्सागर में शक्तिदेव की कहानी में भी आता है और, जैसा हम देख आये हैं, ईशानगुरुदेवपद्धति से[1] हमें पता चलता है कि द्रोणमुख अर्थात् नदी के मुहानेवाले बन्दरों से द्वीपान्तर को जहाज चलते थे। भविसत्तकहा[2] में भारत से द्वीपान्तर जाने का सुन्दर वर्णन है। कवि कहता है—

"वहणाइँ वहन्ति जलहर रौदि दुत्तरि अत्थाहि मासमुद्दि।
लंघन्तइँ दीवंतर थलाइँ पेक्खन्ति विविह कोऊहलाइँ॥"

अर्थात्—वे अथाह, दुस्तर समुद्र में अपने जहाज चलाकर द्वीपान्तर के स्थलों को पार करके नाना प्रकार के कौतूहल देखते थे।

अब प्रश्न उठता है कि जिन जहाजों पर भारतीय नाविक इस युग में यात्रा करते थे वे कैसे होते थे? इस प्रश्न का उत्तर भोज अपने युक्तिकल्पतरु में दे देते हैं। मध्यकाल के और दूसरे शास्त्रों की तरह, भोज ने भी नौकाओं और जहाजों के वर्णन में शास्त्रीयता का पक्ष लिया है, फिर भी उनके वर्णन में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे भारतीय जहाजों का नक्शा हमारे सामने आ जाता है। सबसे विचित्र, पर ठीक बात, जो भोज भारतीय जहाजों की बनावट के सम्बन्ध में बताते हैं वह यह है कि जहाज में लोहे की कीलें लगाना मना था। जहाज के तख्ते रस्सी से सी दिये जाते थे[3]। इसका कारण भोज यह बताते हैं कि जलस्थ चुम्बकीय शिलाओं से खिंचकर लोहे की कीलोंवाले जहाज उन शिलाओं से टकराकर डूब जाते थे। पर इस बात में कोई तथ्य नहीं है। ठीक बात तो यह है कि अरबों की तरह भारतीय भी अपने जहाज के तख्तों को नारियल की जटा की रस्सियों से सीकर बनाते थे। उन्होंने अपने जहाजों में कील लगाना क्यों नहीं सीखा, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता।

भोज के अनुसार, नावें दो प्रकार की होती थीं—सामान्य, जो नदी पर चलती थीं और विशेष अर्थात् वे जहाज जो समुद्र में चलते थे। नदी पर चलनेवाली सामान्य नावों के नाम भोज ने क्षुद्रा, मध्यमा, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भका और मन्थरा दिये हैं। उपर्युक्त तालिका में क्षुद्रा पनसुइया के लिए, मध्यमा मझोली नाव के लिए, भीमा बड़ी नाव के लिए, चपला तेज नाव के लिए और मन्थरा धीमी नाव के लिए है। पटला शायद पटैले के लिए है जिसका व्यवहार गंगा ऐसी नदियों में माल ढोने के लिए अब भी होता है (देखिए, हॉबसन-जॉबसन पटैलो)। गर्भका अरब गोराब का रूपान्तर मालूम पड़ता है। यह नाव गेली की तरह होती थी और समुद्री अथवा नदी की लड़ाइयों में काम में आती थी (देखिए, हॉबसन-जॉबसन ग्राब)। इन नावों में भीमा, भया और गर्भका सन्तुलित नहीं मानी जाती थीं[4]।

---

1 ईशानगुरुदेवपद्धति, त्रिवेन्द्रम-संस्कृत-सीरीज (६७), पृ० २३७

2 भविसत्तकहा, ११।३-४. हरमन याकोबी द्वारा सम्पादित, म्यूनिख, १९१८

3 नसिन्धुगाद्यार्हति लौहबन्धं तल्लौहकान्तैर्ह्रियते हि लौहम्।
विपद्यते तेन जलेषु नौका गुणेन बन्धं निजगाद भोजः॥
राधाकुमुद मुकर्जी, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग, पृ० २१, फु० नो० २, लंदन, १९१२

4 वही, पृ० २२-२३

समुद्र में चलनेवाली नावें दो किस्म की होती थीं, यथा दीर्घा और उन्नता। दीर्घा नावें छः तरह की होती थीं। उनके नाम और नाप निम्नलिखित हैं—दीर्घिका (३२ × ४ × ३⅕ हाथ), तरणी (४८ × ६ × ४⅘ हाथ), लोला (६४ × ८ × ६⅖ हाथ), गत्वरा (८० × १० × ८ हाथ), गामिनी (९६ × १२ × ९⅗ हाथ), तरी (११२ × १४ × ११⅕ हाथ), जंघाला (१२८ × १६ × १२⅘ हाथ), प्लाविनी (१४४ × १८ × १४⅖ हाथ), धारिणी (१६० × २० × १६ हाथ), और वेगिनी (१७६ × २२ × १७⅗ हाथ)। इनमें लोला, गामिनी और प्लाविनी अशुभ मानी जाती थीं[1]।

उपर्युक्त तालिका में कुछ नाम, यथा लोला, दीर्घिका, गामिनी, वेगिनी, धारिणी और प्लाविनी गुणवाचक हैं। तरी और तरणी समुद्र के किनारे चलनेवाले जहाज मालूम पड़ते हैं। पर इस तालिका में दो नाम ऐसे हैं जिनपर विचार करना आवश्यक है। गत्वरा, मेरी समझ में, मालाबार के समुद्रतट पर चलनेवाले कतुर नाम के जहाज का संस्कृत रूप है। कतुर के दोनों सिरे नोकदार होते थे और सत्रहवीं सदी में यह शैली से भी तेज चल सकता था (हॉबसन-जॉबसन, देखो कतुर)। इसमें भी शक नहीं कि जंघाला जंक का रूप है जिसका प्रयोग चीनी जहाजों के लिए १३०० ई० से बराबर चला आता है। जंक की व्युत्पत्ति चीनी च्वेन से की गई है। प्राचीन अरबों ने जंक शब्द मलाया के नाविकों से सुना होगा; क्योंकि जंक शब्द जावानी और मलय 'जोंग' और 'अजोंग' (बड़े जहाज) का रूपान्तर है (हॉबसन-जॉबसन, देखो जंक)। अब प्रश्न यह उठता है कि जघाला संस्कृत में किस भाषा से लिया गया—चीनी से अथवा मलय से? संस्कृत का शब्द तो यह मालूम नहीं होता। सम्भव है कि संस्कृत में यह शब्द हिन्द-एशिया से आया हो। इस सम्बन्ध में मैं एक दूसरे शब्द जंगर पर ध्यान दिलाना चाहता हूँ जिससे मद्रास के समुद्रतट पर चलनेवाली एक नाव का बोध होता है। यह नाव दो नावों को जोड़कर और उनपर तख्तों का चौतरा और बाँस का घेरा लगा कर बनती थी। इस शब्द की उत्पत्ति तमिल-मलयाली संगाडम-चन्नाडम् से मानी गई है जिसकी व्युत्पत्ति के लिए हमें संस्कृत संघाट की शरण जाना पड़ता है। इस शब्द के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि ईसा की पहली सदी में पेरिप्लस में इसका व्यवहार हुआ है। अब प्रश्न यह उठता है कि जंक, जंगर और जघाला में क्या सम्बन्ध है और ये शब्द किस भाषा के शब्द के रूपान्तर हैं? बहुत सम्भव है कि संस्कृत संघाट से ही यह शब्द बना है। चोलमण्डल और कलिंग से यह शब्द हिन्द-एशिया पहुँचा होगा और वहाँ उसका रूप जोंग हो गया होगा। बाद में, इसी शब्द को चीनी जंक कहने लगे।

'उन्नता' किस्म की नावों के बारे में और कुछ न कहकर केवल यही बतला दिया गया है कि ये ऊँची होती थीं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शायद इस जहाज का पेंदा माल लादने के लिए काफी गहरा बनता था। उन्नता के निम्नलिखित भेद थे; यथा ऊर्ध्वा (४८ × २४ × २४ हाथ), अनूर्ध्वा (४८ × २४ × २४ हाथ), स्वर्णमुखी (६४ × ३२ × ३२ हाथ), गर्भिणी (८० × ४० × ४० हाथ) और मन्थरा (९६ × ४८ × ४८ हाथ) इसमें ऊर्ध्वा, गर्भिणी और मन्थरा अशुभ मानी जाती थीं। स्वर्णमुखी नाम के जहाज तो अठारहवीं सदी में भी बंगाल के समुद्रतट और गंगा में चलते थे[2]।

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी, ए हिस्ट्री अफ इण्डियन शिपिंग, पृ० २३-२४

२. वही, पृ० २४

'युक्तिकल्पतरु' का कहना है कि उस समय जहाज सोने-चाँदी और ताँबे के अलंकारों से सजाये जाते थे। चार मस्तूलवाले जहाज सफेद रंग से, तीन मस्तूलवाले लाल रंग से दो मस्तूलवाले पीले रंग से और एक मस्तूलवाले नीले रंग से रँगे जाते थे। इन जहाजों के मुख सिंह, महिष, नाग, हाथी, बाघ, पक्षी (बत्तख और मोर) मेंढक और मनुष्य के आकार के होते थे[1]।

कमरों की दृष्टि से जहाजों को युक्ति कल्पतरु तीन भागों में बाँटता है, यथा, (१) सर्वमन्दिरा, जिसमें जहाज के चारों ओर रहने के कमरे बने होते थे। इन जहाजों पर घोड़े, सरकारी खजाना और औरतें चलती थीं। (२) मध्यमन्दिरा, इस जहाज पर कमरे डेक के बीच में बने होते थे। ये जहाज लम्बे समुद्री सफरों और लड़ाई के काम में आते थे[2]।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इस काल में भी बंगाल की खाड़ी और हिन्दमहासागर में जलदस्युओं का भय रहता था। क्षेमेन्द्र ने अपने बोधिसत्त्वावदानकल्पलता में कहा है कि किस तरह कुछ व्यापारी अशोक के पास नावों द्वारा समुद्र में डाका डालने की शिकायत लेकर पहुँचे। उन्होंने यह भी कहा कि अगर डाके रोके न गये तो वे अपना व्यापार छोड़कर कोई दूसरी वृत्ति ग्रहण कर लेंगे[3]। यहाँ नागों से तात्पर्य अण्डमान और नीकोबार के रहनेवालों से है। इनकी लूट-खसोट की आदतों का वर्णन मणिमेखलै और नवीं सदी के अरब यात्रियों ने किया है।

इस युग के भारतीय साहित्य में देश के आयात-निर्यात-सम्बन्धी बहुत कम वर्णन हैं, फिर भी, कपड़ों और रत्नों के व्यापार के कुछ उल्लेख हमें मिल जाते हैं। मानसोल्लास से हमें पता चलता है कि पोट्टलपुर (पैठन), चीरपल्ली, नागपत्तन (नागपटनम्), चोलमण्डल, अल्लिकाकुल (चिकाकोल), सिंहल, अनहिलवाड (अणहिलपट्टन), मूलस्थान (मुलतान), तोण्डीदेश (तोंडीमण्डल), पञ्चपट्टन, महाचीन (चीन), कलिंगदेश और वंग देश के कपड़ों का काफी व्यापार चलता रहता था।[4]

इस युग में रत्न-शास्त्र के बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये जिनसे हमें भारत के रत्न-व्यवसाय के बारे में पता लगता है। निम्नलिखित महारत्न गिनाये गये हैं—वज्र (हीरा), मुक्ता, माणिक्य, नील (नीलम) तथा मरकत (पन्ना)। उपरत्नों में जमुनिया, पुखराज, लहसुनिया और प्रवाल गिनाये गये हैं। बुद्धभट्ट ने इनमें पेप (ऑनिक्स), कर्केतन (क्राइसोबेरिल), भीष्म (?), पुलक (गार्नेट), रुधिराक्ष (कारनेलियन) भी गिनाये हैं। कुछ और उपरत्नों के यथा—विमलक, राजमणि, शंख, ब्रह्ममणि, ज्योतिरस (जैस्पर) और सस्यक नाम आते हैं।[5] फिरोजा और लाजवर्द भी उपरत्न माने गये हैं।

रत्नों के व्यापारी रत्नों की परीक्षा उत्पत्ति, आकार, रंग, जाति तथा दोष-गुण देखकर निर्धारित करते थे।[6]

---

१. राधाकुमुद मुकर्जी, ए हिस्ट्री अफ इण्डियन शिपिंग, पृ० २१
२. वही, पृ० २१
३. बोधिसत्त्वावदानकल्पलता, पृ० ११३-११४
४. मानसोल्लास, ४, ६, १७—२०
५. लुई फिनो, ले लेपिदेयर, ऑदियाँ, पृ०, १७, पेरिस, १८६६
६. वही, २१—२४

शास्त्रों में हीरे का उत्पत्तिस्थान सुराष्ट्र, हिमालय, मातंग (गोलकुण्डा की खान), पौण्ड्र, कोसल, वेण्यातट तथा सूर्पार माना गया है। पर इनमें से अधिक जगहों में हीरा नहीं मिलता। शायद इनके नाम सूची में इसलिए आ गये हैं कि शायद वहाँ हीरे का व्यवहार होता था अथवा उन जगहों से हीरा बाहर भेजा जाता था। कलिंग यानी उड़ीसा के कुछ जिलों में अब भी हीरे मिलते हैं। कोसल से यहाँ दक्षिणकोसल की पन्ना की खदान से मतलब है। वेण्यातट से यहाँ चाँदा जिले की वेनगंगा और वैरागढ़ की खदान से मतलब है।[1]

वराहमिहिर के अनुसार मोती, सिंहल, परलोक, सुराष्ट्र (खम्भात की खाड़ी), ताम्रपर्णी (मनार की खाड़ी), पारशवास (फ़ारस की खाड़ी), कौबेरवाट (कावेरीपट्टन) और पाण्ड्यवाट (मदुरा) में मिलते थे। अगस्तिमत ने इसमें आरवटी, जिसका पता नहीं चलता, और बर्बर यानी लालसागर से मिलनेवाले मोतियों का नाम जोड़ दिया है। लगता है, सिंहल में उस समय नकली मोती भी बनते थे।[2]

सबसे अच्छे माणिक लंका में रावणगंगा नदी के पास मिलते थे। कुछ निम्नकोटि के माणिक कालपुर (बर्मा), अन्ध्र और तुम्बर में मिलते थे। लंका में नकली माणिक भी बनते थे और अक्सर ठग व्यापारी उन्हें असली कहकर बेच देते थे।[3]

लंका में, रावण गंगा के पास नीलम मिलता था। कालपुर (बर्मा) और कलिंग में भी नीलम की कुछ साधारण खानों का उल्लेख है।[4]

रत्नशास्त्रों के अनुसार, मरकत बर्बरदेश में समुद्र-किनारे के एक रेगिस्तान से तथा मगध से आता था। पहली खान, निश्चय ही, गेबेलजबारह नुबियन रेगिस्तान के किनारे लालसागर के पास है। मगध की खान से, शायद, हजारीबाग के पास, किसी पन्ने की खान से मतलब है।[5]

उपरत्न कहाँ से आते थे इसका तो कम उल्लेख है, पर फिरोजा फिलस्तीन और फारस से, लाजवर्द फारस से, मूँगा शायद सिकन्दरिया से और रुधिराच खम्भात के रतनपुर की खान से आते थे[6]

कृमिराग, जिसे बाद में किरमदाना कहते थे, कपड़े रँगने के लिए फारस से आता था; पर, लगता है कि फारस के व्यापारी किरमदाना के सम्बन्ध में भारतीयों को गप्पें सुनाते थे। ऐसी ही एक गप्प का उल्लेख हरिषेण के बृहत्कथाकोष की एक कहानी में है जिसमें कहा गया है कि एक पारसी ने एक लड़की खरीदी। उसे उसने छ महीने तक खिलाया-पिलाया। बाद में जोंक द्वारा उसका खून निकाला। उसमें पड़े कीड़ों से किरमदाना बनाया जाता था जिसका व्यवहार ऊनी कपड़ों के रँगने के लिए होता था। भगवती आराधना की ५६७ वीं गाथा पर टीका करते हुए आशाधर ने भी यही कहा है कि चर्मरंग-विषय (समरकन्द) के म्लेच्छ, आदमी का खून

---

१. सुभाषितरत्नभाण्डागार २४—२६
२. वही, पृ० ३२-३३
३. वही, पृ० ३८—४१
४. वही, पृ० ४२—४३
५. वही, पृ० ४३—४४
६. बृहत्कथाकोष, १०२ (1), ८०—८२, श्री ए० एन० उपाध्याय द्वारा सम्पादित, बंबई, १९४३

जोंक से निकलवाकर एक घड़े में रखते थे और उसमें पड़े कीड़ों के रंग से कम्बल रँगे जाते थे।[1] अब्बासी-युग के एक लेखक जाहिज के अनुसार, किरमदाना स्पेन, तारीम और फारस से आता था। तारीम शीराज के पूर्व में एक छोटा-सा नगर था जो किरमदाना के घर, आर्मेनिया से कुछ दूर पड़ता था।[2]

६

अबतक तो हम भारतीयों और अरबों की समुद्रयात्रा के बारे में कह आये हैं। यहाँ हम यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि भारतीयों का, स्थल-मार्ग की यात्रा के प्रति, इस युग में क्या रुख था। तत्कालीन संस्कृत-साहित्य से पता चलता है कि स्थल-मार्ग पर उसी तरह यात्रा होती थी, जिसतरह दूसरे युगों में। रास्ते में चोर-डाकुओं का भी उसी तरह भय रहता था, जैसे पहले के युगों में। कष्ट भी कम नहीं थे। पर, इतना सब होते हुए भी, व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे। केवल यही नहीं, वह तीर्थयात्रा का युग था और हजारों हिन्दू सब कष्ट उठाते हुए भी तीर्थयात्रा करते रहते थे। बहुत-से ब्राह्मण-पण्डित भी अपनी जीविका के लिए देश भर में घूमा करते थे। दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमतम् में कहा है कि जो लोग घूम-फिरकर लोगों के वेश, स्वभाव और बातचीत का अध्ययन नहीं करते, वे बिना सींग के बैल के समान हैं।[3] सुभाषितरत्नभाण्डागार[4] में भी कहा गया है कि जो देशों की यात्रा नहीं करता और पण्डितों की सेवा नहीं करता उसकी संकुचित बुद्धि पानी में पड़े घी की बूँद की तरह स्थिर रहती है, इसके विपरीत जो यात्रा करता है और पण्डितों की सेवा करता है, उसकी विस्तारित बुद्धि पानी में तेल की बूँद की तरह फैल जाती है।

यात्रा की प्रशंसा करते हुए सुभाषितरत्नभण्डागार में कहा गया है कि यात्रा से तीर्थों का दर्शन, लोगों से भेंट-मुलाकात, पैसे का लाभ, आश्चर्यजनक वस्तुओं से परिचय, बुद्धि की चतुरता, बोलचाल में धड़का खुलना, ये सब बातें होती हैं। इसके विपरीत, घर में पड़े रहनेवाले गरीब का अतिपरिचय से, उसकी स्त्री भी अनादर करती है, राजा उसकी परवाह नहीं करते। पता नहीं, घर में रहनेवाला कुँए में पड़े कछुए की तरह संसार की बातें कैसे जान सकता है।

जैसा ऊपर कहा गया है कि पति के यात्रा न करने पर तो उसकी स्त्री भी उसकी उपेक्षा अवश्य करती थी, पर जब वह जाने को तैयार होता था तो वही यात्रा की कठिनाइयों का स्मरण करके काँप उठती थी और तब वह यात्रा से अपने पति को विरत करना चाहती थी। सुभाषितरत्नभाण्डागार में एक जगह कहा गया है[5]—'लज्जा छोड़कर वह रोती है, उसके वस्त्र का छोर पकड़ती है और 'मत जाओ' कहने के लिए अपनी अँगुलियाँ मुख पर रखती है, आगे गिरती है, अपने प्राणप्यारे को लौटाने के लिए वह क्या-क्या नहीं करती।'

१. वही, प्रस्तावना पृ० ८८

२ फिस्तर, वही पृ० २६-२७

३ दामोदर गुप्त, कुट्टनीमतम्, श्लोक २११, श्रीतनसुखराम द्वारा सम्पादित, बम्बई, संवत् ११८०

४ सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० ८८

५ वही, पृ० ३२३

रास्ते में यात्री की क्या-क्या दुर्गति होती थी, इसका उल्लेख दामोदर गुप्त ने किया है[1]—'चलने के परिश्रम से थका, कपड़े से अपना वदन ढाँके, धूल से सना पथिक सूरज डूबने पर ठहरने की जगह चाहता था। वह गिड़गिड़ाकर कहता था—माँ, बहिन, मुझपर दया करो, ऐसी निष्ठुर न बनो; काम से तुम्हारे लड़के और भाई भी बाहर जाते हैं। सबेरे चल देने-वाले हम जल्दी क्यों घर से निकले ? जहाँ पथिक रहते हैं, वहीं उनका घर बन जाता है। हे माता, हम जैसे-तैसे तुम्हारे घर रात बिता लेंगे। सूरज डूबने पर, बताओ, हम कहाँ जायँ।' घर के भीतरी दरवाजे पर खड़ी गृहणियाँ इस तरह गिड़गिड़ानेवाले की भर्त्सना करती थीं—'घर का मालिक नहीं है, क्यों रट लगाये हैं ? मंदिर में जा। देखो इस आदमी की ढिठाई, कहने से भी नहीं जाता।' बहुत गिड़गिड़ाने पर कोई घर का मालिक, तिरस्कार से, टूटे घर का कोना दिखलाकर कहता था—'यहीं पड़ रह।' इसपर भी गृहिणी सारी रात कलह करती रहती थी—'हे पति, तूने अनजाने को क्यों टिकाया ? घर में सावधान होकर रहना।' 'निश्चय ही ठग चक्कर लगा रहे हैं। अरी बहन, तेरा भोला-भाला पति क्या करता है, ठग चक्कर लगा रहे हैं।'—बरतन इत्यादि माँगने के लिए पड़ोस की स्त्रियाँ इकट्ठी होकर डर से उससे ऐसा कहती थीं। सैकड़ों घर घूमकर भीख में मिले चावल, कुलथी, चीना, चना, और मसूर खाकर पथिक भूख मिटाता है। दूसरे के सिर खाना, जमीन पर सोना, मंदिर में घर बनाना तथा ईंट को तकिया बनाना यही पथिक का काम है।

मध्य-युग के यात्रियों के लिए आज की-सी साफ-सुथरी सड़कें नहीं थीं। बरसात में तो कीचड़ से भरी सड़कों पर चलने में उनकी दुर्गति हो जाती थी। इस दुर्गति का भी सुभाषित-रत्नभाण्डागार[2] में अच्छा वर्णन है जिससे पता चलता है कि कीचड़ में फँसकर यात्री रास्ता भूल जाते थे और अँधेरी रात में कदम-कदम पर फिसलकर गिरते थे। बरसात में ही नहीं, जाड़े में भी उनकी काफी फजीहत होती थी। ग्रामदेव की फूस की कुटिया में, दीवाल के एक कोने में पड़े हुए, ठण्ढी हवा से उनके दाँत कटकटाते थे। बेचारे रात में सिकुड़ते हुए अपनी कथरी ओढ़ते थे।[3]

पर इस तरह की तकलीफों के लोग अभ्यस्त थे। उनकी यात्रा का उद्देश्य साधुचरित, जनसाधारण की उत्कण्ठाएँ, हँसी-मजाक, कुलटाओं की टेढ़ी बोली, गूढ़ शास्त्रों के तत्त्व, विटों की वृत्ति, धूर्तों के ठगने के उपायों का ज्ञान होता था।[4] घूमने में गोष्ठी का ज्ञान, तरह-तरह के हथियारों के चलाने की कला की जानकारी, शास्त्रों का अभ्यास, अनेक तरह के कौतुकों के दर्शन, पत्रच्छेद, चित्रकर्म, मोम की पुतलियाँ बनाने तथा पुताई के काम का ज्ञान तथा गाने बजाने और हँसी-मजाक का मजा मिलता था।[5]

ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग में शास्त्रार्थ, ज्ञानार्जन अथवा जीविकोपार्जन के लिए लोग यात्रा करते थे। ऐसे ही यात्रियों में कश्मीरी कवि विल्हण भी थे। इन्होंने विक्रमाक-

---

१. कुट्टनीमतम्, २१८-२२०

२. सुभाषित, पृ० ३४१

३. वही, पृ० ३४८

४. कुट्टनीमतम्, पृ० २१४-२१५

५. वही, २३४-२३७

देवचरित (१०८०-१०८८ के बीच) में अपने देश-पर्यटन का वर्णन किया है। अपनी शिक्षा समाप्त करके वे कश्मीर से यात्रा को निकले। घूमते फिरते मद्रापथ से वे मथुरा पहुँचे और वहाँ से कन्नौज, प्रयाग होते हुए बनारस। शायद बनारस में, उनकी कलचूरी राजा कर्ण से भेंट हुई और वे कर्ण के दरबार में कई साल रहे। उसका दरबार छोड़ने के बाद, धारा, अनहिलवाड और सोमनाथ की तारीफ सुनकर उन्होंने पश्चिम-भारत की यात्रा की। गुजरात में कुछ मिला नहीं, इसलिए क्रुद्ध होकर उन्होंने गुजरातियों की असभ्यता पर फबतियाँ कसीं। सोमनाथ देखने के बाद, बेरावल से वे जहाज पर चढ़े और गोकर्ण के पास होणावर में उतर गये। यहाँ से उन्होंने दक्षिण-भारत की यात्रा की और रामेश्वर का दर्शन किया। इसके बाद वे उत्तर की ओर फिरे और चालुक्यराज विक्रम ने उन्हें विद्यापति के आसन पर नियुक्त करके उनका आदर किया।[1]

---

१. विक्रमांकदेवचरित, जी० बुहलर-द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८७५

बारहवाँ अध्याय

समुद्रों में भारतीय बेड़े

१

हम पहले के अध्यायों में कह आये हैं कि भारत का हिन्द-एशिया से सम्बन्ध प्रायः सांस्कृतिक और व्यापारिक था, पर इसके यह मानी नहीं होते कि भारतीयों को हिन्द-एशिया में अपने उपनिवेशों की स्थापना करने में वहाँ के निवासियों से किसी तरह की लड़ाई करनी ही नहीं पड़ी। कौण्डिन्य को, जिन्होंने पहले पहल फूनान में भारतीय सभ्यता की नींव रखी, वहाँ की रानी से नौका-युद्ध करना पड़ा। इस भू-स्थापना में और भी कितने भारतीय बेड़ों ने सहायता दी होगी—इसका पता हमें इतिहास से नहीं लगता, पर ऐसा मालूम पड़ता है कि शैलेन्द्र-वंश-द्वारा श्रीविजय की स्थापना में भी शायद भारतीय बेड़ों का हाथ रहा होगा। भारत के पश्चिमी समुद्रतट के बेड़ों का भी अरब कभी-कभी उल्लेख करते हैं, पर अरबों का बेड़ा भारतीयों के बेड़े से अधिक मजबूत होता था और इसीलिए भारतीयों को जलयुद्ध में उनसे सदा नीचा देखना पड़ता था।

अब हम पाठकों का ध्यान ग्यारहवीं सदी की एक घटना की ओर ले जाना चाहते हैं जिससे पता चल जाता है कि उस युग में भी भारतीय बेड़े कितने मजबूत होते थे। ९वीं सदी के अन्त तक शैलेन्द्रों के साम्राज्य से जावा अलग हो गया। फिर भी, शैलेन्द्र कुछ कमजोर नहीं थे। १००६ में तो उन्होंने चढ़ाई करके जावा को तबाह कर दिया। लेकिन उनपर विपत्ति के बादल दूसरी ओर से उमड़ रहे थे। दक्षिण के चोल-साम्राज्य ने अपने लिए एक बृहद् औपनिवेशिक साम्राज्य की कल्पना की और इस कल्पना को सफल बनाने के लिए उन्होंने भारत के पूर्वी समुद्रतट को जीतकर पहला कदम उठाया। शैलेन्द्रों का चोलों से पहले तो नाता ठीक था; लेकिन चोलों के साम्राज्यवाद ने आपस की सद्भावना बहुत दिनों तक नहीं चलने दी। कुछ दिनों की समुद्री लड़ाई के बाद राजेन्द्रचोल ने जावा के राजा को हराकर भगाया और मलय-प्रायद्वीप में उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। पर राजेन्द्रचोल के वंशधर इस विजय का लाभ उठाकर द्वीपान्तर में अपनी शक्ति को अधिक मजबूत न बना सके। १०५० तक समुद्री लड़ाई यदा-कदा चलती रही और अन्त में चोलों को इससे हाथ खींच लेना पड़ा।

चोलों के विजय-पराक्रम का श्रीगणेश परान्तक प्रथम के ९०७ में राज्यारोहण से हुआ। राजराज महान् ने (९८५-१०१२) अनेक युद्धों में विजय पाकर अपने को दक्षिण-भारत का अधिपति बना लिया। इनके पुत्र महान् पराक्रमी राजेन्द्र चोल (१०१२-१०३५) ने तो बंगाल तक अपने विजय-पराक्रम को बढ़ाकर चोलों की शक्ति को चरम सीमा तक पहुंचा दिया।

चोल एक बड़ी सामुद्रिक शक्ति के रूप में वर्तमान थे। इसलिए, शैलेन्द्रों के साथ उनका संयोग होना आवश्यक था। हमें चोलों और शैलेन्द्रों की लड़ाई का कारण तो पता नहीं। भाग्यवश, राजेन्द्रचोल के शिला लेखों से हमें उसकी विजय के बारे में अवश्य कुछ पता चल जाता है। एक

लेख से पता चलता है कि उस सामुद्रिक विजय का आरम्भ ग्यारहवीं सदी में हुआ। राजराजेन्द्र के तंजोरवाले लेख और दूसरे लेखों से भी पता चलता है कि उसने हिन्द-एशिया में निम्नलिखित स्थानों पर विजय पाई। पण्णइ की पहचान सुमात्रा के पूर्वी भाग में स्थित पनेई से की जाती है तथा मलैयूर की पहचान जंबी से। मायिरुडिंगम् मलाया-प्रायद्वीप के मध्य में था और लंगाशोकम् जोहोर के इस्थमस अथवा जोहोर में। मा-पप्पालम् शायद क्रा के इस्थमस के पश्चिमी भाग में अथवा वृहत्पाहंग में था। मेविलिम्बंगम् की पहचान कर्मरंग से की जाती है और इसकी स्थिति लिगोर के इस्थमस में मानी जाती है। त्रिलैप्पंदरु की पहचान पाण्डुरंग अथवा फनरंग से की जाती है और तलैत्तक्कोलम् की पहचान तकोपा से। मातामलिंगम् मलय-प्रायद्वीप के पूर्वी तरफ बंडोन की खाड़ी और नगोरश्री धर्मराज के बीच में था। इलामुरिदेशम् उत्तरी सुमात्रा में था। मानक्कवरम् की पहचान नीकोबार टापुओं से की जाती है और कटाह, कडारम् और किडारम की आधुनिक केडा से।[1]

राजेन्द्र चोल की विजय के अन्तर्गत प्राय सुमात्रा का पूर्वी भाग, मलय-प्रायद्वीप का मध्य और दक्षिणी भाग आ जाते थे। उसने दो राजधानियों—श्रीविजय और कटाह पर भी विजय पाई। शायद कलिंग से यह विजययात्रा १०२५ ई० में आरम्भ हुई।

भारतीय साहित्य में सामुद्रिक युद्धों के बहुत ही कम वर्णन हैं; इसलिए हमें धनपाल की तिलकमंजरी में भारतीय बेड़े का वर्णन पढ़कर आश्चर्य होता है। कहानी में कहा गया है कि इस भारतीय बेड़े को रंगशाला नगरी के राजपुत्र समरकेतु द्वीपान्तर अर्थात् हिन्द-एशिया में इसलिए ले गये कि वहाँ के सामन्त समय पर कर नहीं देते थे। द्वीपान्तर की तरफ समरकेतु की विजययात्रा का तिलकमंजरी में इतना सटीक वर्णन है कि यह मानने में हमें कोई दुविधा नहीं होनी चाहिए कि इसके लेखक धनपाल ने स्वयं यह चढ़ाई या तो अपनी आँखों से देखी थी अथवा इसमें किसी भाग लेनेवाले से इसका वर्णन सुना था। धनपाल धारा के सीयक और वाक्पतिराज (९७४-९९५) के समय हुए थे। मेरुतुंग इन्हें भोज का (१०१०-१०२५) समकालीन मानते हैं। तिलकमंजरी में वर्णित विजययात्रा में हम राजेन्द्र चोल की द्वीपान्तर की विजययात्राओं की झलक पाते हैं अथवा किसी दूसरे भारतीय राजा की, इसका तो निर्णय धनपाल के ठीक-ठीक समय निश्चित हो जाने पर ही हो सकता है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि धनपाल को द्वीपान्तर-यात्रा का पूरा अनुभव था।

तिलकमंजरी में यह द्वीपान्तर-यात्रा-प्रकरण बहुत लम्बा है और, पाठ-भ्रष्टता से, अनेक स्थानों पर ठीक-ठीक अर्थ नहीं लगते, फिर भी, विषय की उपयोगिता देखते हुए मैं नीचे इस अंश का स्वतन्त्र अनुवाद देता हूँ। इस अनुवाद में डा० श्रीवासुदेवशरण ने मेरी बड़ी सहायता की है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। कथा इस प्रकार आरम्भ होती है[2]—

समरकेतु की विजययात्रा

"सिंहल में हजारों विमानाकार महलों से भरा, सारे संसार के गहने की तरह तथा

---

1 डा० आर० सी० मजूमदार, दि स्ट्रगल बिटवीन दी शैलेन्द्रज ऐण्ड दि चोलज, दी जर्नल ऑफ दी ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी, भा १ (१९३४), पृ० ७१ से
नीलकण्ठ शास्त्री, वही, पृ० ७२ से

२. तिलकमंजरी, द्वितीय संस्करण, पृ० ११३ से १४१, बम्बई, १९३८

आकाश चूमनेवाली शहरपनाह से घिरी रंगशाला नाम की नगरी थी। यहाँ मेरे पिता चन्द्रकेतु ने, देशकाल देखकर घमण्ड से भरे, समय पर बाकी कर न देनेवाले, आलस्य और आराम से समय बितानेवाले, बुलाने पर न आने का झूठा कारण बतलानेवाले, राजोत्सवों में न दिखलाई देनेवाले और घात से दुश्मनी दिखलानेवाले, सुवेल पर्वत के उपकण्ठ पर बसनेवाले सामन्तों को दबाने के लिए सेना को दक्षिणापथ जाने की आज्ञा दी। शत्रु के नाश करने के लिए सेना के चलने पर यथाशक्ति शास्त्रों से परिचित, नीतिविद्या में निपुण, धनुर्वेद, तलवार गदा, चक्र, भाला, बरछा इत्यादि हथियारों के चलाने में विद्वज्जन से कुशलता-प्राप्त, नवयौवन में युवराज-पद पर आसीन मुझे सेना का नायक बनाया।" पृ० ११३

"मैंने सवेरे ही स्नान तथा अपने इष्ट देवताओं की पूजा करने के बाद वस्त्र आदि से ब्राह्मणों की पूजा करके, गणित-ज्योतिष के विद्वानों द्वारा धूपघड़ी से लग्न साध कर, सफेद दुकूल के कपड़े तथा सफेद फूलों की माला का शेखरक पहनकर, अंगराग से अपने शरीर को सजाकर, और बड़े और साफ मोतियों की नाभि तक पहुंचती हुई इकलड़ी पहनकर, चन्दन और प्रवाल की मालाओं से लहराते तोरणवाले तथा सुगन्धित जल से छिड़काव किये गये आँगनवाले, सफेद कपड़े पहने वार-वनिताओं से आवेष्टित, और 'हटो, बचो' करते हुए प्रतीहारियों से युक्त सभामण्डप में प्रवेश किया।" पृ० ११४—११५

"वहां पवित्र मणिवेदिका के ऊपर रखे सोने के आसन पर बैठते ही वेश्याओं ने खनखनाते सोने के कड़ों से युक्त अपने हाथ उठाकर सामने रखी, दही, रोरी और पूर्ण कलश से यात्रा-मंगल सम्पादित किया। फिर मैं चाँदी के पूर्ण कुम्भ की वन्दना करके वेदध्वनि करते हुए ब्राह्मणों से अनुगम्यमान पुरोहितों के साथ दो कदम चलकर प्रथम कक्षद्वार के आगे वज्रांकुश महामात्र द्वारा लाये गये, सफेद ऐपन से लिपे शरीरवाले, मणियों के गहने (नक्षत्रमाला) पहने तथा सिन्दूर-संयुक्त कुम्भोंवाले, सुनहरे फूलवाले अमरवल्लभ नामक हाथी पर चढ़कर, बाएँ हाथ में धनुष लिये हुए और दोनों कन्धों के पीछे तरकश बांधे हुए, सवार होकर चला। चारों ओर चाँदियाँ गाली जा रही थीं, वैतालिक हर्ष से जयध्वनि कर रहे थे, तुरतुरियाँ बज रही थीं तथा हाथियों पर कुछ सेवक नक्कारे पीट रहे थे। आगे-आगे हाथी के दोनों ओर कलश, वराह, शरभ, शार्दूल, मकर इत्यादि अनेक निशानवाले (चिह्नक) चल रहे थे।" पृ० ११५—११६

"पीछे-पीछे विजयाशीष देते हुए ब्राह्मण थे। पुरवासी धान का लावा फेंक रहे थे। वृद्धाएँ मनोरथ सिद्धि का आशीष दे रही थीं। पुरवनिताएँ प्रीति-भरी-आँखों से देख रही थीं। इन सबके बीच होकर हम धीरे-धीरे नगर के बाहर निकल आये (पृ० ११६) और क्रम से नगर-सीमा लाँघ गये। शरत्काल के लावण्य से युक्त पृथ्वी में धान की गन्ध से हवा सुरभित हो रही थी। जल में नाना प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे थे। वहाँ सुग्गों ने अधखाई प्रियंगुमंजरी (ककुनी) काट-काटकर जमीन रँग डाली थी। हाथियों की मदगन्ध से भ्रमर आकृष्ट हो रहे थे। रक्षक-सेना वर्षकों को हटा-बढ़ा रही थी। हाथियों को पीलवानों ने पहले से बने तृण-कुटीरों की ओर बढ़ाया। वहाँ द्वीपान्तर जानेवाला बहुत-सा सामान (भाण्ड) इकट्ठा था। भृतक शोर-गुल मचाते हुए आभरण और पलान बैलों पर लाद रहे थे। नई खिली हुई लाल रावटी में बड़े बड़े कंडाल रखे थे। प्रांगण में बोरियों की छल्लियाँ लगी हुई थीं। लोग बराबर आ-जा रहे थे। बहुत-से घोड़ों और खच्चरों के साथ

साथियों ने स्थान-स्थान पर डेरा डाल रखा था। शाक और शीतल जलवाली बावड़ी के चारों ओर चूने से पुते दालान बने थे। इसके द्वारों और दीवारों पर तथा भीतर में भी अनेक देवताओं की मूर्त्तियाँ अंकित थीं। इसमें नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ थीं। रास्ते की बावड़ियाँ पक्की ईंटों की बनी थीं। रास्ते के उपान्तस्थल में बरगद के पेड़ थे। बरसात के बाद, पृथ्वी धुलकर साफ हो गई थी। पास के गाँवों में रहनेवाले बनिये भात, दही की अथरियाँ, खाँड के बने लड्डू इत्यादि बेच रहे थे। वन की नदियों में पथिकों के छोटे-छोटे टुकड़ों पर मछलियाँ लड़ रही थीं। छाये हुए घर लताओं और वृक्षों से घिरे थे। आँगन में मण्डप की छाया में दूध पीकर पुष्ट बड़े कुत्ते बैठे थे। घी तपाने में मठे के बिन्दु तड़क रहे थे। उसकी सुगन्धि उड़ रही थी। मठा मथने की मथनी की घरघराहट हो रही थी। घोषाधिपति द्वारा बुलाये जाने पर सार्थ और पथिक अपनी पेटियों के साथ आ रहे थे। ब्राह्मणों के आज्ञानुसार लोग स्नान-दान इत्यादि क्रियाओं में लिप्त थे। भव्य सेना लोगों का ध्यान खींच रही थी। गले में घंटियाँ बँधे गायें चर रही थीं और ग्वालिनें अपने कटाक्षों से लोगों को आकृष्ट कर रही थीं।"

"अगले सवारों की हरौल देखकर 'सेना आ रही है' सेना आ रही है, यह समाचार चारों ओर फैल गया। लोग अपने-अपने काम छोड़कर कूड़ों के ढेरों पर इकट्ठे होने लगे। कुछ पेड़ों पर चढ़ गये, और कुछ ने अपने दोनों हाथ उठा लिये। कुछ ने अपनी कमर में छुरी खोंस ली और सिर पर साफा बाँधकर हाथ में लाठी ले ली। कुछ के कन्धों पर बच्चे थे। सबकी आश्चर्य-चकित दृष्टि ऊँटों और हाथियों पर थी और प्रमाण, रूप तथा बल के अनुसार लोग बैलों के अलग-अलग दाम आँक रहे थे। 'कहो, यह कौन राजपुत्र है, यह कौन रानी है? इस हाथी का क्या नाम है?' ऐसे प्रश्नों की झड़ी से बेचारा गाँव का चौकीदार (ग्रामलाकुटिक) घबरा रहा था। बेचारे गवैये हथिनी पर चढ़ी मामूली वेश्याओं को महलों में रहनेवाली समझते थे। भाट को महाराज और हर्म्य पहने बनिये को राजमहल का प्रबन्धक मानते थे। प्रश्न पूछकर भी बिना उसका उत्तर सुने वे दूसरी जगह चले जाते थे। देखते हुए भी अँगुली दिखाकर इशारा करते थे, सुनते हुए भी जोर से चिल्लाते थे। ऊँटों, घोड़ों और बैलों के सम्मेल में पड़कर लोग भागते और चिल्लाते थे तथा तालियाँ देकर हँसते थे। कुछ बेचारे इस आशा से रास्ते पर एकटक लगाये थे, कि राजकुमारों, राजकुमारियों और प्रधान गणिकाओं के हाथी आवेंगे। रास्ता देखते-देखते वे भूख-प्यास से व्याकुल थे। कोई बेचारे जब खलिहान से भूसा लेने पहुँचे तो उन्हें मालूम हुआ कि उनके पहले ही सवार उसे उठा ले गये थे। कोई चरी ले भागनेवालों से अपनी रक्षा कर रहा था। कुछ लोग घूस लेनेवालों से परेशान थे। कोई छुटे लोगों से पालेजों को लुटते देख हँसते थे। कोई गिरफ्तार लुटेरों की बात करता था। कोई दुःखी किसानों को, जिनके ईख के खेत लुट चुके थे, सान्त्वना देता था। कोई-कोई खड़े धान के खेतों से राजा का अभिनन्दन करते थे। रहने के लिए ठिकाना न पानेवाले, ठाकुरों से जबरदस्ती अपने घरों से निकाले हुए कुछ लोग माल-असबाब लिये जगह ढूँढ़ते थे। प्रधान हस्तिपतियों को देखकर लोग घबराहट से कोठारों में अन्न रखने लगते थे, बाड़े में उपले छिपाने लगते थे और बगीचे से तरबूज, करेला और ककड़ी नोड़ तोड़कर घर में छिपाने लगते थे। स्त्रियाँ अपने गहने छिपाने लगती थीं। ग्रामेयक सेना के स्वागत के लिए तोरण लगाए खड़े थे और भेंट के लिए फूल-फल हाथों में लिये थे। उस समय डेरे के बाँस बाँध दिये गये। मजीठिया और पीली कनातें (गृहपटल) तह कर ली गई और धीरे-धीरे हम समुद्र किनारे पहुँच गये।" पृ० ११८-१२२।

"यहाँ समतल जमीन में, जहाँ सुस्वादु पानी का सोता बह रहा था, डेरे पड़ गये। राजा के डेरे के कुछ दूर प्रधानामात्य के डेरे पड़ गये। सामन्तों के रंग-बिरंगे चंदवोंवाले तम्बुओं (घनवितानों) से वे घिरे थे। प्रत्येक द्वार पर मकर-तोरण लगे थे। बीच बीच में कर्मचारियों की कर्मशालाएँ बनी थीं। वीर शरीररक्षकों की रंग-बिरंगी रस्सियोंवाली लयनिकाएँ (विश्राम गृह) एक दूसरे से सटी थीं। जमीन में गड़े खूँटों की तीन कतारों में घोड़े बँधे थे और इस तरह से बने बाड़ों से पड़ाव घिरा था। पड़ाव में सफेद, लाल और रंग-बिरंगे मडवोंवाले अजिर थे, और गुम्बदवाले पटागार थे।" पृ० १२३

"वियोग से चित्त खिन्न होने पर भी मैंने अमात्यमंडल से सलाह की और परम-माण्डलिक की हैसियत से नजर में भेंट की हुई वस्तुओं का निरीक्षण किया। मैंने वेलाकूल के आसपास के नगरों से समुद्र-यात्राक्षम जहाजों को दो-तीन दिनों में लाने की आज्ञा दी। सब काम समाप्त करके अगले दिन, दोपहर के बाद, मैं अपनी परिषद् और ब्राह्मणों के साथ-तूर्य, घोष के साथ चला। सुन्दर वेश-भूषावाली स्त्रियां समुद्र की गम्भीरता, बड़प्पन और मर्यादा के गीत गा रही थीं। मैंने आचमन करके पुरोहित के हाथ में स्वर्ण के अर्घ्यपात्र में दही, दूध और अक्षत डाला और अच्छी तरह से भक्ष्य, बलि, विलेपन, फूलमाला, अंशुक और रत्नालंकारों से, बड़े भक्ति भाव से, भगवान रत्नाकर की पूजा की। यह सब करते-कराते रात हो गई और कूच का नगाड़ा बजने लगा। राजद्वार पर ऊँचे स्वर से मंगल-तूर्य बजने लगे। लोगों को अपनी नींद तोड़कर बाहर आना पड़ा। मजदूरों को अपनी कुटियों के बिस्तरों को कष्ट से छोड़ना पड़ा। रसोइयों में चतुर दासियों ने ईन्धन जलाया और चूल्हों और अंगीठियों के पास तवले सजाये। जुगाली करने के बाद सामने रखते हुए चारे को खाने के लिए इकट्ठे होकर बैल एक दूसरे पर मुँह और सींग चलाने लगे। आदमी गड़े बाँस (ऊर्ध्वदण्डिका) उखाड़ने लगे और तरनीर से कीलें निकालकर पड़ाव का विस्तार कम करने लगे। डोरियों से छुटकर चारों खंभे अलग हो गये। पटकुटियाँ नीचे उतारकर तह कर ली गईं। पटमण्डप भी तह कर लिया गया। सामन्तों के अन्तःपुर की कनातें (काण्डपट) गोलिया दी गईं। दुष्ट वाहनों पर सवार चेटियों का भय देख, विट मजा लेने लगे। सेना के जोर-शोर के साथ चलने से लोगों में कुतूहल पैदा होने लगा। दूकानों (पण्य-विपण्य-वीथी) के हट जाने पर ग्राहक हाथ में दाम लिये वृथा इधर-उधर भटकने लगे। नजदीक के गाँव में रहनेवाले कीकटों ने भोजन, चारा और ईंधन सँभाले। प्रयत्न से सामान हटाकर सैनिकों के डेरे खाली हो गये। इस प्रकार अनवरत सैन्यदल समुद्र के किनारे की ओर चल पड़ा। क्रमशः दिन चढ़ने पर लोगों ने अपने अभिमत देवताओं की पूजा की, खुद भोजन करके कर्मचारियों को खिलाया, बिखरे सामानों को इकट्ठा किया और सीधी जोत्रियां (युग्या) पर स्त्रियों को सवार कराया। लोगों की प्यास का ख्याल करके घड़े पानी से भर दिये गये। कमजोर भैंसों पर कंडाल, कुप्पे, कठौत, सूप और तवले लाद दिये गये। इस तरह पूरी सेना से अलग होकर कुछ साथियों के साथ मैं आस्थानमण्डप (दीवानखाना) से बाहर आया।" पृ० १२३—१२४

"चारों ओर के नौकर-चाकरों को हटाकर; अच्छे आसनों के हट जाने से मामूली आसनों पर बैठे हुए राजाओं के साथ सफर लायक हाथी-घोड़ों के साथ समुद्र के अवतार-मार्ग (गोदी) को देखा और बड़ो वेत्रिकों को जहाजियों के कामों को देखने के लिए भेजा। इनमें एक पच्चीस वर्ष का युवा नाविक था। इस युवक के उज्ज्वल वेश और आकार को देखकर मैं

चकित हुआ और उसका परिचय पास में बैठे नौ-सेनाध्यक्ष यक्षपालित से पूछा। उसने निवेदन किया—'कुमार, यह नाविक है और समस्त कैवर्त-तन्त्र का नायक है।' उसकी बात पर अविश्वास करते हुए मैंने कहा—'कैवर्तों के आकार से तो यह बिलकुल भिन्न देख पड़ता है।' इसके बाद यक्षपालित ने उसका जीवन-परिचय दिया। सुवर्णद्वीप के सायात्रिक वैश्रवण को बुढ़ापे में तारक नाम का पुत्र हुआ। वह शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद, जहाज पर बहुत-सा कीमती सामान (सारभाण्ड) लेकर, द्वीपान्तर की यात्रा किये हुए अनेक सायात्रिकों के साथ रंगशालापुरी आया। वहाँ समुद्र के किनारे बसनेवाले जलकेतु-नामक कर्णधार के साथ उसकी मित्रता हुई और कालान्तर में जलकेतु की पुत्री प्रियदर्शना से उसका प्रेम हो गया। वह प्रेमिका की गलियों का चक्कर काटने लगा। एक दिन वह बाला उसे देखकर सीढ़ी से लड़खड़ाकर नीचे गिरी पर तारक ने उसे सँभाल लिया। इसके बाद प्रियदर्शना ने उसे पतिरूप में अंगीकार कर लिया और दोनों साथ रहने लगे। लोगों ने कहा कि उस कन्या को तो जलकेतु ने जहाज टूटने पर समुद्र से पाया था और वास्तव में वह बनियाइन थी। साथियों ने तारक को घर वापस चलने पर जोर दिया, रिश्तेदारों ने उलाहना दिया, पर यह सब होने पर भी तारक लाज के कारण घर नहीं लौटा और आस्थानभूमि (राजधानी) में जा पहुँचा। वहाँ चन्द्रकेतु ने उसे देखा। वह उसका हाल परिजनों से सुन चुका था। तारक को उसने अपने दामाद-जैसा मान देकर सब नाविक-तन्त्र का मुखिया बना दिया। नाविकों की मुखियागिरी करते हुए वह थोड़े ही दिनों में सब नौ-प्रचार-विद्या (जहाजरानी) सीख गया। कर्णधारों के सब काम उसे विदित हो गये। गहरे पानी में वह बहुत बार आया-गया। बहुत दूर होते हुए भी द्वीपान्तर के देशों को देखा। छोटे-छोटे जलपथों को भी अपनी आँखों से देखा और उनमें सम-विषम स्थानों की खूब जाँच-पड़ताल कर ली (पृ० १२६-१३०)। कैवर्तकुल के दोष उसे छू तक नहीं गये थे और न उसमें बनियों की-सी भीरुता ही थी। पानी में डूबे जहाजों के उबारने में अनेक तरह की आपत्तियों से घिर जाने पर भी वह आसानी से मकरमुख से निकल आता था। रसातल—गम्भीर जल की विपत्तियों से वह घबराता नहीं, इसीलिए इस अवसर पर इसे ही कर्णधार बनाना चाहिए, क्योंकि यह अपने ज्ञान और भक्ति से कुमार को समुद्र पार ले जाने में क्षम होगा।' मन्त्री यह सब कह ही रहे थे कि कैवर्त-नायक पास आया और सिर झुकाकर स्नेह और आदर के साथ ऊँची और साफ आवाज में बोला—'युवराज, आपके विजय-प्रयाण की घोषणा सुनकर मैं समुद्रतट से आया हूँ और आते ही मैंने जहाजों में रस्सियाँ लगवा दी हैं। समस्त उपकरणों को लादकर मैंने उनपर काफी खाने का सामान रख लिया है, सुस्वादु जल से पानी के बरतनों को अच्छी तरह से भर लिया है, और काफी ईंधन भी साथ में ले लिया है। देह-स्थिति-साधन द्रव्य तथा घी, तेल कम्बल, दवाइयाँ, एवं द्वीपान्तर में और भी बहुत-सी न मिलनेवाली वस्तुएँ रख ली हैं। चारों ओर समर्थ नाविकों से युक्त मजबूत लकड़ी की बनी नावें गोदी (तीर्थ) पर लगवा दी हैं (पृ० १३०-३१) और उन नावों पर हथियारबन्द सिपाही तैनात कर दिये हैं। रथ, हाथी, घोड़े इत्यादि जिनका यात्रा में कोई काम न था, लौटा दिये गये हैं। कुमार के जहाज का नाम विजययात्रा है। किसी काम से अगर विलम्ब न हो तो अभ्युदय के लिए आप प्रस्थान करें।' उसकी यह बात सुनकर मौहूर्तिक ने मुझसे कहा कि प्रस्थान का उत्तम मुहूर्त आ पहुँचा है। इसके बाद मैं राजाओं से घिरा हुआ पानी के पास पहुँचा। वहाँ खड़े होकर, सिर हिलाकर, हाथ जोड़कर, मीठी बातें कहकर, हँसकर,

स्नेह-दृष्टि से देखकर मैंने यथायोग्य अनुचरों, अभिजनों, वृद्धों, बान्धवों, सुहृदों और राजसेवकों को विदा किया। कर्णधारियों के 'नाव, नाव' आवाज लगाने पर जहाजी नाव लाये। उसपर चढ़कर पहले मैंने भक्ति भाव से सागर को प्रणाम किया और इसके बाद तारक ने मुझे हाथ का सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। नाव के पुरोभाग में स्थित मत्तवारण (केबिन) के बीच में बने आसन के पास मेरे पहुँचने पर सुपर्द दिखाकर मेरी अभ्यर्थना करके राजपुत्र और परिजन अपनी नावों पर चढ़ गये। इसके बाद द्वीपान्तर के सामन्तों का आह्वान करता हुआ प्रयाणकाल में मंगल-शंख बजा। झल्लरी, पटह, पणव आदि बाजे भी बजने लगे और सुर मिलाकर बन्दीजन जयजयकार करने लगे। शकुनपाठक श्लोक पढ़ने लगे और ऊँचे सुर में गीत गाये जाने लगे। नाव के मन्दिरद्वारों को बन्द कर दिया गया। दासियों ने ऐपन के मांगलिक थापे मार दिये। ध्वजदण्ड पर रंगीन अनुकूलपताका चढ़ा दी गई। यद्यपि सब नाविक अपने-अपने कामों में बारबारी से जुटे थे, फिर भी, उपकरणों को ठीक करके, कर्णधार होने के नाते, तारक अपने हाथ में चौंड लेकर बैठ गया। अनुकूल हवा के झोंके में पाल (सितपट) चढ़ा दिये गये और नाव पानी को चीरती हुई धीरे-धीरे दक्षिण दिशा के पर्यन्त ग्राम, नगर और सन्निवेशोंवाले प्रदेश में जा पहुँची। हम सब अनेक जलचर, पशु-पक्षियों और जल-मानुषों की क्रीड़ा देखते हुए और साम, दान, दण्ड, भेद से सामन्तों और राजाओं को जीतते हुए, वनों, प्रतिनगरों, कई नगर के महलों, मणि, सुवर्ण और रजत की खानों, मुक्तावाहिनी सीपियों के ढेरों तथा चन्दन-वनों को देखते हुए चले। देशान्तरों से आते हुए अनेक व्यापारियों का यहाँ ठट्ठ लगा हुआ था और वे मामूली लोगों के हाटों में राजाओं के योग्य रत्न खरीद रहे थे। नाविक पानी में गोते मारने के लिए जल्दी अंजन (उबटन) लगाये हुए थे और मिट्टी का तेल (अग्नितैल) आदि द्रव्यों का संग्रह कर रहे थे। मस्तूल उठाते हुए, पालों में डोरी लगाते हुए, लंगर उठाते हुए और मीठे पानी की टंकियों की पेंदों को मूँदते हुए हम आगे चले। द्वीपान्तर के किनारों पर नगर थे। वहाँ के निवासियों के पास रक्षा के लिए बाँस की बाड़ें थीं। कर्णाटकलिपि में उत्कीर्ण चौड़ पत्तर ताड़-पत्रों पर लिखित पुस्तकें थीं; पर संस्कृत और देशी भाषाओं के काव्य-ग्रन्थ कम ही थे। लोगों में धर्माधर्म का कम विचार था। वर्णाश्रमधर्म के आचारों की कमी थी और पाखंड-व्यवहार का बोलबाला था। उनकी स्त्रियों की वेश-भूषा सुन्दर और भड़कीली थी। उनकी भाषा और बोली समझ में नहीं आती थी। वे आकार में भीषण और विकृत वेशाडम्बरधारी थे। क्रूरता में वे यम के समान थे और रावण की तरह दूसरों की स्त्रियों के हरण की अभिलाषा रखते थे। वे काले रंग के थे। उनकी बोली में ह्रस्व, दीर्घ और व्यंजन की कल्पना शाक थी। वे अपने कानों के एक छेद में चौड़े ताड़पत्र के बने ताटंक पहनते थे। अन्यायप्रियता से सशंक होने पर भी विकट कलह में विश्वास करते थे। लोहे के झनझनाते कड़े वे अपनी कलाइयों में पहनते थे। इस तरह का निशाचरियों से सुरक्षित, महारत्नों का निधान, द्वीपान्तर दूर ही से दिखाई दिया (पृ० १३४-१३४)।"

द्वीपान्तर के वर्णन के बाद सुवेल पर्वत का आलंकारिक वर्णन आता है जिसमें मुख्य बातें ये हैं—"वहाँ राजताल था तथा लवंग की लताएँ और हरिचन्दन की वीथियाँ थीं। एक समय शिविर में रहते हुए, भेजे हुए दूतों के आने और उनके कहने पर सब नाविकों को वस्त्राभरण से प्रसन्न करके, नाव पर कुछ दिनों का खाने-पीने का सामान इकट्ठा कर राजपुत्रों और योद्धाओं के साथ आगे बढ़े और झपाटे के साथ, सेतु के पश्चिम की ओर से बढ़ते हुए अपने

विषम-दुर्गबल से गर्वित किरातराज की राजधानी में अचानक जा धमके। दस्युगण को कराल शस्त्रों से समूल नष्ट करके उनकी स्त्रियों और द्रव्य के साथ शिविर में वापस आये। पहली कूच में, रात के तीसरे भाग में, 'युवराज कहाँ हैं ?, युवराज कहाँ हैं' पूछता हुआ अग्नि नाम का भट्टपुत्र मेरी नाव के पास आया और कहा कि सेनापति कहते हैं कि, 'यहाँ से पास ही समुद्र की बाईं ओर पंचशैलक द्वीप में रत्नकूट नाम का पर्वत है। वहाँ कास के जंगल के पास ठण्ढा और मीठा जल है। वहाँ स्वच्छन्द रूप से चन्दन के वृक्षों के नीचे निरन्तर फलनेवाले नारियल, केले, कटहल तथा पिण्डखजूर के वन हैं। नदी के किनारे देवता की पूजा के लिए बहुत-सी शिलाएँ हैं। वहीं डेरा डालना चाहिए। इतनी दूर आकर सेना थक गई है। रात के आलस और समुद्री हवा से लोग परीशान हैं। थके हुए नाविक डाँड़ चलाने में तथा निद्रातुर कर्णधार मस्तूल सीधा करने में असमर्थ हैं। हवा भी हमारे खिलाफ बह रही है। थके हुए निर्यामक शिविर की ओर जहाज बढ़ाने में असमर्थ हैं। आस-पास में आश्रम-योग्य कोई प्रदेश, द्वीप, सन्निवेश अथवा पर्वत भी नहीं है। सब जगह बेंत के जंगलों से भरा पानी-ही-पानी है। अतएव, चार दिन ठहरकर और पीछे आते हुए सैनिकों का इन्तजार करके तथा घायल सैनिकों की मरहम-पट्टी करके, भूखे, पैदल सिपाहियों की भूख, विचित्र फलों से मिटाकर, हवा के वेग से फटे पालों को सीकर और डोरियाँ लगाकर गिरितट के आघात से टूटे जहाजों के फलकों का सन्नि-बन्धन करके, रीते जलपात्रों को पुन. मीठे पानी से भरकर और अच्छी ईंधन की लकड़ी लेकर, हम, रोज बिना रुके, प्रयाण कर सकते हैं। प्रभु की आज्ञा ही प्रमाण है।' मैंने जरा सोचकर कह दिया, 'ऐसा ही होगा' और उसे विदा किया। इसके थोड़ी ही देर बाद सब जलचर क्षुभित हो गये। अपने अण्डों से भारुण्ड पक्षी उड़ने लगे। भारी-भारी जलहस्ती पानी के ऊपर आ गये। गुफाओं से शेर बाहर निकल आये। सारी सेना सैन्यावास की भेरी की आवाज सुनकर निश्चल-सी हो गई। ध्वजाएँ फड़फड़ाते हुए, जल्दी चलने में धक्के से टूटते-फूटते अनेक यानपात्र कष्ट से घाट पहुँचे। दसों दिशाएँ शोर-गुल से गूँज गईं। 'आर्य ! थोड़ा जाने का रास्ता दीजिए।' 'अंग, अपने अंगों से मुझे धक्का मत दो।' 'मंगलक, दूसरों को केहुनी से धक्का देना, यह कौन-सा बलदर्प है।' 'हंसहास्य, मेरे निवसन का छोर छूट गया है और पीछे से लगी लावण्यवती अपने स्तनों से धक्के दे रही है, इस तरह भीतर, बाहर, दोनों में मुझे पीड़ा हो रही है।' 'तरंगिके, दूर भाग, तेरे जघनरूपी भीत से तमाम सेना का रास्ता रुक गया है।' 'लवंगिके, परिकरबन्ध के दर्शन से भी परिचारक खिन्न शरीर होकर काँपता है। नाव से उतरते समय तेरे स्तन-जघन-भागों से पीड़ित प्रेक्षकों को लज्जा होगी।' 'व्याघ्रदत्त, दौड़ो, तुम्हारी दादी और सास जहाज से गिर गई हैं और मगर से उन्हें भय है।' 'आँसू क्यों बहाता है, दस्युनगर की नारियों के सोने के कर्णभूषण की बात सोच, नहीं तो कोई ठग तेरी गाँठ काट लेगा।' 'बलभद्रक, अच्छा होगा, अगर तू उग्रजनों से सताये गये मुझको दूसरों का भी घी दे दे।' 'मित्र वसुदत्त, क्या उत्तर दूँगा ! मालिक के प्रिय लड्डू खारे जल से नष्ट हो गये।' 'मन्थरक, वह मोटी कथरी हाथ से गिरते ही तिमिंगल निगल गया, अब जाड़े में ठिठुरकर मरना होगा।' 'भाई, तुमने गिरकर नौफलक से टकरा वृथा अपनी जघा तोड़ी, अब नौकर के अधीन होना पड़ेगा।' 'अग्निमित्र, तू सीढ़ी छोड़कर बेढ़े रास्ते क्यों आता है ? गिरकर ग्राहों का अतिथि हो जायगा।' 'अरे ग्रहिक, कछुए की पीठ वृथा मत ठोंक, दो अंगुलियाँ जोड़कर कछुए का मर्मस्थान ठोंक।' 'गहन बेंतों के दलदल में सिर पर चावल का बोझ रखे हुए वृद्ध सेवक संकट में फँस गया है, उसे पाँव पकड़कर खींच लें।'

इत्यादि। इस तरह की बातें सैनिक करते थे। उनमें से कुछ बालू पर सो गये, किसी को दौड़ने में सीप धँस गई, कोई-कोई फिसलती शिला से रपटकर लोगों का हास्यभाजन बना। इस तरह सबके तीर आजाने पर वायुमण्डल उत्साहपूर्ण कोलाहल से भर गया।" (पृ० १३६-१४०)

"क्रम से तट पर लाये गये कुछ जहाजी भार कम होने से अब हल्के हो गये और पर्वत के पूर्व-दक्षिण भूभाग में पड़ाव डालने के लिए अपने आवास की ओर चले। पाल उतार लिये गये, खूब गहरे गाड़े गये मजबूत काठ की कीलों से जहाज बाँध दिये गये। जहाजों की भारी नांगर-शिलाएँ नीचे लटका दी गईं। अपने सामान लेकर नाविक चले आये। बेचारे मजदूरों के हाथ बोझ ढोते-ढोते टूटने लगे। पुरोगामी सेवक मणिगुहागृह की ओर जाने लगे। वहाँ से लुटेरे साफ कर दिये गये। वहाँ लवंग और कपूर के वृक्ष तने खड़े थे तथा स्वादिष्ट पानी के झरने झर रहे थे। राजा के प्रिय विट आदि साँप के डर से चन्दनवृक्षों से हट गये थे। खूँटे गाड़कर पड़ाव की सीमा स्थिर कर दी गई थी। अमलों के खेमें (पटसद्म) इधर-उधर लग गये थे। पड़ाव से झाड़-झंखाड़ और काँटे साफ कर दिये गये थे। जल्दी से महलसरों ने स्त्रियों के डेरे तान दिये। वेश्याओं ने भी अपने डेरे लगा लिये। सूखे चन्दन की आग कर दी गई। बेचारे ठण्ढ और हवा से दुखी सैनिक अपने अंगों को मोड़कर थकावट मिटा रहे थे। प्रातःकाल सुवेल पर्वत की पश्चिमोत्तर दिशा से दिव्य मंगल-गीत की ध्वनि सुनाई पड़ी। मैंने यह जानना चाहा कि वह स्वर्गीय संगीत कहाँ से आ रहा है और उसके लिए यात्रा करना निश्चित किया। तारक ने पूछने पर कहा—'जाने में तो कोई हर्ज नहीं है, लेकिन रास्ता कठिन है। पर्वत-किनारे के समुद्र में महान् यत्न से भी जहाज चलाना मुश्किल है। वहाँ भीमकाय जलचर रहते हैं तथा पद-पद पर भयंकर भँवर जहाजों का मार्ग रोकते हैं। ऐसी नैसर्गिक कठिनाइयों के कारण कर्णधार सम-विषम जल-मार्गों में अपना रास्ता ठीक नहीं पकड़ सकते। रात में हर क्षण सहायता की आवश्यकता पड़ेगी।' यह सब सुनकर भी मैंने संगीतध्वनि का पता लगाने का निश्चय किया। तारक भी फौरन तैयार हो गया और नाव धीरे-धीरे संगीतध्वनि का अनुसरण करती हुई आगे बढ़ी।" (पृ० १४०-१४४)

"धैर्यवान् तथा जहाजरानी में कुशल तारक ने पाँच कर्णधारों को साथ ले लिया। निरन्तर जाँच करने से सब संधों का विश्वास होते हुए भी, छोटे-छोटे छेद ऊन और मोम से बन्द कर दिये। हवा से टूटी-फूटी रस्सियों को नई रस्सियों से बदल दिया। मजबूत पालों को भी बार-बार जाँचकर वह अपनी कुशलता का परिचय देता था। 'यह मकर-चक्र जा रहा है।' 'यहाँ नक्र-निकर पार कर रहा है।' 'यह शिशुमार-श्रेणी जा रही है।' 'यह सर्पों की श्रेणी तैर रही है।' 'दीपक लाओ, चारों ओर प्रकाश फेंको।' 'दुष्ट जलचरों को पास से दूर भगाओ।' 'देखो, सामने, सिंह मकर के ऊपर लपकना चाहता है, उसके मुँह की ओर जल्दी से पानी पर तेल की लुकारी फेंको।' 'किनारे पर सोता जल-हस्तियों का यूथ समुद्र में कूद गया।' 'एक साथ ताली दिलवाकर कमठों को दूर भगा दो।' जलहस्ती और मछलियों के झुण्ड के पीछे धीमी गति से शिकार खेलने तिमिंगल को आते देख वहाँ महान् अनर्थ से बचने के लिए वह लोगों को कलकल करने से मना करता था। लहरों में पैदा हुई और कुम्हार के चाकों की तरह घूमती भौंरियों से बचता हुआ वह बाईं ओर शीघ्रता के साथ उन भौंरियों को लाँघ जाता था। मेह और बवण्डर को देखकर वह लग्गी लगने, पाल की डोरियों को खींचने, लंगर डालने और डाँड चलाने की आज्ञा देता था। 'मकरक, रास्ते में आई चन्दन की डाल को ऊपर उठा दो।' 'शकुलक, लापरवाही से, नाव का पेंदा तेल के कीचड़ में डूब गया है।' 'अधीर, मेरी बात मत सुन, निराकुल होकर चल। अपनी नींद-भरी

आँखों को खारे जल से धो।' 'राजिलक, मना करने पर भी जहाज दक्षिण दिशा की ओर जा रहा है ; लगता है, तुम्हें दिङ्मोह हो गया है, बतलाने पर भी तुम्हें उत्तर दिशा का पता नहीं चलता, सप्तर्षि-मण्डल को देखकर नाव लौटा।" (पृ० १४०-१४१)

उपर्युक्त विवरण से मध्यकालीन भारतीय राजाओं की विजययात्राओं के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों का पता चलता है। बड़ी सज-धज के साथ समरकेतु विजय-यात्रा पर निकले थे। शुभ मुहूर्त में, पूजा करने के बाद, वे बाजे-गाजे के साथ, हाथी पर बैठे। उनकी सेना के पड़ाव का भी सुन्दर वर्णन आया है। पड़ाव में द्वीपान्तर जानेवाले माल का ढेर लगा था और घोड़े तथा खच्चरों के साथ सार्थ भी वहाँ पड़े थे। बनिये भात, दही और लड्डू बेच रहे थे। सेना के आने का समाचार सुनकर गाँव के सब लोग इकट्ठे होने लगे और आपस में सेना के बारे में तरह-तरह के प्रश्न करने लगे और उत्कण्ठा से राजा के आने की बाट जोहने लगे। इतना ही नहीं, उन्हें इस मजे का नुकसान भी उठाना पड़ा। सवार उनका भूसा लूट ले गये, कोई उन्हें घेरकर घूस वसूल करता था; किसी के ईख के खेत लुट चुके थे और बहुतों को ठाकुरों ने घर से निकालकर उनके घर दखल कर लिये थे। लोग अन्न, तरकारियाँ, उपले इत्यादि छिपा रहे थे और स्त्रियाँ अपने गहने-कपड़ों की फिक्र में थीं। बेचारे ग्राम के छोटे कर्मचारी फूल-फल से सेना का स्वागत कर रहे थे।

समुद्र के पास डेरा पड़ने का भी अच्छा वर्णन आया है। पड़ाव में अनेक घनवितान (तम्बू) थे। राजा के डेरे से कुछ हटकर अमात्य का डेरा था और बीच-बीच में कर्मचारियों के खेमे लगे थे। अंग रक्षकों के विश्रामघर एक दूसरे से सटे हुए थे। पड़ाव के चारों ओर रक्षा के लिए बाँस का तिहरा बाड़ा था। पड़ाव में अजिर और पटागार नाम के भीबहुत-से खेमे थे।

पड़ाव में पहुँचकर समरकेतु ने लोगों के उपायन स्वीकार किये और स्वस्थ होने के बाद मजबूत जहाजों को लाने की आज्ञा दी। इसके बाद कुमार के समुद्र-तीर पहुँचने का भी स्वाभाविक वर्णन है। उस समय स्त्रियाँ समुद्र की महिमा गा रही थीं। कुमार ने समुद्र की बड़े भक्तिभाव से पूजा की। इतने में रात हो गई और पड़ाव उखड़ने लगा और सुबह कुमार के साथ जानेवाला सैन्यदल समुद्र-किनारे आ पहुँचा।

समुद्र के किनारे प्रधान कर्णधार तारक से कुमार की भेंट हुई। तारक एक बहुत ही कुशल नाविक था। पानी में की अनेक आपत्तियों की वह जरा भी परवा नहीं करता था। नौप्रचारविद्या, यानी जहाजरानी पर उसे पूरा अधिकार था। वह बहुत बार द्वीपान्तर हो आया था और वहाँ के छोटे-छोटे जलमार्गों का भी उसे ज्ञान था। उसने कुमार से कहा कि मैंने जहाजों में नई रस्सियाँ लगा दी हैं और उनपर सब उपकरण और खाने-पीने का सामान जैसे, घी, तेल, कम्बल, औषधियाँ और द्वीपान्तर में न मिलनेवाली वस्तुएँ भर ली हैं तथा नावों पर सशस्त्र सैनिक तैनात कर दिये हैं। बाद में सबको विदा करके कुमार जहाज पर चढ़े और उनके साथी दूसरे जहाजों पर हो लिये। शंखध्वनि के बाद, बाजे-गाजे और विरुदों के बीच जहाज चल पड़ा। अनेक देशों को पार करते हुए और राजाओं और सामन्तों को जीतते हुए वे द्वीपान्तर पहुँचे। यहाँ विदेशी व्यापारियों की भीड़ लोगों से सोना और रत्न खरीद रही थी तथा नाविक जरूरी उपकरणों का संग्रह कर रहे थे। द्वीपान्तर के निवासी बाँस की ढालें रखते थे। उनकी लिपि कर्णाटक-लिपि से मिलती जुलती थी। वर्णाश्रम-धर्म के माननेवाले कम थे। स्त्रियाँ भड़कीले कपड़े पहनती थीं और आदमियों का वेश अजीब होता था। वे ताड़ के कुण्डल, और लोहे के कड़े

पहनते थे। दूसरे की स्त्रियों के अपहरण के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। द्वीपान्तर में शाल, ताल, लवंग, चन्दन, कपूर इत्यादि होते थे।

किरातराज को हटाकर कुमार ने सुवेल के आस-पास इसलिए डेरा डाला कि उनके सैनिक और नाविक थक गये थे और घायलों की मलहम-पट्टी करना आवश्यक था। नाव से उतरते समय, नाविकों और सैनिकों की बातचीत का ढंग बिलकुल आधुनिक नाविकों की तरह ही था। इस पड़ाव से संगीतध्वनि सुनकर कुमार ने उसके पीछे चलने का निश्चय किया। रास्ते में तारक ने रस्सियों को बदलकर, नाव के छेदों को बन्द करके, पालों को जाँचकर, जलचरों को प्रकाश से दूर भगाकर, लहरों और आवर्तों से बचकर अपनी जहाजरानी में कुशलता का परिचय दिया।

२

हम पहले खण्ड में देख आये हैं कि भारतीय बेड़े किस तरह ग्यारहवीं सदी में द्वीपान्तर जाते थे। भारत के पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट पर राजाओं के बेड़े और उनकी लड़ाइयों के कम उल्लेख हमें मिलते हैं। ७वीं सदी में सिन्ध से लेकर मालाबार तथा कन्याकुमारी से लेकर ताम्रलिप्ति तक भारतीय राजाओं के समुद्री बेड़े थे। ऐसे ही बेड़ों की, पश्चिमी तट पर, अरबों के बेड़ों से मुठभेड़ हुई होगी। हमें यह भी पता है कि किस तरह पल्लवराज नरसिंहवर्मन् ने अपना बेड़ा सिंहलराज की सहायता के लिए भेजा था, पर इन बेड़ों के सम्बन्ध में अभिलेखों में बहुत कम उल्लेख मिलता है। भाग्यवश, गोआ और कोंकण में कुछ ऐसे वीरगल हैं जिनपर जहाजों के चित्रण हैं। ये वीरगल उन वीरों की स्मृति में बनाये गये जिन्होंने किसी नाविक युद्ध में अथवा दुर्घटना में अपनी जान गँवाई थी। बम्बई के पास, वेस्टर्न रेलवे पर, बोरिविली स्टेशन से उत्तर-पश्चिम एक मील की दूरी पर, एकसर नामक गाँव में छः वीरगल हैं, जिनका समय ग्यारहवीं सदी हो सकता है। इनमें से दो वीरगलों पर तो जमीनी लड़ाई के दृश्य अंकित हैं। पहले वीरगल (१०'×३'×६") में चार खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में, बाईं ओर, दो तलवारबन्द घुड़सवारों ने एक धनुर्धारी को मार गिराया है। दाहिनी ओर, मृतात्मा, दूसरी मृतात्माओं के साथ बादल पर चढ़कर, इन्द्रलोक जा रही है। दूसरे खाने में, दाहिनी ओर, दो घुड़सवार छः हथियार-बन्द सिपाहियों का सामना करते हुए एक धनुर्धारी को छोड़कर भाग रहे हैं। तीसरे खाने में, बाईं ओर से एक पैदल सिपाही ने धनुर्धारी को एक भाला मारा है। पैदल सिपाही के पीछे, हाथियों पर सवार धनुर्धारी हैं और उनके नीचे ढाल-तलवार से लैस तीन आदमी। इसी खाने के दाहिनी ओर एक मृतात्मा दूसरी आत्माओं के संग विमान पर चढ़कर स्वर्ग जा रहा है। थोड़े ही ऊपर स्वर्ग-अप्सराएँ उसे शिवलोक में ले जा रही हैं। चौथे खाने में शिवलोक का प्रदर्शन हुआ है, बाईं तरफ एक स्त्री और पुरुष शिवलिंग की पूजा कर रहे हैं। दाहिनी ओर नाच-गान हो रहा है, ऊपर, अस्थिकलश के साथ-साथ माला लिये हुए अप्सराएँ दिखलाई गई हैं।

दूसरे नम्बर के वीरगल (१० फुट×३फुट×६ इंच) में भी चार खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में जमीन पर तीन मृत शरीर पड़े हुए हैं। इन तीनों मृत शरीरों पर अप्सराएँ फूल माला बरसा रही हैं। दाहिनी ओर, हाथियों पर सवार एक राजा, दूसरा सेनापति अथवा उसका मन्त्री है। राजा का हाथी खूब सजा हुआ है और उसकी अम्बारी पर छतरी लगी हुई है। हाथी अपनी सूँड़ से एक आदमी को जमीन पर पटककर उसे रौंद रहा है। दूसरे खाने में मध्य की आकृति एक राजा की है। उसके ऊपर एक सेवक छाता ताने हुए है और एक दूसरा सेवक शायद

गुलाबपाश लिये हुए खड़ा है। दाहिनी ओर, एक घुड़सवार राजा से युद्ध कर रहा है। बहुत-से आदमी ऊपर और नीचे लड़ाई कर रहे हैं। तीसरे खाने में, बाईं ओर, एक दूसरे के पीछे तीन हाथी हैं जिनपर हाथ में अंकुश लिये हुए महावत बैठे हैं। सामने दो दढ़ियल लड़ रहे हैं। बीच में एक राजा हाथी पर चढ़ा हुआ युद्ध कर रहा है। सिपाहियों के छिदे हुए कान और बड़ी-बड़ी बालियाँ उनका कोंकण का होना सिद्ध करती हैं। अरब सौदागर सुलेमान का भी यह कहना है कि कोंकण के लोग बालियाँ पहनते थे [1]। चौथे खाने में कैलाश का दृश्य है। बाईं ओर, मृत योद्धा है जिसके ऊपर अप्सराएँ माला गिरा रही हैं। दाहिनी ओर, स्त्रियाँ नाच-गा रही हैं। सिरे पर अस्थिकलश है जिसके अगल-बगल मालाएँ लिये हुए देवता उड़ रहे हैं।

तीसरे वीरगल (१० फुट × ३ फुट × ६ इंच) में चार खाने हैं। सबसे नीचेवाले खाने में मस्तूलों से लैस नोकदार पाँच जहाज हैं जिनके एक ओर नौ डाँड़ चल रहे हैं। ये जहाज लड़ाई के लिए बढ़ रहे हैं और उनके ऊँचे डेक पर धनुर्धारी योद्धा खड़े हैं। इन पाँचों जहाजों में आखिरी जहाज राजा का है, क्योंकि उसमें गलही पर स्त्रियाँ देख पड़ती हैं। दूसरे खाने में चार जहाज हैं जो नीचे के बेड़े का एक भाग मालूम पड़ते हैं। ये जहाज एक बड़े जहाज पर धावा कर रहे हैं जिसके नाविक समुद्र में गिर रहे हैं। उस खाने के ऊपर ग्यारहवीं सदी का एक लेख है जो अब पढ़ा नहीं जाता। तीसरे खाने में बाईं ओर, तीन आदमी शिवलिंग की पूजा कर रहे हैं। दाहिनी ओर, गन्धर्वों का एक दल है। चौथे खाने में हिमालय के बीच देवताओं-सहित शिव और पार्वती की मूर्ति है; सिरे पर अस्थिकलश है (आ० ५ अ० व०)।

चौथे वीरगल (१० फुट × ३ फुट × ६ इंच) में आठ खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में ग्यारह जहाज हैं जो अस्त्रों से सज्जित, सिपाहियों से भरे, एक जहाज पर आक्रमण कर रहे हैं। दूसरे खाने में बाईं ओर से पाँच जहाज दाहिनी ओर से आती हुई एक नाव से भिड़ रहे हैं; नाव के घायल सिपाही पानी में गिर रहे हैं। खाने के नीचे एक ग्यारहवीं सदी का लेख है जो अब पढ़ा नहीं जाता। तीसरे खाने में, जीत के बाद नौ जहाज जाते हुए दिखलाई दे रहे हैं। चौथे खाने में जहाजों से सेना उतरकर कूच कर रही है। पाँचवे खाने में बाईं ओर से सेना बढ़ रही है; शायद कोई सम्मानित आदमी, चार सेवकों के साथ, उनका स्वागत कर रहा है। छठे खाने में बाईं ओर आठ आदमी एक शिवलिंग की पूजा कर रहे हैं; दाहिनी ओर अप्सराओं और गंधर्वों का नाच-गान हो रहा है। सातवें खाने में शायद शिव का चित्रण है, बाईं ओर अप्सराओं के साथ योद्धा हैं और दाहिनी ओर वादक नरसिंघा, शंख और झाँझ बजा रहे हैं। आठवें खाने में स्वर्ग में महादेव का मन्दिर है (आ० ६)।

पाँचवें वीरगल में (६ फुट × ३ फुट × ६ इंच) चार खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में छः जहाज मस्तूल और डाँड़ों से युक्त जा रहे हैं। पूपवाले एक जहाज में छत्र के नीचे एक राजा बैठा है। दूसरे खाने में बाईं ओरसे छः जहाज और दाहिनी ओर से तीन जहाज बीच में भीड़ रहे हैं। इस लड़ाई में घायल होकर अथवा मरकर बहुत-से वीर पानी में गिर रहे हैं। बीचवाले जहाज से अप्सराएँ उन योद्धाओं पर माला फेंक रही हैं। तीसरे खाने में स्वर्ग का दृश्य है; बीच में एक लिंग है, जिसकी पूजा एक कुरसी पर बैठा हुआ योद्धा कर रहा है, उसके पीछे पूजा का सामान लिये हुए कुछ स्त्रियाँ खड़ी हैं; दाहिनी ओर गन्धर्व और अप्सराएँ गा-बजा रही हैं। सबसे ऊपर के खाने में एक राजा दरबार कर रहा है और अप्सराएँ उसे सलाम कर रही हैं (आ० ७)।

---

१. ईलियट, भा० १, पृ० ३

छठे वीरगल में (४ फुट × १५ इंच × ६ इंच) दो खाने हैं। नीचे के खाने में समुद्री लड़ाई हो रही है और ऊपरी खाने में स्वर्ग में बैठा हुआ एक योद्धा[1] है (आ० ८)।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इन वीरगलों के लेखों के मिट जाने से यह कहना बहुत कठिन है कि वीरगलों पर उल्लिखित स्थल और जल की लड़ाई में भाग लेनेवाले कौन थे। स्वर्गीय श्री ब्राज फरनैंडिस का यह मत था कि शायद ये वीरगल कदम्बों और शिलाहारों की किसी लड़ाई पर प्रकाश डालते हैं। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह लड़ाई काफी अहमियत रखती थी और शायद इस लड़ाई का स्थान सुपारा के समुद्री तट के आस-पास रहा होगा। यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यह समुद्री लड़ाई शायद सुपारा के बन्दरगाह को कब्जे में करने के लिए लड़ी गई होगी।

यहाँ हम ग्यारहवीं सदी की उस ऐतिहासिक घटना की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिनमें मालवा के प्रसिद्ध सम्राट् भोज ने कोंकण को विजित किया था। भोजराज के बाँसवाड़ा के ताम्रपत्र[2] से पता लगता है कि १०२० ई० में कोंकण-विजयपर्व के उपलक्ष्य में भोजदेव ने एक ब्राह्मण को कुछ जमीन दान में दी। इन्दौर के पास बेटमा से मिले हुए १०२० ई० के ताम्रपत्र[3] से भी यह पता लगता है कि भोजदेव ने कोंकण-विजय के पर्व पर न्यायपद्र (कैरा जिले में नापड) में एक ब्राह्मण को एक गाँव दान दिया था। यशोवर्मन् के कालवन (नासिक जिला) के एक ताम्रपत्र[4] से हमें पता चलता है कि भोजदेव की कृपा से यशोवर्मन् ने सूर्यग्रहण के अवसर पर एक ब्राह्मण को कुछ दान दिया था। इन लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भोजदेव ने १०१६ ई० के पहले कोंकण जीत लिया था। भोजराज का नासिक तक अधिकार होना भी इस बात की पुष्टि करता है। लगता है कि उज्जैनवाले महापथ पर चलते हुए भोज की सेना नासिक पहुँची और वहाँ से नानाघाट के रास्ते से सोपारा। यहाँ उसकी शायद कोंकण के राजाओं से लड़ाई हुई होगी जिसमें दोनों ओर के समुद्री बेड़ों ने भाग लिया होगा, पर भोज की यह विजय क्षणिक ही रही; क्योंकि १०२४ ई० के शायद कुछ पहले कल्याणी के जयसिंह ने सप्त कोंकणों के अधिपति भोजराज को वहाँ से हटा दिया।[5] भोजदेव का कोंकण के साथ परिचय का पता हमें दूसरी ओर से भी मिलता है। हम ऊपर देख आये हैं कि युक्तिकल्पतरु में भोजदेव ने जहाजों का आँखों-देखा वर्णन किया है। उनकी बातें केवल शास्त्रीय न होकर आँखों-देखी थीं। जो जहाज उन्होंने देखे, उनमें से अधिकतर कोंकण के समुद्रतट पर चलते थे और शायद कोंकण की लड़ाई में सुपारा से कुछ लड़ाकू जहाजों का बेड़ा लेकर भोज आगे बढ़े हों। हमें आशा है कि इस सम्बन्ध में विद्वज्जन और प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।[6]

---

१. थाना गजेटियर, भा० १४, पृ० ४७-४६

२ इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १६१२, पृ० २०१

३. एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १८, पृ० ३२०-३२५

४. वही, भा० १६, पृ० ६६ से ७५

५. राय, डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, भा० २, पृ० ८६८

६. डा० आलटेकर के अनुसार इन वीरगलों में शिलाहार राजा सोमेश्वर (करीब १२४०-१२६१) पर यादवराज महादेव द्वारा हाथी-समेत फौज और जहाजी बेड़े का आक्रमण है, जिसमें सोमेश्वर ने महादेव के हाथ में पड़ने के बनिस्बत डूब कर मरना कबूल किया। इंडियन कलचर, २, पृ० ४१७

तेरहवाँ अध्याय

भारतीय कला में सार्थ

पिछले अध्यायों में हमने ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा व्यापारिक आधारों पर यह बतलाया है कि भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में विजेता, सार्थवाह और व्यापारी किस तरह जल और स्थलमार्गों से भारत का अंतर्राष्ट्रीय और अंतरदेशीय सम्बन्ध कायम रखे हुए थे। इस अध्याय में हम इस बात का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय कला में सार्थ-सम्बन्धी कितना मसाला मिलता है। आरंभिक युग की भारतीय कला में सादृश्यवाद होने से हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि उसमें जल और स्थल-सम्बन्धी सार्थ के कुछ चित्र मिलेंगे, पर अभाग्यवश भारतीय जीवन के बहुत-से अंशों पर प्रकाश डालते हुए भी प्राचीन भारतीय कला यात्राओं के बारे में कुछ चुप-सी है। इसी वजह से हमें उसमें जहाजों और नावों के बहुत कम चित्रण देख पड़ते हैं तथा स्थलमार्ग से चलनेवाले सार्थों के जीवन पर भी उनसे अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

जैसा हम दूसरे अध्याय में देख आये हैं, हड़प्पा-युग की संस्कृति में हमें नावों के केवल दो चित्रण मिलते हैं जिनमें एक पर तो फहराता हुआ पाल भी है। इन नावों के आगे और पीछे, दोनों नुकीले होते थे (आ० १-२)। इन दोनों चित्रों के बाद हमें बहुत दिनों तक किसी जहाज का चित्रण भारतीय कला में नहीं मिलता। ई० पू० दूसरी सदी में हमें फिर एक बार भारतीय जहाज का एक चित्रण मिलता है। भरहुत[1] में एक जगह एक नाव का चित्रण हुआ है जिसका आगा और पीछा दोनों नुकीले हैं। इस जहाज को तीन नाविक खेते हुए दिखलाये गये हैं। जहाज बड़े ही पुराने तरीके से बना मालूम पड़ता है। इसे बनाने के लिए नारियल की जटा से सिले हुए तख्ते काम में लाये गये हैं। जहाज पर एक तिमिंगल ने धावा कर दिया है जो जहाज से गिरे हुए कुछ यात्रियों को निगल रहा है (आ० ६)। के० बरुआ[2] के अनुसार इस दृश्य में बुद्ध की कृपा से तिमिंगल के मुख से वसुगुप्त की रक्षा का चित्रण है।

साँची में भी नावों के बहुत कम चित्रण हैं। केवल दो ही स्थानों में नावें दिखलाई गई हैं। एक जगह तो नदी पर चलती हुई एक मिले हुए तख्तों से बनी नाव दिखलाई गई है[3]। (आ० १०) दूसरी जगह नाव एक अजीब जानवर की शक्ल में बनी हुई है (आ० ११) जिसका धड़ मछली की तरह और मुँह शार्दूल की तरह है। नाव के बीच में एक मंडप है। नाव एक नाविक द्वारा खेई जा रही है[4]।

---

१ बरुआ, भरहुत, भा० १, प्लेट Lx १४, आ० ८९
२. वही, भा० २, पृ० ७८ से
३. मार्शल, साँची, भा० २, प्लेट Li
४. वही, प्लेट Lxv

अमरावती, नागार्जुनी कुण्ड और गोली के अर्धचित्रों में भी सिवा अमरावती को छोड़कर और कहीं नाव का चित्रण नहीं मिलता। सातवाहन-युग से इन अर्धचित्रों का संबन्ध रहने से इस बात की आशा की जा सकती है कि इन अर्धचित्रों में जहाजों और व्यापारियों के चित्र अवश्य होंगे। भाग्यवश, जैसा कि हम पाँचवें अध्याय में देख आये हैं, श्रीयज्ञसातकर्णी के कुछ सिक्के मिले हैं जिनके पट पर दो मस्तूलों, रस्सियों, पालों से सुसज्जित नुकीले किनारोंवाला एक जहाज है। इसमें शक नहीं कि ऐसे ही जहाज ईसा की दूसरी सदी में भारत के पूर्वी तट से एक ओर चीन तक और दूसरी ओर सिकन्दरिया तक चलते रहे होंगे।

अमरावती[1] के एक अर्धचित्र के बीच के भाग में एक नाव अथवा जहाज का चित्रण है (आ० १२)। नाव का तला सपाट है और माथा चौकोना। उसके बीच में एक मत्तवारण है जिसमें एक कुर्सी पर कोई परिचय-चिह्न है। पिछाड़ी पर एक नाविक डाँड़े के साथ बैठा है। माथे पर एक हाथ जोड़े हुए बौद्ध भिक्षु है। लगता है, इस अर्धचित्र का अभिप्राय सिंहल अथवा किसी दूसरी जगह बुद्ध की धातु ले जाने से है।

गुप्तयुग में भी जैसा हम पहले देख आये हैं, भारतीय जहाजरानी बहुत ऊपर उठ चुकी थी; पर अभाग्यवश गुप्त-कला में हमें जहाजों के चित्रण कम मिलते हैं। बसाढ़ से मिली गुप्तकालीन एक मिट्टी की मुद्रा पर एक जहाज के ऊपर लक्ष्मी खड़ी दिखलाई गई हैं[2] (आ० १३)। इस मुद्रा पर की आकृति इतनी पेचीदा है कि उसका ठीक-ठीक वर्णन आसान नहीं है। सबसे पहले मुद्रा के निचले बदामें में एक सींग की तरह कोई वस्तु है जिससे एक जहाज के निचले भाग का बोध होता है। इस जहाज के मध्यभाग का बगल अगाड़ी-पिछाड़ी से ऊँचा है। यहाँ पर दो समानान्तररेखाएँ शायद जहाज के बीच मुसाफिरों के लिए माला (deck) की द्योतक हैं। जहाज का माथा बाईं ओर है। दाहिनी ओर पिछाड़ी की तरफ पानी में तिरछा जाता हुआ एक डाँड़ा है। ऊपर की रेखा के बाएँ कोने में, माथे की ओर, क्रमशः झुकती हुई दो समानान्तररेखाएँ हैं। इनके पीछे तीन पताकादंड हैं जो उपर्युक्त रेखाओं से ऊँचे उठते हुए सिरे पर इस तरह पिछाड़ी की ओर झुक जाते हैं कि बाईं ओर का दंड सबसे अधिक झुका मालूम पड़ता है। जहाज के पिछाड़ी की ओर एक बड़ा ध्वजदंड है जिससे ध्वजाएँ लटक रही हैं। इन ध्वजाओं के बीच में एक पाएदार चौखूटा चबूतरा है जिसपर एक देवी मलमल की साड़ी पहने खड़ी है। उसके दाहिनी ओर एक शंख है और उसके नीचे एक शेर है। शंख होने से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह देवी लक्ष्मी हैं। यह ठीक ही है कि धन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी का सम्बन्ध भारत के जहाजों से दिखलाया जाय जो प्राचीनकाल में अपार धन इस देश में लाते थे। यह मुद्रा प्राचीन संस्कृत कहावत 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' को भी चरितार्थ करती है।

अजंटा के भित्तिचित्रों में हम जहाजों के चित्रण ढूँढ़ते हैं; पर उनमें जहाजों के चित्रण दो बार ही हुए हैं। सत्रहवीं नंबर की लेण में विजय की सिंहल-यात्रा का चित्रण है[3] (आ० १४ ए-बी)। इसमें एक नाव तो बिलकुल बदामें कटोरे की तरह है जिसका मत्था मकर-मुख की तरह बना है। उसमें दो डाँड़े लगे हुए हैं। इसमें घुड़सवार चढ़े हुए हैं। इसके आगेवाली दो नावों पर जिनके आगे-पीछे नोकदार हैं, हाथी हैं। इन नावों के मुखौटे भी मकराकार हैं।

---

१. फर्गुसन, ट्री एंड सर्पेंट वर्शिप, प्ले० Lxviii

२. आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० १२६-१३०, प्ले० Xlvi, ४३

३. हेरिंघम, अजंटा, प्ले०, Xlii, ४७

अजंटा की दूसरी नम्बर की लेण में,[1] जैसा कि हम सातवें अध्याय में देख आये हैं, पूर्णावदान के सम्बन्ध में एक जहाज का चित्रण है (आ० १५)। इस जहाज का आगा-पीछा नोकदार है और उसपर आँखें बनी हुई हैं। उसके दोनों ही सिरे पर माथा-काठ लगे हुए हैं। जहाज में तीन पाल और मस्तूल हैं। पिछाडी पर एक चौथा पाल एक चौखूटे में तिरछे मस्तूल के साथ लहरा रहा है। माथे की तरफ एक मत्तवारण हैं। उसके बाद छाएदार मंडपों के नीचे बारह घड़े हैं जिनसे शायद पीने के लिए पानी अथवा किसी दूसरे तरह के माल का तात्पर्य है। समुद्र में दो नारीमत्स्य तैरते हुए दिखलाये गये हैं।

अजंटा में तीसरी जगह शायद नदी पर चलनेवाली नाव का चित्रण है[2] (आ० १६)। नाव अगाड़ी-पिछाड़ी पर नोकदार है और उसपर आँखें बनी हुई हैं। नाव के बीच में एक परदेदार मंडप है जिसके बीच में एक राजा बैठा है जिसके दोनों ओर दो-दो मुसाहिब हैं। पिछाड़ी की ओर एक आदमी के हाथ में छाता है और एक दूसरा आदमी पतवार से नाव का संचालन कर रहा है। माथे पर एक सीढ़ी पर चढ़ा हुआ नाविक डाँड चला रहा है।

ऊपर हम देख आये हैं कि प्राचीन भारतीय कला में नावों के कितने कम चित्रण हैं। भाग्यवश बारावुदूर के अर्धचित्रों से हमें आठवीं सदी के मध्य के भारतीय जहाजों के अनेक चित्र मिल जाते हैं।[3] माथाकाठवाले (outrigger) की पाँच आकृतियाँ मिलती हैं। ऊँची अगाड़ी-पिछाड़ीवाले ये बड़े जहाज युरोपियनों के आने के पहले मलक्का के कुरा-कुरा जहाज से बहुत-कुछ मिलते हैं।

एक जहाज का माथाकाठ तीन तख्तों और तीन पालकी टेढ़ी लकड़ियों (Booms) से बना है (आ० १७)। माथाकाठ के ऊपर की सूचियों का उद्देश्य शायद बूमों को ठीक जगह पर रखने अथवा तूफान में जहाज को स्थिर रखने के लिए अथवा नाविकों के बैठने के लिए था। आज दिन भी देशी जहाजों पर यही व्यवस्था होती है। अगाड़ी और पिछाड़ी पर खुले झापे लहरों का जोर तोड़ने के लिए बने हैं। पिछाड़ी की एक गेलरी में एक नाविक है। अजंटा के जहाज पर भी यह बनावट दीख पड़ती है। जहाज माल से भर जाने पर नाविक इसका उपयोग लंगड़ों के रखने और समुद्र में उन्हें उतारने के लिए करते थे। इस जहाज के अगाड़ी और पिछाड़ी पर हम आँखें बनी देखते हैं जिनका लाक्षणिक अर्थ जहाज की गति अथवा समुद्र पर ध्यान है। ये आँखें अजंटा के जहाज और पूर्वी जावा के कुरा-कुरा तथा बटेविया के प्राहू पर भी देखी जा सकती हैं। पतवार जहाज के पिछाड़ी में है। दो मस्तूलों के बीच में कपड़े से ढका एक मत्तवारण (leckhouse) है। अगाड़ी का मस्तूल ऊँचा है। कुछ सामने झुके दोनों मस्तूल गोल लकड़ियों के बने हैं तथा जहाज की अगाड़ी-पिछाड़ी की रस्सियों से तने हैं। बारावुदूर के दूसरे माथाकाठवाले जहाजों से पता चलता है कि मस्तूलों पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं। मस्तूल का सिरा, जहाँ दो बिंदु मिलते हैं और जहाँ से रस्सियाँ निकलती हैं, जरा झुका हुआ है। वहाँ एक वस्तु है जिसकी तुलना मकासारी जहाज पेदुकवाग के मस्तूल पर लगी रस्सी की गेडुरियों से की जा सकती है। दोनों मस्तूलों में चौखूटी पालें लगी हैं। माथे पर

---

१. याजदानी, अजंटा, आ० २, प्लेट० XlII

२. ग्रिफिथ, अजंटा, पृ० १७

३. क्रोम, बाराबुदूर, आ० १, पृ० २२५-२३८, दी हाग, १९२७

लगता है कि खेने का काम डाँड़े खींचकर नहीं, बल्कि ढकेलकर होता था। मस्तूल की छल्ली के ऊपर एक गद्दी-सी है। जहाज के आगे और पीछे गोल खंभों पर पुलिया (derrick) चढ़ी हुई हैं। नाव के पीछे एक झंडा लगा है जिसमें माथाकाठ नहीं है। शायद उसके लिए जगह ही नहीं थी। इस जहाज में भी पाल उतारी जा रही है। इस जहाज के पीछे और आगे जलतोड़ काफी ऊँचे हैं।

उपर्युक्त जहाजों के सिवा बाराबुदूर के अर्धचित्रों में तीन और मजबूत जहाजों के नक्शे मिलते हैं। इनमें माथा ढालुआँ है और पीछा खड़ा। इन जहाजों में केवल एक मस्तूल है। इनमें पतवार नहीं दिखलाई गई है। एक जहाज[1] पर खलासियों में से कुछ पाल उतार रहे हैं और दूसरे मछलियाँ मार रहे हैं (आ० २२)। दूसरा जहाज[2] बहुत टूट-फूट गया है। इसमें एक मस्तूल है जिसमें चौखूटी पाल बँधी हुई है। पाल के निचले गज पर एक नाविक चढ़ा हुआ है। एक दूसरे जहाज[3] पर एक डूबता हुआ मनुष्य ऊपर खींचा जा रहा है, इस जहाज की बनावट दूसरे जहाजों से भिन्न है (आ० २३)। इसके पीछे पर एक गैलरी है जिसपर एक मनुष्य खड़ा है। शायद यह पतवारिया हो। जहाज के माथे पर भी एक गैलरी है। मस्तूल पर एक चौखूटी पाल है जो जहाज के पीछे और आगे से रस्सियों से तनी है।

श्री फान एर्प की राय है कि इनमें से बड़े जहाज समुद्र में चलते थे। इन जहाजों में हिन्दू-प्रभाव स्पष्ट है; पर शायद जुड़े मस्तूलों में हम हिंद-एशिया का प्रभाव देख सकते हैं।

२

प्राचीन भारतीय कला में स्थलयात्रा-सम्बन्धी दृश्यों के भी बहुत कम चित्रण हुए हैं। अधिकतर इन चित्रों में तत्कालीन नागरिक सभ्यता को ही ध्यान में रखकर चित्रकार और मूर्तिकार आगे बढ़े हैं। यदि हम शहर के ठाटबाट को जानना चाहें तो प्राचीन भारतीय कला में बहुत मसाला है। हम उसमें सजे हुए रथ, घोड़े और हाथी तथा विमानों के अनेक चित्र पाते हैं; पर जहाँ तक सार्थ का सम्बन्ध है, उसमें बहुत कम ऐसे दृश्य हैं जिनसे प्राचीन भारतीयों के यात्रा और उसके उपादानों पर प्रकाश पड़ता हो। जैसा हमें पता है, भारत में बहुत प्राचीनकाल से बैलगाड़ियों द्वारा यात्रा होती थी और इसके कहीं-कहीं चित्र प्राचीन भारतीय कला में बच गये हैं। भरहुत में[4] एक जगह एक बैलगाड़ी दिखलाई गई है जिसकी बनावट बिलकुल आधुनिक सग्गड़ की तरह है। भरहुत[5] में एक दूसरी जगह एक गद्दीदार चौखूटी बैलगाड़ी दिखलाई गई है जिसमें दो पहिए हैं और जिसका खड़ा पीठक लकड़ी का बना है (आ० २४)। गाड़ी से बैल खोल दिये गये हैं और वे जमीन पर विश्राम कर रहे हैं। बैलगाड़ी हाँकनेवाला अथवा व्यापारी पीछे बाईं ओर बैठा है। डा० बरुआ की राय है कि इस दृश्य में वरणुजातक अंकित है जिसमें बोधिसत्त्व सार्थ के साथ एक रेगिस्तान में अपना रास्ता भूल गये; लेकिन चतुराई के कारण सकुशल वे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये।

---

१. वही, आई० बी० २१

२. वही, आई० बी० ५४

३. वही, आई० बी० पृ० ११३

४. बरुआ, भरहुत, प्ले० xlv

५. वही, प्ले० lxix, आ० ८६

साँची के अर्धचित्रों से पता लगता है कि कभी-कभी व्यापारी खूब सजे-सजाये बैलों पर भी यात्रा करते थे।[१] हमें प्राचीन साहित्य से इस बात का पता नहीं चलता कि सिवा सेना को छोड़कर लम्बी यात्राओं के लिए घोड़े काम में लाये जाते थे अथवा नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि पास की यात्राओं में लोग खूब सजे-सजाए घोड़ों पर यात्रा करते थे। ऐसे घोड़ों के चित्र साँची में बहुत बार आये हैं।[२] हमें यह भी पता है कि प्राचीन भारत में हाथियों की सवारी लोगों में बहुत प्रचलित थी। सेना के तो हाथी एक अंग होते ही थे, पर राजाओं की दूर की यात्रा में वे बराबर उनके संग चला करते थे। पर जहाँ तक हमें पता है, शायद उन हाथियों का उपयोग व्यापार अथवा लंबी यात्राओं के लिए कभी नहीं होता था। सवारी और माल की ढुलाई में ऊँटों का उपयोग बहुत दिनों से होता था। सांची में एक ऊँट-सवार का चित्रण हुआ है।[३]

भरहुत के अर्धचित्रों में कई जगह माल रखने और दुकान-दौरी के चित्रण हुए हैं। एक जगह माल भरने के दो बड़े गोदाम और अन्न भरने के लिए एक बड़े भारी कोठार का चित्रण हुआ है[४] (आ० २५)। डा० बरुआ इस दृश्य की पहचान गहपति जातक (नं० १९९) से करते हैं जिसके अनुसार बोधिसत्त्व ने एक बार अपनी स्त्री को गाँव के महतो के साथ देखा। पर वह चतुर स्त्री उनको देखते ही फौरन कोठार में घुस गई और वहाँ से यह दिखलाने का नाट्य करने लगी कि वह उस महतो को माँस के बदले में धान्य दे रही थी।

एक दूसरी जगह भरहुत[५] में एक बाजार का दृश्य है (आ० २६) जिसमें तीन घर दिखलाये गये हैं। एक व्यापारी एक बर्तन से कोई चीज खरीदार के हाथ की थाली में उलट रहा है। दाहिनी ओर एक मजदूर है जिसके सामने दो मेटियोंवाली एक बहँगी पड़ी है।

भरहुत में एक दूसरी जगह[६] भी एक दूकान का दृश्य है। अर्धचित्र के दाहिनी ओर दो व्यापारी हैं जिनके दोनों ओर शायद दो कपड़े की गोठें हैं और सामने जमीन पर केलों का ढेर लगा हुआ है। बाईं ओर टोपियाँ पहने हुए दो व्यापारी हैं जो शायद आपस में माल का दाम तय कर रहे हैं (आ० २७)।

मथुरा के अर्धचित्रों में भी कभी-कभी तत्कालीन गाड़ियों के चित्र आ जाते हैं। साधारण माल ढोने के लिये एक जगह मामूली-सी बैलगाड़ी दिखलाई गई है जिसके हाँकनेवाले और बैल जमीन पर बैठे हैं (आ० २८)। चढ़ने के लिए अच्छे बैलोंवाले शिकरम काम में आते थे[७] (आ० २९)। इस शिकरम के गाड़ीवान के बैठने की जगह आजकल के शिकरम की तरह जोत पर होती थी। बैलों की दुम जोत की रस्सियों में बँधी है।

मथुरा में एक दूसरी जगह[८] दो पहियोंवाली एक खुली घोड़ागाड़ी का चित्रण हुआ है

---

१. मार्शल, साँची, भा० २, प्लें० xx(b)

२. वही, XXXI

३. वही, भा० २, प्लें० lxxvi, ६१ सी०

४. भरहुत, प्लें० lxxvi, आकार, १०२

५ भरहुत वही, प्लें० XCV, आकृति १४३

६ वही, प्लें० XCV, आ० १४४

७ विन्सेन्ट स्मिथ, दी जैन स्तूप ऑफ मथुरा, प्लें० १४, इलाहाबाद, १९०१

८ वही, प्लें० XX

उस गाड़ी पर तीन आदमी बैठे हुए हैं; पर शिकरम की ही तरह कोचवान जोत पर बैठा दिखलाया गया है (आ० ३०)।

अमरावती के अर्धचित्रों से पता लगता है कि दक्षिणभारत में ईसा की आरंभिक सदियों में एक हलकी बैलगाड़ी माल ढोने और सवारी के काम में आती थी[1] (आ० ३१)।

शायद राजकर्मचारियों और जल्दी यात्रा करनेवालों के लिए शिविकाएँ होती थीं। अमरावती के अर्धचित्रों में दो तरह की शिविकाओं का चित्रण हुआ है।[2] इनमें एक शिविका एक छोटे मंडप की तरह है। इसकी छत काफी अलंकारिक है और इसके चारों ओर बाड़ हैं (आ० ३२)। शिविका में दोनों ओर उठाने के बाँस लगे हुए हैं। दूसरी शिविका (आ० ३३) तो एक घर की तरह ही देख पड़ती है। इसमें नालदार छत और खिड़कियाँ हैं और भीतर बैठने के लिए आरामदेह गद्दियाँ लगी हुई हैं। यह कहना संभव नहीं है कि इस तरह के ठाटदार विमान दूर की यात्राओं में चलते थे अथवा नहीं। कम-से-कम व्यापारी तो इस तरह की सवारियों पर नहीं चलते थे।

गोली के बौद्धस्तूप से मिले हुए अर्धचित्रों में[3] जो बैलगाड़ियों का चित्रण हुआ है वे काफी सजी-सजाई मालूम पड़ती हैं (आ० ३४)। इनका नक्शा चौखूटा है और इनकी बगलें बेंत से बुनी मालूम पड़ती हैं। बैलगाड़ी की छत भी खूब सजी है और उसके खुले सिरे पर परदा लगा हुआ है जो उठाकर छत पर डाल दिया गया है। गाड़ीवान गाड़ी के जोत पर बैठा है।

हम ऊपर के अध्यायों में कई बार देख आये हैं कि अक्सर समुद्री व्यापारी जब इस देश में उतरते थे अथवा यहाँ से जाते थे तब वे राजा से मिल लेते थे और उसे उपहार देकर प्रसन्न कर लेते थे। विदेशी व्यापारियों से राजा की भेंट का एक ऐसा ही दृश्य अमरावती और अजंटा के अर्धचित्रों में आया है।[4] अमरावती में यह प्रकरण वेस्सन्तरजातक के सम्बन्ध में है जहाँ राजा बन्धुम को उपहार मिल रहा है। इस दृश्य में राजा सिंहासन पर बैठा हुआ है और उसे दो चामरग्राहिणियाँ और एक पंखेवाली घेरे हुए हैं। राजा के बाईं ओर राजमहिषी भी परिचारिकाओं से घिरी हुई बैठी है। चित्र की अग्रभूमि में कुर्ते, पाजामे, कमरबंद और बूट पहने हुए विदेशी व्यापारी फर्श पर घुटने टेककर राजा को भेंट दे रहे हैं। उनके दल का नेता राजा को एक मोती का हार भेंट दे रहा है (आ० ३५)।

इसी तरह का एक दृश्य अजंटा के भित्तिचित्र में आया है जिसकी पहचान लोग अबतक पुलकेशिन् द्वितीय के दरबार में ईरान के बादशाह खुसरो के प्रतिनिधिवर्ग से करते रहे हैं[5]। इस दृश्य में एक विदेशी व्यापारियों का दल राजदरबार के फाटक पर देख पड़ता है। इसमें के

---

१ शिवराम मूर्त्ति, अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूजियम, प्ले० X, आ० १९ मद्रास १९४२

२ वही, प्ले० X, आ० २०-२१

३ टी० एन० रामचंद्रन्, बुधिस्ट स्कल्पचर्स फ्रॉम ए स्तूप नियर गोली विलेज, गुन्टूर, प्ले० V, b,c,d, मद्रास, १९२९

४ शिवराम मूर्ति, वही प्ले० xx(b), ६, पृ० ६४-६५

५ याजदानी, अजंटा, भा० १ पृ० ४६-४७

दो व्यापारी भीतर घुस आये हैं और उनके हाथों में सौगात की चीजें हैं। राजदरबार मुसाहिबों और उच्च पदस्थ कर्मचारियों से भरा है जिनमें तीन विदेशी भी दिखलाई देते हैं। राजा एक सिंहासन पर बैठा है और उसके पीछे चामरग्राहिणियाँ और दूसरे दास-दासी खड़े हैं। ये विदेशी ऊँची टोपियाँ, अँगरखे, पाजामे और बूट पहने हुए हैं। उनमें से एक के हाथ में गहनों की रकाबी है। उनकी पोशाक से यह पता लगता है कि शायद वे पश्चिमी एशिया के रहनेवाले स्याम के व्यापारी थे।[1]

पाँचवीं और छठी सदियों में शामी और ईरानी व्यापारियों के आगमन का पता हमें दण्डी के दशकुमारचरित के दो उल्लेखों से चलता है[2]। तृतीय उच्छ्वास में खनति नामक एक यवन व्यापारी से एक बहुमूल्य हीरा ठगने का उल्लेख है। श्री गणेश जानार्दन आगाशे का अनुमान है कि खनति शब्द शायद तुर्की खान शब्द का रूप है। दशकुमारचरित के दक्षिणी पाठ में खनति की जगह असमीति पाठ है जो प्रो० आगाशे के मत से शायद फारसी शब्द आसफ का रूप है। पर खान शब्द ईरानी साहित्य में तुर्की से मंगोल-युग में आया। इसके मानी यह हुए कि दशकुमारचरित बहुत बाद का है। पर प्रायः सब विद्वान एकमत हैं कि दशकुमारचरित का समय ईसा की पाँचवीं-छठीं सदी है। खनति शब्द शायद ईरानी धातु 'कन्दन' जिसके अर्थ खोदने के होते हैं, निकला है। इस शब्द की प्राचीनता की जाँच आवश्यक है। बहुत संभव है, खनति ससानी युग का एक व्यापारी था जो ईसा की पाँचवीं-छठी सदी में रत्नों के व्यापार के लिए भारत आता था। यवन शब्द का तो ईसा की आरंभिक सदियों के बाद भारतीय साहित्य में विदेशियों के लिए जिनमें ईरानी, अरब, शामी, यूनानी इत्यादि आ जाते थे, व्यवहार होने लगा था।

एक दूसरे यवन व्यापारी का उल्लेख दशकुमारचरित के छठे उच्छ्वास में आया है।[3] कहानी यह है कि भीमधन्वा की आज्ञा से मित्रगुप्त ताम्रलिप्ति के पास समुद्र में फेंक दिया गया। सबेरे उसे यवनों का जहाज देख पड़ा और यवन नाविकों ने उसे डूबने से बचाया। वे उसे अपने कप्तान (नाविक-नायक) रामेषु के पास ले गये। उन्होंने समझा—चलो, एक अच्छा मजबूत दास मिला जो जरा देर में ही उनकी सैकड़ों अंगूर की बेलें सींच देगा। इसी बीच में बहुत-सी नावों से घिरे एक जंगी जहाज (मद्गु) ने यवनों के जहाज को घेर लिया और तेजी के साथ धावा बोल दिया। बेचारे यवन हारने लगे। यह देखकर मित्रगुप्त ने यवनों से उसके बंधन खोल देने को कहा। बंधन खुलते ही वह शत्रु दल पर टूट पड़ा और उन्हें परास्त कर दिया। बाद में उसे पता चला कि उस जंगी जहाज का मालिक भीमधन्वा था। यवन नाविकों ने उसे बाँध कर खूब खुशियाँ मनाईं।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यवन नाविक-नायक रामेषु किस देश का बसनेवाला था। अंगूर की लताओं के उल्लेख से श्री आगाशे का अनुमान है कि शायद वह ईरानी रहा हो। पर वे रामेषु शब्द की फारसी अथवा अरबी से व्युत्पत्ति निकालने में असफल रहे। ईरानी और

---

१ जे० आर्इ० एस० ओ० ए०, भाग १२, १९४४, पृ० ७४ से

२ दंडी, दशकुमारचरित, श्रीगणेश जनार्दन आगाशे द्वारा संपादित, भूमिका पृ० xliv-xlv ; पाठ पृ० ७७, लाइन १८

३. वही, भूमिका पृ० XIV, पाठ पृ० १०६–१०७

मध्यपूर्व एशिया की भाषाओं के प्रसिद्ध विद्वान डा० उनवाला ने मुझे यह सूचना दी है कि रामेषु नाम निश्चयपूर्वक शामी भाषा का है जिसका अर्थ होता है राम अर्थात् सुंदर और ईषु अर्थात् ईसा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शाम के ईसाई व्यापारी भारत में व्यापार करने आते थे। रामेषु की शामी नस्लियत से इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि वंधुमवाले दृश्य में आनेवाले विदेशी व्यापारी शामी थे।

अजंटा के भित्तिचित्रों से भी यदा, कदा हमें उस समय के बाजार और गाड़ियों के चित्र मिल जाते हैं। वेस्सन्तरजातक में जब राजा वेस्सन्तर देश-निकाला पाकर नगर से निकल रहा है उस समय नगर की दूकानों और यात्रा की सवारियों के कुछ अंकन हुए हैं। जिस गाड़ी पर राजा, उसकी स्त्री तथा बच्चे सवार हैं उसका नक्शा समकोण है और उसमें चार घोड़े जुते हुए हैं, उसके आगे और पीछे चौखट हैं जो शायद गाड़ी ढाँकने के लिए व्यवहार में लाये जाते रहे होंगे। गाड़ी के अंदर गद्दियाँ लगी हुई हैं (आ० ३६)[1]।

बाजार में दाहिनी ओर तीन दूकाने हैं जिनमें दूकानदार अपने काम में व्यस्त हैं। उनमें से एक दूकानदार जिसके सामने दो घड़े पड़े हुए हैं, राजा को प्रणाम कर रहा है। दूसरा तेल निकालकर एक प्याले में भर रहा है। तीसरे दूकानदार जिसके आस-पास बहुत-सी थालियाँ और छोटे घड़े पड़े हैं, वह स्वयं कोई चीज तौल रहा है बहुत संभव है कि यह दूकानदार कदाचित् जौहरी अथवा गन्धी हो (आ० ३७)।

अजंटा की सत्रहवीं गुफा में [2] एक खुली गाड़ी दिखलाई गई है जिसके चारों ओर बाढ़ लगी हुई है (आ० ३८)।

उपर्युक्त विवरण से हमें पता चलता है कि यात्रा की सवारियों में बहुत दिनों तक कोई विशेष अदल-बदल नहीं हुई। सातवीं सदी के बाद यात्राओं में किस तरह की सवारियाँ चलती थीं इनका पता हमें रूढ़िगत अर्धचित्रों से कम मिलता है। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि उन सवारियों में प्राचीन सवारियों से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा होगा।

---

१. लेडी हेरिंगम, अजंटा, प्लेट XXIV, २६

२. वही, प्लेट VIII, आ० १०
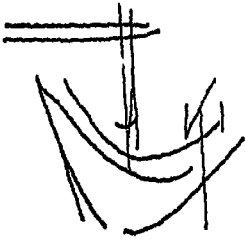
१. जहाज की आकृति मोहेनजोदड़ो, सिंध, करीब ई० पू० २५००
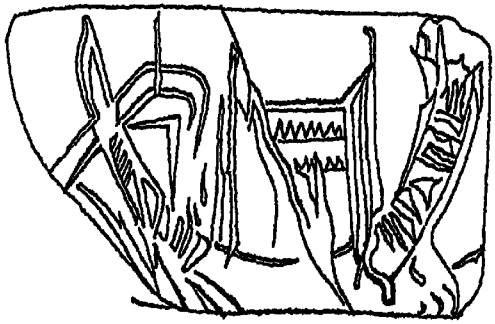
२. जहाज की आकृति, मोहेनजोदड़ो, सिंध, करीब, ई० पू० २५००

ख
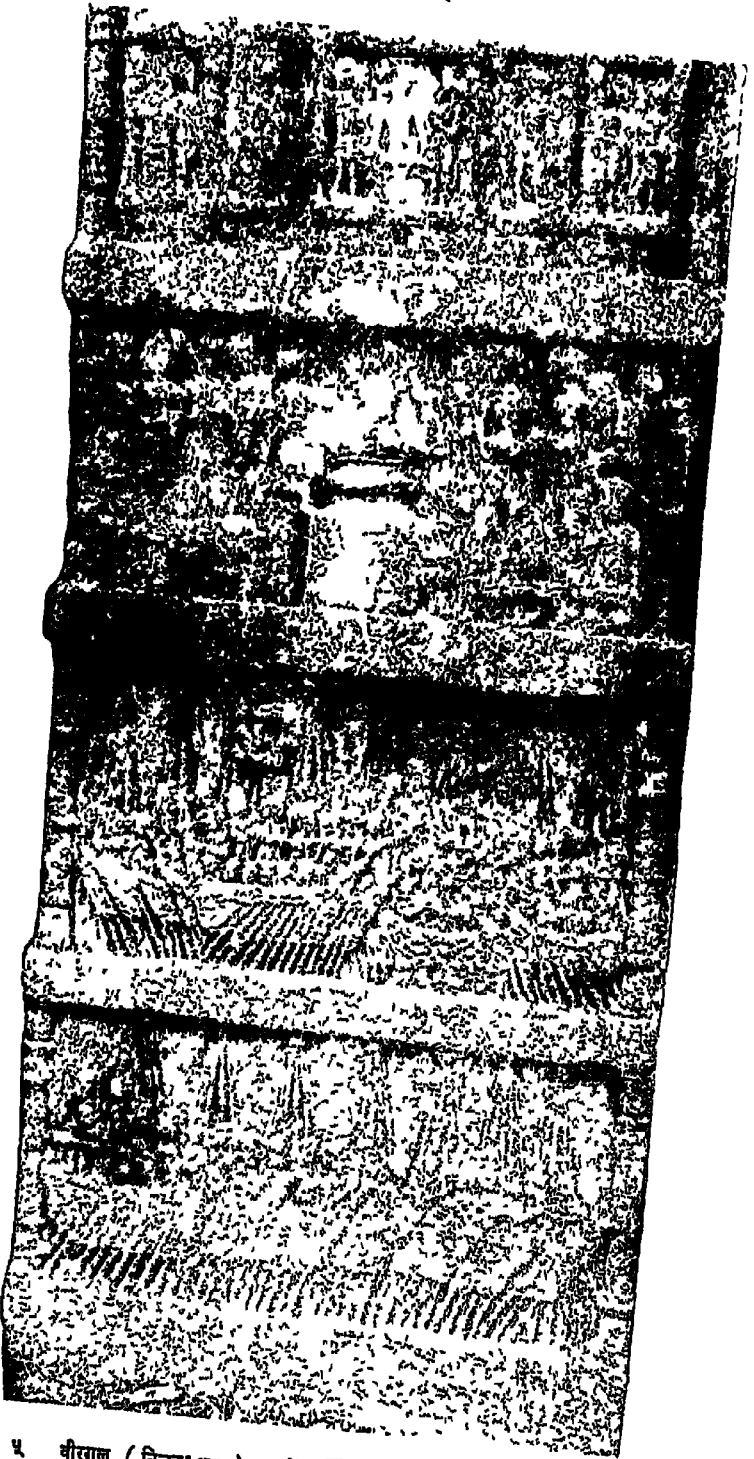
क

ग

घ

ङ

३. सातवाहन सिक्कों पर जहाज, ईसवी सदी

४. भारत लक्ष्मी
बेग्रॉम, ईसवी २-३ सदी

५ वीरगल (निचला भाग) जहाजों की लड़ाई, एक्सर (ठाणा), १२वीं सदी का आरंभ
आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ् इंडिया की कृपा से
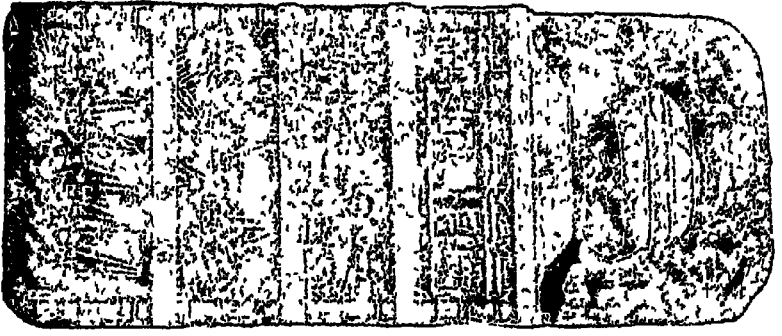
५. (अ) वीरगल जहाजों की लड़ाई, एक्सर (ठाणा), १२वीं सदी का आरंभ। आर्कियॉलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया की कृपासे।
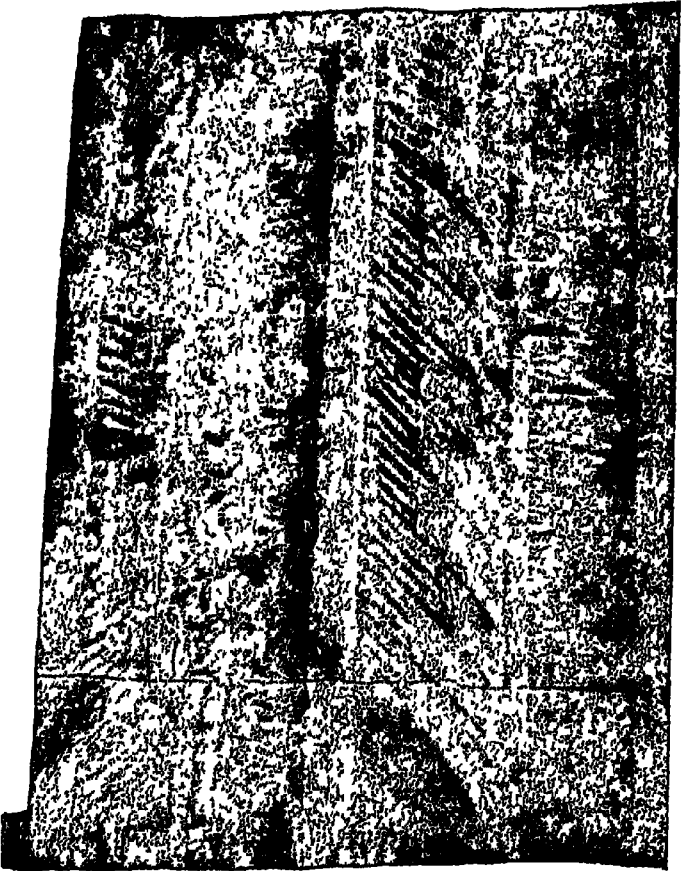
६. आ० ५ के निचले भाग का विस्तार।
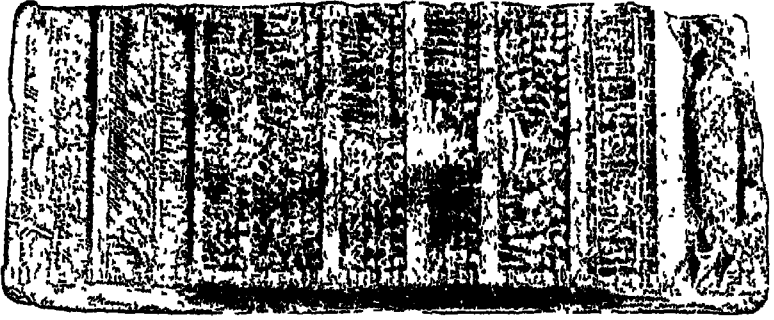
७. [illegible]
वीरगल
जहाजों की लड़ाई,
राक्सर, थाना।
१२वीं सदी का
आरंभ।
आर्किऑलॉजिकल
सर्वे आफ् इंडिया
की कृपा से
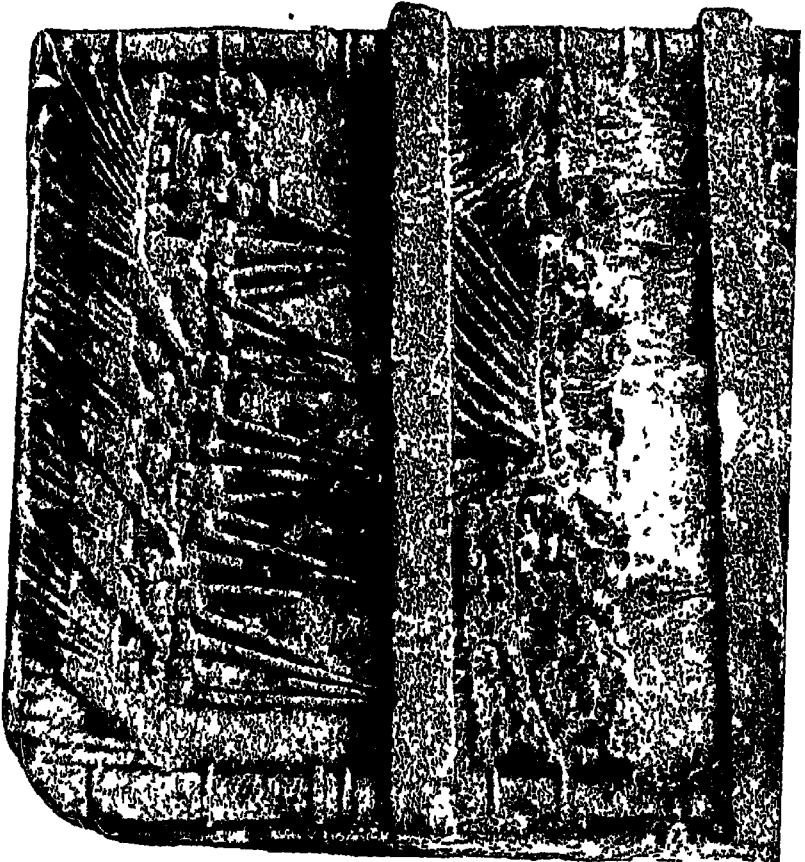
८ आ० ७ के निचले भाग का विस्तार
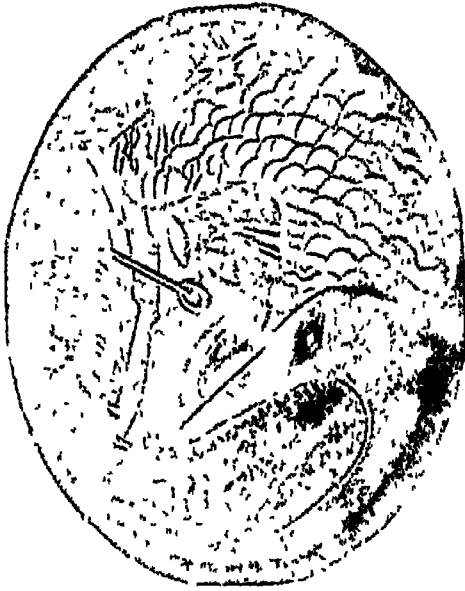
९ जहाज पर तिमिङ्गल का आक्रमण, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी

१० सिले तख्तोंवाली नाव, साँची, ई० पू० पहली सदी
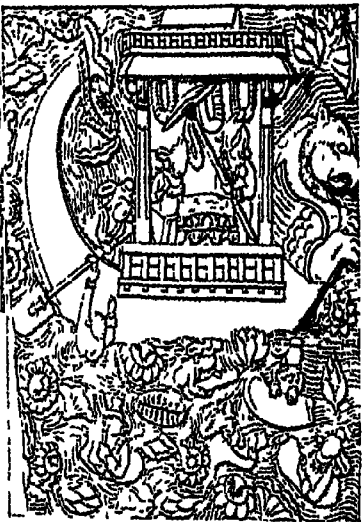
११. शार्दूल के आकार की नाव, साँची, ई० पू० पहली सदी
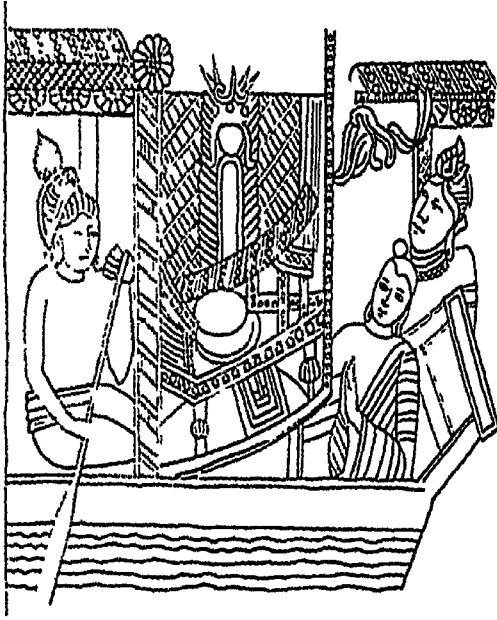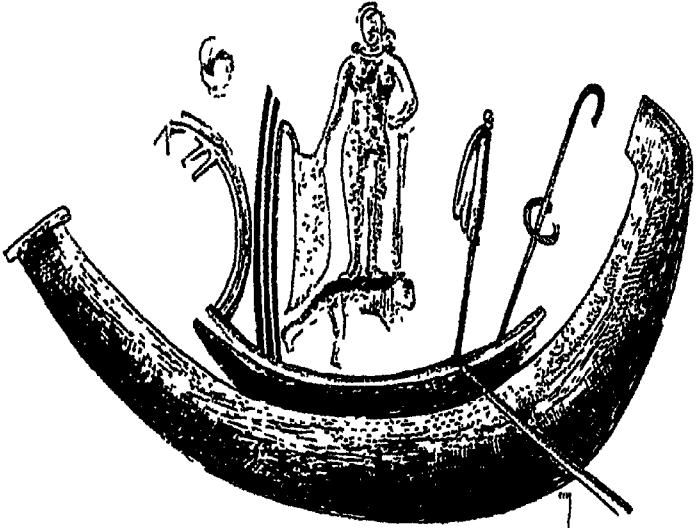
१२. [illegible] हुआ जहाज, अमरावती ईसवी दूसरी सदी

१३. जहाज पर श्री लक्ष्मी, वैसाली-गुप्तयुग, ईसवी ५वीं सदी

१४ (अ) जहाज, अजटा, ईसवी ५वीं सदी

१४ (ब) जहाज, अजटा, ईसवी ५वी सदी
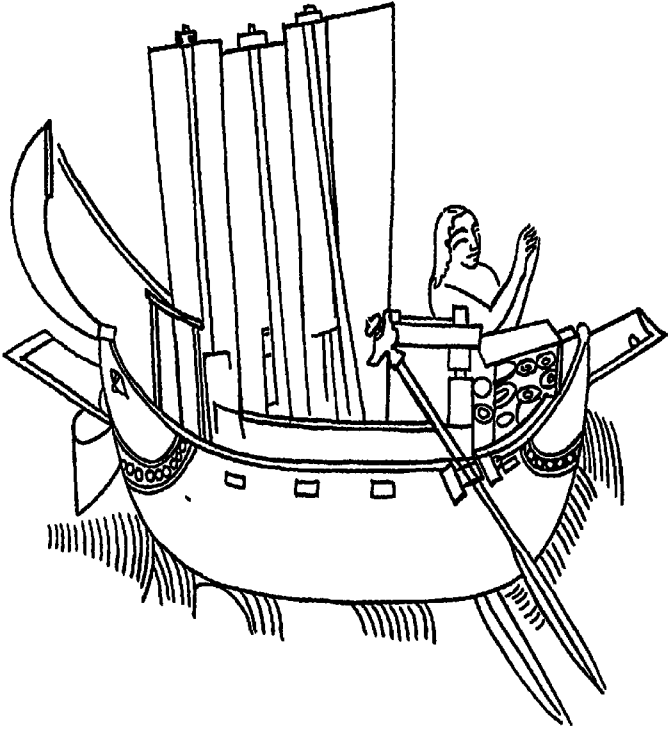
१५. पूर्णावदान में जहाज का चित्रण, अजंटा, ईसवी छठी सदी

१६ नदीपर चलने वाली नाव, अजंटा, ईसवी छठी सदी
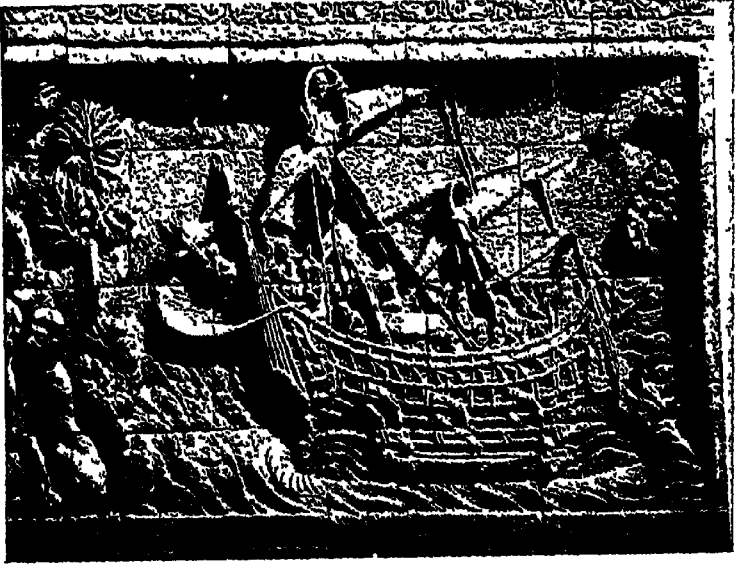
१७. जहाज खलासियों सहित, बाराबुडूर, ईसवी ८वीं सदी
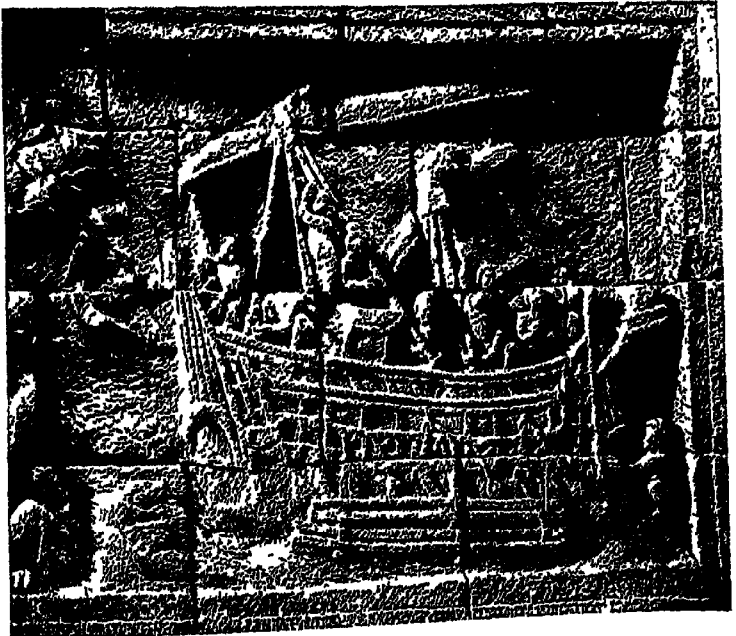
१८. खलासियों सहित जहाज, बारावुडूर, ईसवी ८वीं सदी

१६, जहाज और एक नाव, बाराबुदूर ई० ८वीं सदी

२०, जहाज, बाराबुदूर ईसवी ८वी सदी

२१. जहाज जिसके मस्तक पर सीढ़ी से एक खलासी चढ़ रहा है, बारबुडूर, ई० ८वीं सदी

२२. पालदार जहाज, बारबुडूर, ईसवी ८वीं सदी
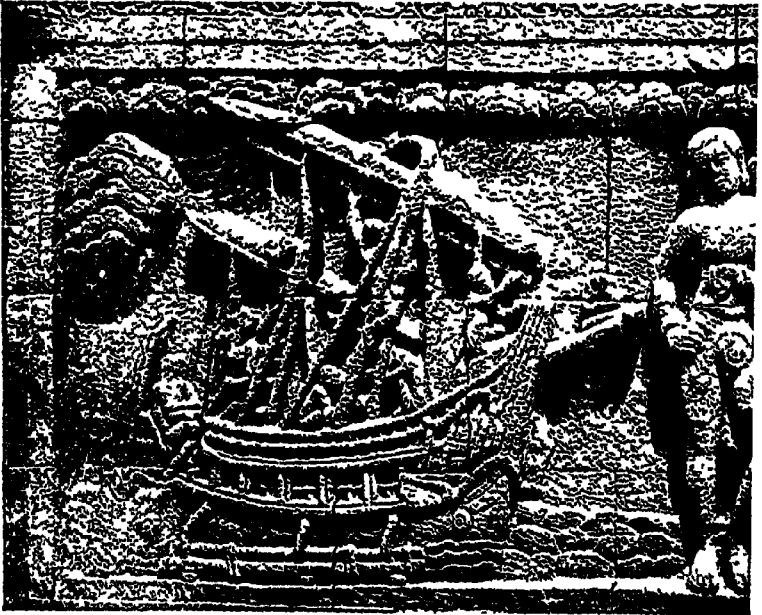
२३. एक डूबते हुए आदमी का उद्धार करता हुआ जहाज, बाराबुदूर, ईसवी ८वीं सदी

२४ बैलगाड़ी, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी

२५. कोठार, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी
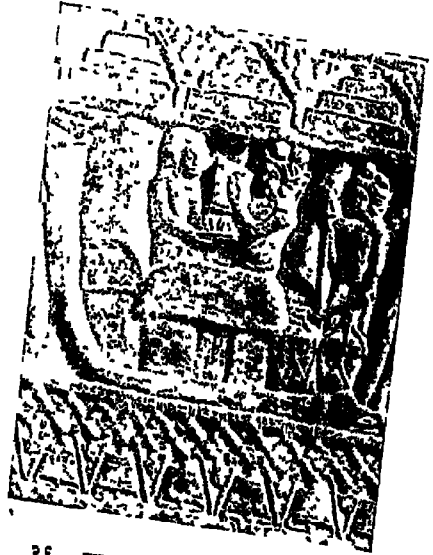
२६ बाजार, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी

२७ एक दूकान, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी
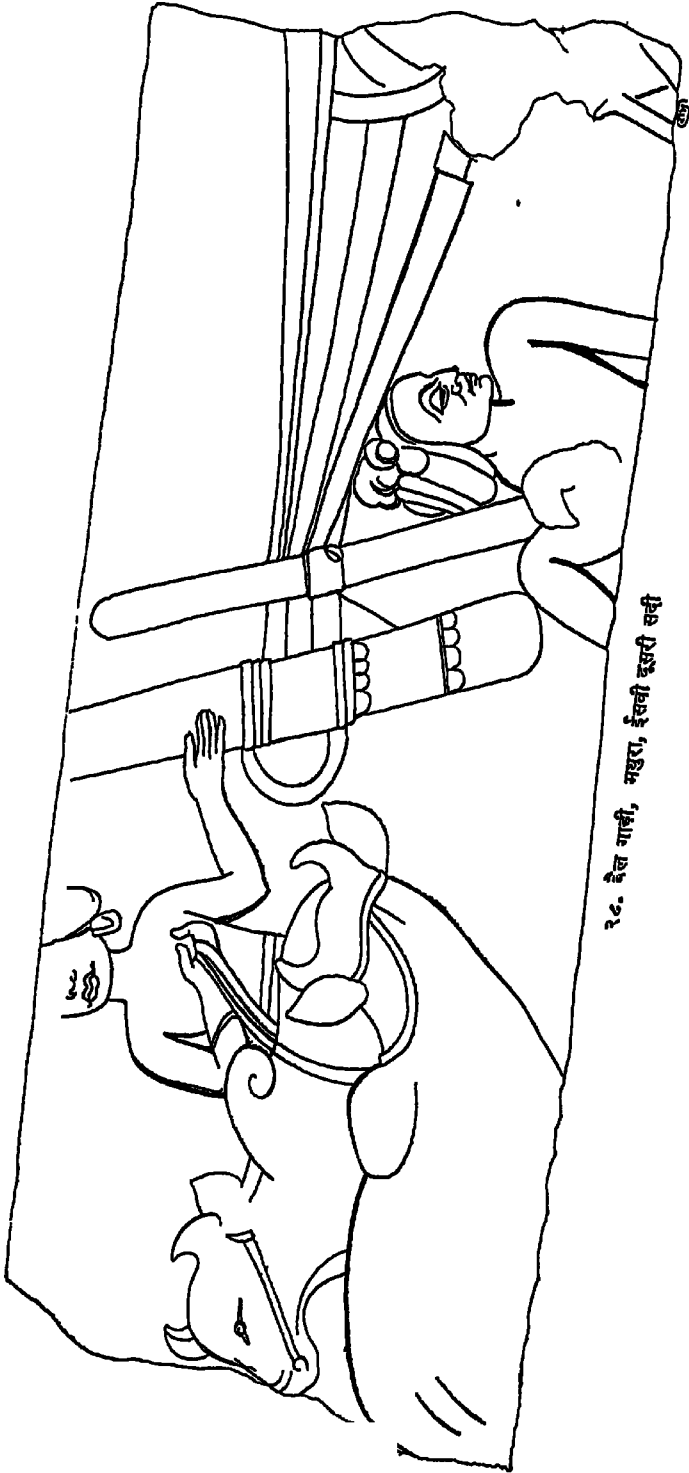
२८. बैल गाड़ी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी
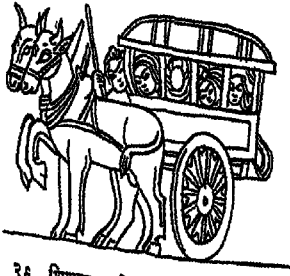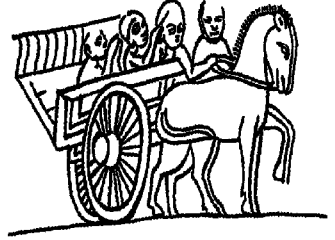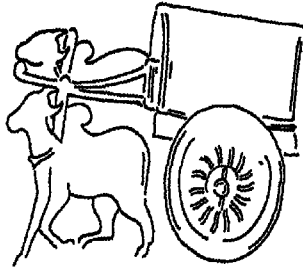
२६. शिकरम गाडी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी

३०. घोड़ागाडी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी

३१. बैलगाड़ी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी
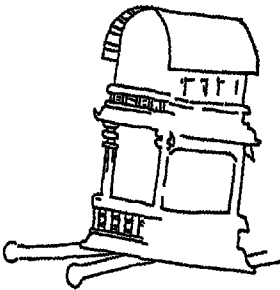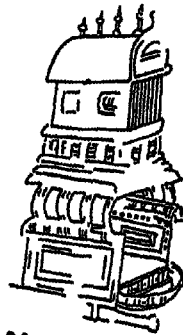
३२. शिबिका, अमरावती, ईसवी दूसरी सदी

३३. शिबिका, अमरावती, ई० दूसरी सदी
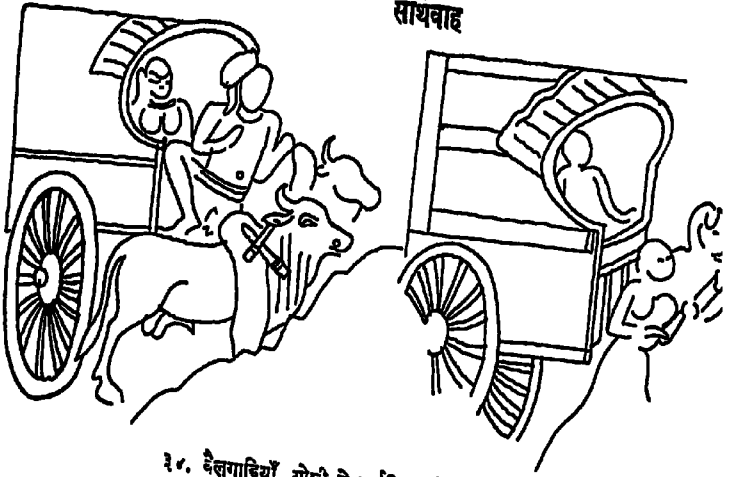
३४. बैलगाड़ियाँ, गोष्ठी के अर्धचित्र. ईसवी दूसरी सदी

३५ वन्नुप जातक का एक दृश्य, अमरावती, ई० दूसरी सदी, राजा को व्यापारी भेंट देरहे हे ।

३६. गाड़ीपर सवार विश्वन्तर, अजंटा. ६ठी सदी

३७ दुकानदार, अजंटा छठी सदी

३०. खुली गाड़ी, अजंटा, छठी सदी

अनुक्रमणिका

घ

च

थ

द

भ

य

क्ष

ज्ञ

शुद्धि-पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
५,	२०	बर्न्स	बर्न्‌स
८,	१२	खिन्ध	सिन्ध
११,	२४	।	निकाल दीजिये
१५, फु० नो० १		टेसु	टेक्सट्स
१६,	२१	डेरजा	वेरंजा
१६,	२२	वारी	बाढ़ी
१८,	१६	मच्छिकादंड	मच्छिकासंड
१९,	२४	म्भोव	भोव
१९,	३१	अरंगदाव	अरगंदाब
२०,	४	रवावक	रवानक
२०,	२२	स्थानेश्वर	स्थाण्वीश्वर
२०,	२६	संकीश	संकीसा
२२,	६	गौरवन्द	गोरवन्द
२४,	१७	आलक	अलक
२५,	८	अजिएट	अजिएठा
२६,	१८	सीकरी	सीपरी
२६,	२७	वेनगुरला	वेनगुरला
२६,	३०	कोचीन, चाइना	कोचीन-चाइना
३०,	२४	छाप, मुद्रा	छाप-मुद्रा
३१,	२७	हिरी	हरी
३८,	२९	माधव	माथव
४०,	७	घूते	घूमते
४४,	२०	पिप्पी	पिप्पली
४६,	११	अफात	अफ्रात
४७,	२६	वूलियों	बुलियों
४७,	२६	अल्लकाप्प	अल्लकप्प
४७,	३१	वूलियों	बुलियों
४९,	५	गगा	गंगा
४९,	१८	पचाल	पंचाल
५२,	१	नहर	शहर

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
५२,	१०	नदावर	नदारद
५९,	११	म्लेछ	म्लेच्छ
६२,	१७	सोवीर	सौवीर
६२,	२५	बलभामुख	वलभामुख
६६,	१९	सुमेरु	सुमेर
६८,	९	नीर	तीर
६९,	१०	पल्लव	पह्लव
६९,	२३	असक्नि	असिक्नी
७०,	२	ब्यास	व्याय
७०,	३	म्लेछ	म्लेच्छ
७०,	१९	सतवाद	सतगद
७०,	२६	अरदन्दाव	अरगन्दाब
७१,	१७	लमगान	लगमान
७१,	२८	लमगान	लगमान
७३, फु० नो० १		स्त्रावो	स्त्राबो
७४,	१९	अन्तिओक	अन्तिओख
७६,	६	सांडिल्ल	संडिल्ल
७६,	१८	सूरसेन	शूरसेन
७६,	१८	अंग	भंग
८२,	१४	कमियात	कमिराग
८७,	१	औ	और
८७,	१०	सुरुचि	सुचिरि
८८,	४	कंबोज,	कंबोज
९१,	३१	इडिका	इंडिका
९२,	१	टल्मी	टाल्मी
९२,	२६	मित्रदाता	मित्रदात
९२,	२७	पह्ल	पह्लव
९२,	२८	गाति	गति
९२,	२९	गोवी	गोबी
९५,	३१	कदाफिस	कदफिस
९५,	३६	बोनोनेज	वोनोनेज
९६,	२२	कडु लोर	कड्लोर
९९,	२५	प्रे०	प्रा०
१०१,	९	कृष्ण	कृष्णा
१०१,	२२	नग्ल	नग्ल
१०५,	३२	घरवाँ	बर्वाँ

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१०६,	१८	मुजरिस	मुजिरिस
१०६,	२६	Satımoundon	Sımoundon
१०७,	११	वेल्लार	वेल्लारी
१०७,	१२	इरैयूर	उरैयूर
१०७,	१६	वंजी	वंजी
१०७,	३६	मघो	मघों
१०६,	७	आर्मोनी	आर्मीनी
११०,	७	स्वात	स्वात
११०, फु० नो १		वार्मिगटन	वार्मिंगटन
११२,	३२	मलावा	मसावा
११४,	६	जजीवार	जंजीवार
११५,	७	मोज्जा	मोजा
११८,	१	सेसिर्सकिएनी	सेसेक्रिनी
११६,	५	कोरकके	कोरके
११६,	२१	सुवर्णद्वीपी	सुवर्णद्वीप
१२०,	६	ताम्रोवेन	ताम्रोवेन
१११,	८	अत्तुसी	अत्तुमी
१२१,	१६	पोडुचे	पोडुके
१२३,	१६	कड्डलोर	कड्डलोर
१२३,	१७	कराटकोस्सूल	कराटकोस्सूल
१२४,	६	इराडकोम्रायस्टस	इरिड कोम्रायस्टस
१२४,	३५	सैंडोवे '	सैंडोवे
१२६,	२८	वेनीपर	वेनीयर
१२७,	११	ची । उ	चाउ
१२६,	८	क्राइसाप्रेस	क्राइसोप्रेस
१२६,	३२	किर्मोनि	किर्मीन
१२६,	३५	म्युजिरिस	मुजिरिस
१३०,	७	चूणियाँ	चूर्णियाँ
१३०,	११	गुणाव्या	गुणाव्य
१३०,	२३	सुवरणकूट	सुवरणकूट
१३०,	२४	जवरणुपथ	ज (व) रणु पथ
१३१,	१५	संजाव	संजान
१३१,	२२	रोम	रोमा
१३१,	२७	कस्वे	कस्बे
१३२,	३२	मेरु	ख्मेर
१३३,	१	प्राचीन'	पश्चिम

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१३३,	३	त.शकुरगन	ताशकुरगन
१३४,	१	बेरावाई	वेरावाई
१३४,	१२	ताम्बलिंग	ताम्रलिंग
१३४,	१६	तम्बपर्णी	तम्बपरणी
१३४,	३१	चित्रपुर	चरित्रपुर
१३४,	३२	मालावार	मालाबार
१३५,	१४	शंकुपथ	शकुनि पथ
१३५,	२८	धातमी	धातकी
१३५,	२६	वलिदान	बलिदान
१३७,	१३	वेन्नलता	वेत्रलता
१३६,	२३	जवणु पथ	ज (व) णु पथ
१४०,	५	सिद्घाटक	सिद्घाटक
१४२,	१४	समुद्र	समुद्र
१४३,	३४	मुजीरिस	मुजिरिस
१४३,	३४	मुचीरी	मुचिरी
१४६,	१८	महाकालिकास्त्र	महाकालिकावात
१५१,	११	पावंरी	पावंदी
१५३,	२	(हैरियक)	हैरयिक
१५७,	१४	माक्कलि	माक्कलि
१५६,	१	मच्छीमार	मच्छीमार
१६४,	२२	विहार	विहार
१६५,	६	मंडी	मंडी
१६५,	२७	इंगुर	ईंगुर
१६६,	१३	विहत	विहित
१७१,	२६	भणा	भंभणा
१७६,	२५	तुक्रा	तुर्को
१७७,	५	साम्रो-क्यू-त	त्साम्रो-किङ-त्स
१७७,	६	नाडूर	नावर
१७७,	६	लोएर	लोगर
१७६,	३६	आचारपात्रस्थिति	आचारस्थितिपात्र
१८०,	१३	भिल्ल	भिल्ल
१८३,	३५	श्रीनिजय	श्रीविजय
१८३,	३६	की	श्री
१८४,	१६	मालावार	मालाबार
१८४,	१७	पौडुपतन	पोडु
१८७,	११	ईरावदी	इरावदी

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१८७,	११	यूनान	युत्रान
१८८,	१	तुका	तुर्कों
१८८,	७	बर्खों	बर्खों
१८८,	१७	के	का
१९३,	१	मुरगाव	मुरगाब
१९३,	१८	हिरात	हेरात
१९५,	३३	गोविन्द	गोविंद
१९५, फु० नो० १		डाडसन	डाबसन
१९८,	३	वलि	बलि
१९८,	७	निबन्धना	निबन्धन
१९८,	२६	वेगहारएय:	वेगहारिएय:
२००,	१५	तराय	तवाय
२००,	३७	मवालिपुरम्	मावालिपुरम्
२०१,	१७	उत्तरापुर	उत्तरापथ
२०२,	४	हिजा	हिज्रा
२०२,	१२	वार	धार
२०३,	२०	सारुफ	मारुफ
२०४,	१०	निकोवार	नीकोबार
२०४,	३१	सईदीव	सरंदीव
२०५,	१८	दीव	दीव
२०५,	२४	वल्लम	वल्लम्
२०८, फु० नो० २		ज्वाओ	चाओ
२०९,	१	विस्तर	विस्तर
२१०,	६	रुन्दवार्व	रुवार्व
२११,	२३	वदर	वद्र
२१८,	१	देव	देव
२२०,	१०	कडारम्	कडारम्
२२०,	३०	अभारी	आभारी
२२२,	१३	सवारों	सवारों
२२५,	३४	वीथियाँ	वीथियाँ
२३०,	७	कैलाश	कैलास
२३०,	२८	(आ० ६)	(आ० ६-७)
२३०,	३६	(आ० ७)	(आ० ८)
२३१,	२	(आ० ८)	निकाल दीजिए
२३१, फु० नो० ६		वीरगणों	वीरगलों

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२३१,	१	करीन	करीब
,,	३	बनिस्वतडूक पर नाम	बनिस्वत डूबकर मरना
,,	४	पृ०	पू०
२३२,	४	चीयज्ञ	यज्ञश्री
२३३, फ़ु० नो० १		बार्शिप	वर्शिप
२३४,	२८	beck-house	deck-house

परिषद्-द्वारा प्रकाशित पाँच महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

लें०—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने हिन्दी के आदि युग का प्रामाणिक इतिहास लिखा है। भाषा और साहित्य के आरम्भिक रूप का अध्ययन करने में यह पुस्तक अपूर्व सहायता देगी। डेढ़ सौ सुमुद्रित पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का दाम ३।) रुपया और अजिल्द का २॥।) रुपया है।

२. यूरोपीय दर्शन

ले०—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

स्व० शर्मा जी की यह अलभ्य पुस्तक बड़ी सजधज से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक १६०५ ई० में प्रकाशित होने के बाद बड़ी दुर्लभ हो गई थी। परिषद् ने एक दार्शनिक विद्वान् से पाण्डित्यपूर्ण भूमिका लिखवा कर पुस्तक को आधुनिक पाठकों के लिए ज्ञानवर्द्धक बनवा दिया है। १६०५ ई० के बाद से आजतक के पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास इसकी भूमिका में दे दिया गया है। दर्शन शास्त्र के स्वाध्यायी विद्वानों के लिए यह एक अमूल्य पुस्तक है। डेढ़ सौ पृष्ठों की सुमुद्रित सजिल्द पुस्तक का दाम ३।)।

३. विश्व-धर्म-दर्शन

ले०—श्री साँवलियाविहारी लाल वर्मा, एडवोकेट

इस पुस्तक में संसार के मुख्य-मुख्य धर्मों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस एक ही पुस्तक को पढ़कर हिन्दी जाननेवाले पाठक भूमण्डल के प्रमुख धर्मों का परिचय पा सकते हैं। इसे लिखने के लिए स्वाध्यायी लेखक ने असंख्य प्रामाणिक पुस्तकों का मनन किया है और उनकी सूची भी पुस्तक के अन्त में दे दी है। सर्व-धर्म-समन्वय और धार्मिक एकता पर लेखक ने विशेष जोर दिया है। और, सप्रमाण दिखलाया है कि सभी धर्मों के मूल तत्त्व एक ही हैं। सात सौ पृष्ठों की सुन्दर छपी हुई सजिल्द पुस्तक का दाम १३॥) रुपया।

४. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने बड़ी ही सरस शैली में बिहार के महाकवि बाणभट्ट के समय की संस्कृति, सभ्यता, राजनीतिक वातावरण, मानव समाज की स्थिति आदि का सजीव चित्रण किया है। रायल अठपेजी आकार के लगभग तीन सौ पृष्ठ; अन्त में अनुक्रमणिका; दो तिरंगे और लगभग एक सौ एकरंगे ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र, असली आर्ट पेपर पर छपे हुए; भव्य आवरण, मूल्य—सजिल्द का ६॥)।

५. सार्थवाह

भारतीय संस्कृति के तत्त्ववेत्ता डॉ० मोतीचन्द्र

इस सचित्र पुस्तक में, विद्याव्यसनी लेखक ने, प्राचीन काल में विदेशों से व्यापार करने की कौन-सी भारतीय पथ-पद्धतियाँ प्रचलित थी, इसका बहुत रोचक और अध्ययनपूर्ण विवरण उपस्थित किया है। भारतीय भाषा में यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। रायल अठपेजी आकार के तीन सौ से अधिक पृष्ठ, इसके अतिरिक्त अनुक्रमणिका और लगभग सौ अलभ्य ऐतिहासिक सुन्दर चित्र। मूल्य सजिल्द ११)

मुद्रक—हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना-४